First Edition 750 Copies

Copies of this book can be had direct from Jaina Samskriti Samrakshaka Sangha, Santosha Bhavan, Phaltan Galli, Sholapur (India)

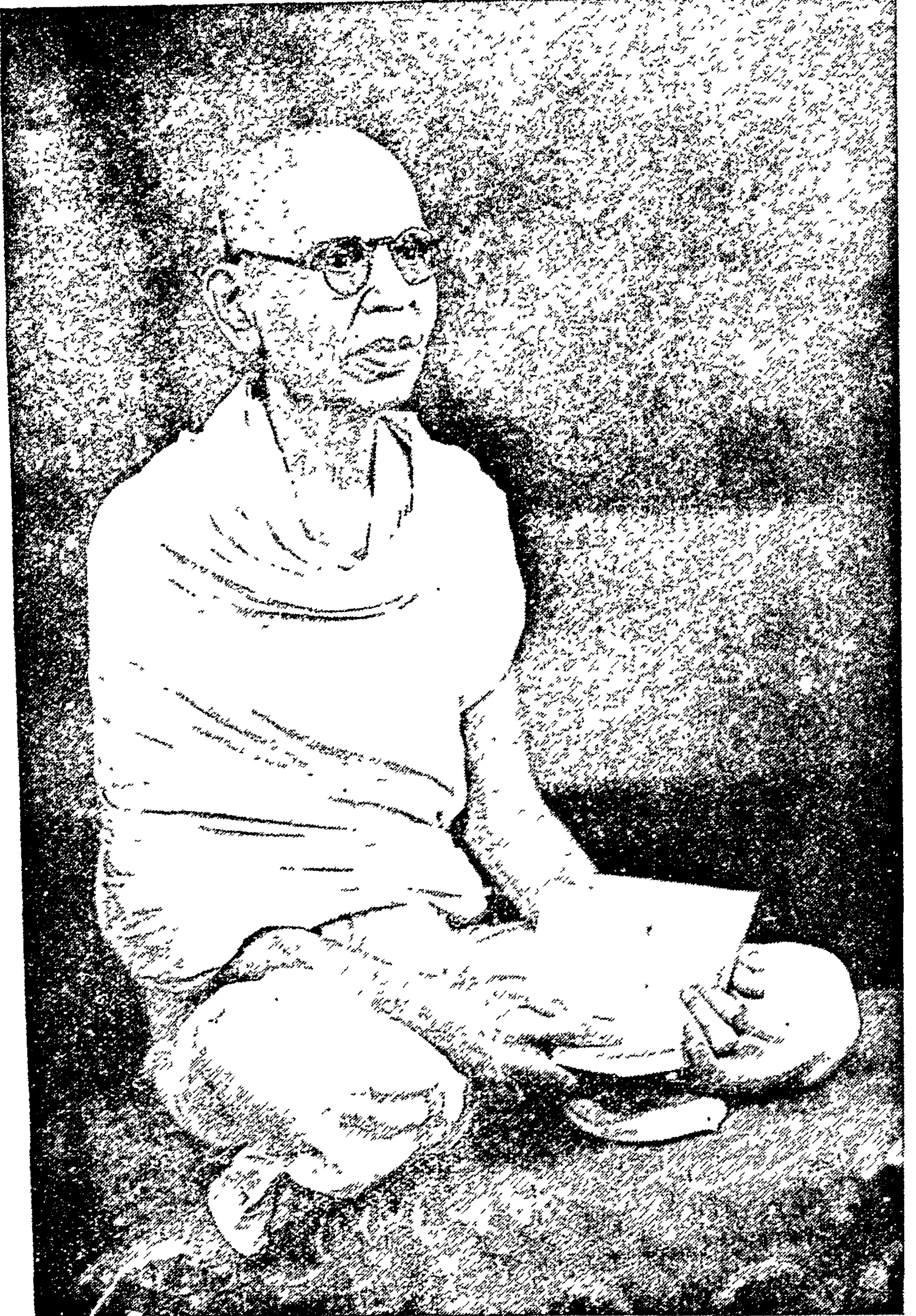
Price Rs. 10 per copy, exclusive of postage

जीवराज जैन ग्रंथमालाका परिचय

सोलापूर निवासी ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचंदजी दोशी कई वर्षोंसे संसारसे उदासीन होकर धर्मकार्यमें अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० में उनकी यह प्रबल इच्छा हो उठी कि अपनी न्यायोपार्जित संपत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म और समाजकी उन्नतिके कार्यमें करें। तदनुसार उन्होंने समस्त देशका परिभ्रमण कर जैन विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित सम्मतियां इस बातकी संग्रह कीं कि कौनसे कार्यमें संपत्तिका उपयोग किया जाय। स्फुट मतसंचय कर लेनेके पश्चात् सन् १९४१ के ग्रीष्म कालमें ब्रह्मचारीजीने तीर्थक्षेत्र गजपंथा (नासिक) के शीतल वातावरणमें विद्वानोंकी समाज एकत्र की और ऊहापोह पूर्वक निर्णयके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया। विद्वन्-सम्मेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैन संस्कृति तथा साहित्यके समस्त अंगोंके संरक्षण, उद्धार और प्रचारके हेतुसे 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ' की स्थापना की और उसके लिए रु. ३०,००० तीस हजारके दानकी घोषणा कर दी। उनकी परिग्रहनिवृत्ति बढ़ती गई, और सन् १९४४ में उन्होंने लगभग रु. २,००,००० दो लाखकी अपनी संपूर्ण संपत्ति संघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण कर दी। इस तरह आपने अपने सर्वस्वका त्याग कर दि. १६-१-५७ को अत्यन्त सावधानी और समाधानसे समाधिमरणकी आराधना की। इसी संघके अंतर्गत 'जीवराज जैन ग्रंथमाला'का संचालन हो रहा है। प्रस्तुत ग्रंथ इसी ग्रंथमालाका तेरहवां पुष्प है।

प्रकाशक
गुलाबचंद हिराचंद दोशी
जैन संस्कृति संरक्षक संघ
सोलापूर

मुद्रक
शंकर रामचंद्र दाते
यशवंत मुद्रणालय,
१८३५ सदाशिव, पूना २



स्व. ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचंदजी दोशी,

संस्थापक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापूर

जीवराज जैन ग्रंथमाला, ग्रंथ १३.

ग्रन्थमाला–सम्पादक

डॉ. आ. ने. उपाध्ये
एम्. ए., डी. लिट.
कोल्हापूर

और

डॉ. हीरालाल जैन,
एम. ए., एल्एल्. बी., डी. लिट.
जबलपूर

श्री सिंहसूरर्षि-विरचित

लोक-विभाग

(जैन विश्व-विधान-प्ररूपक संस्कृत-ग्रन्थ)

हिन्दी अनुवाद, आलोचनात्मक प्रस्तावना, पाठान्तर एवं परिशिष्टों आदिसे सहित

प्रथम वार सम्पादित

सम्पादक

बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापूर.

प्रकाशक

गुलाबचन्द हीराचन्द दोशी
जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापूर

वि. सं. २०१९] वीर-निर्वाण सं. २४८८ [ई. सन् १९६२

मूल्य रु. १० मात्र

विषयानुक्रमाणिका

प्रधान सम्पादकीय वक्तव्य

प्रस्तुत ग्रंथमालामें हम करणानुयोग विषयक दो ग्रंथों–तिलोयपण्णत्ति और जम्बूदीव-पण्णत्ति–को पाठकोंके हाथमें सौंप चुके हैं। अब उसी विषयका यह तीसरा ग्रंथ उपस्थित है।

इस ग्रंथके सम्पादकने अपनी प्रस्तावनामें इस रचनाका अनेक दृष्टियोंसे परिचय कराया है जो ग्रंथकी भाषा, विषय व इतिहासकी जानकारीके लिये महत्त्वपूर्ण है। विशेष ध्यान देने योग्य इस ग्रंथके अन्तकी प्रशस्ति है जिसमें कहा गया है कि "इस विश्वकी रचनाका जो स्वरूप भगवान् महावीरने बतलाया, सुधर्मादि गणधरोंने जाना और आचार्यपरम्परासे चला आया, उसे ही सिंहसूर ऋषिने **भाषापरिवर्तनसे** यहां रचा है" (११, ५१)। ग्रंथकारके इस कथनसे सुस्पष्ट है कि जिस परम्परासे उन्हें यह ज्ञान प्राप्त हुआ उसमें महावीरसे लगाकर उनके समय तक कोई भाषापरिवर्तन नहीं हुआ था; उन्होंने ही उसे भाषान्तरका रूप दिया। यह भली भांति ज्ञात है कि महावीर स्वामीने अपना उपदेश संस्कृतमें नहीं, प्राकृतमें दिया था, और उनके गणधरोंने तथा उनके अनुयायी आचार्योंने भी उसे प्राकृतमें ही ग्रंथरूपसे रचा था, सिंहसूरको अपने कालमें प्राकृत पठन-पाठनके ह्रास व संस्कृतके अधिक प्रसारके कारण यह आवश्यकता प्रतीत हुई होगी कि इस विषयका ग्रंथ संस्कृतमें भी उतारना चाहिये, और यही उनके भाषापरिवर्तनका हेतु रहा।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि उक्त प्राकृत रचनाकी परम्परामें किस विशेष ग्रंथके आधारसे सिंहसूरने यह भाषापरिवर्तन उपस्थित किया? इसका उत्तर भी उन्होंने आगे के पद्य (११, ५२ आदि) में बहुत स्पष्टतासे दे दिया है। अपने कार्यके लिये उनके सम्मुख जो ग्रंथ विशेष रूपसे उपस्थित था वह था सर्वनन्दि मुनि द्वारा लिखित वह शास्त्र जो उन्होंने काञ्चीनरेश सिंहवर्माके राज्यकालमें शक संवत् ३८० में पूर्ण किया था। इस प्रकार इसमें किसी संशयको अवकाश नहीं रहता कि प्रस्तुत संस्कृत रचना मुख्यतः मुनि सर्वनन्दि की प्राकृत रचनाके आधारसे की गई है। उस प्राकृत ग्रंथका क्या नाम था, यह यद्यपि उक्त प्रशस्तिमें पृथक् रूपसे नहीं कहा गया, किन्तु प्रसंग पर से स्पष्टतः उसका नाम 'लोयविभाग' (सं. लोकविभाग) ही रहा होगा। जब कोई लेखक प्रतिज्ञापूर्वक एक ग्रंथका भाषापरिवर्तन अर्थात् आधुनिक शब्दोंमें अनुवाद मात्र करता है तब वह उस ग्रंथका नाम बदलनेका साहस नहीं करता। दूसरे तिलोयपण्णत्तिमें 'लोय-विभाग' का अनेक वार प्रमाणरूपसे उल्लेख किया गया है जिसका अभिप्राय सिंहसूरकी रचनासे कदापि नहीं हो सकता। इससे सर्वनन्दिकी रचनाका नाम **लोयविभाग**, तथा उसकी प्राचीनता व मान्यता भले प्रकार सिद्ध होती है।

इस परिस्थितिमें प्रस्तुत ग्रंथके विद्वान् सम्पादकने अपनी प्रस्तावना (पृष्ठ २५) में जो 'क्या सर्वनन्दिकृत कोई लोकविभाग रहा है?' 'सम्भव है उसका कुछ अन्य ही नाम रहा हो, और वह कदाचित् संस्कृतमें रचा गया हो' इत्यादि वाक्यों द्वारा सर्वनन्दिकी रचना और

उसके प्रस्तुत ग्रंथकी आधारभूमि होनेमें एक बडी शंकाशीलता प्रकट की है वह निरर्थक प्रतीत होती है। जब प्रस्तुत लेखक प्रतिज्ञापूर्वक एक पूर्वग्रंथका भाषापरिवर्तन मात्र कर रहे हैं, तब स्पष्ट है कि उन्होंने अपनी रचनाका वही नाम रखा होगा जो उसका आधारभूत ग्रंथ था। यदि ऐसा न होता तो जब उन्होंने उसके रचयिताका नाम लिया, उनके कालके राजाका भी और रचनाकालका भी निर्देश किया तब वे उसका असली नाम छिपाकर क्यों रखते ? यदि वह मूल ग्रंथ संस्कृतमें ही था तब उसका उसी भाषामें रूपान्तर करने और उसे भाषा परिवर्तन कहनेका क्या हेतु रहा होगा ? संस्कृतका संस्कृतमें ही भाषापरिवर्तन करना विद्यार्थियोंके अभ्यासके लिये अवश्य सार्थक है, किन्तु ग्रंथकारके लिये न तो वह कुछ अर्थ रखता है और न प्राचीन प्रणालीमें उसे भाषापरिवर्तन कहे जानेके कोई अन्य प्रमाण दिखाई देते। हां, प्राचीन प्राकृत ग्रंथोंके संस्कृत रूपान्तर अनेक दृष्टिगोचर होते हैं। अभी जो हरिदेवकृत अपभ्रंश भाषाका 'मयण-पराजय-चरिउ' ज्ञानपीठ, काशी, से प्रकाशित हुआ हैं उसका उन्हींकी पांच पीढी पश्चात् नागदेव द्वारा संस्कृत रूपान्तर किया गया था। नागदेवने स्पष्ट कहा है कि "जिस कथाको हरिदेवने प्राकृतमें रचा था उसे ही मैं भव्योंकी धर्मवृद्धिके लिये संस्कृतबद्ध उपस्थित करता हूं।" इस प्रकार प्राकृतका संस्कृतमें भाषापरिवर्तन करनेकी प्रतिज्ञा करके भी नागदेवने अपनी रचनामें बहुत कुछ नयापन लानेका प्रयत्न किया है और ज्ञानार्णव आदि ग्रंथोंसे अनेक अवतरण भी जोड दिये हैं। सिंहसूर द्वारा किये गये लोकविभाग के भाषापरिवर्तनको हमें इसी प्रकार समझना चाहिये। उसमें यदि पीछेके लेखकोंके अवतरणादि मिलते हैं तो उनसे उसका सर्वनन्दिकी रचनाके संस्कृत रूपान्तर होनेकी बात असिद्ध नहीं होती।

पं. बालचन्द्रजीने जो इस ग्रंथके संशोधन, अनुवाद व प्रस्तावना लेखनमें परिश्रम किया है उसके लिये प्रधान सम्पादक उनके कृतज्ञ हैं।

इस बातका हमें परम हर्ष है कि इस ग्रंथमालाके मन्त्री व अन्य अधिकारी मालाके प्रकाशनकार्यको गतिशील बनानेके लिये सदैव तत्पर रहते हैं। उनके इसी उत्साहके फलस्वरूप यह ग्रंथमाला इतना प्रकाशनकार्य कर सकी है, और आगे बहुत कुछ करनेकी आशा रखती है।

कोल्हापूर — आ. ने. उपाध्ये

जबलपूर — हीरालाल जैन

सम्पादकीय वक्तव्य

लगभग सात वर्ष पूर्व मेरे अमरावती रहते हुए जब जंबूदीवपण्णत्तीके प्रकाशनका कार्य चल रहा था तब श्री डॉ. हीरालालजी और डॉ. ए. एन्. उपाध्येजीकी यह प्रवल इच्छा दिखी कि वर्तमान लोकविभागको प्रामाणिक रीतिसे संपादित कर उसे भी इस जीवराज जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित कराया जाय। तिलोयपण्णत्तीमें अनेक स्थलोंपर जिस लोकविभागका उल्लेख किया गया है उसका इस वर्तमान लोकविभागसे कितना सम्वन्ध है, इसका अध्ययन चूंकि मैं स्वयं भी करना चाहता था; अत एव उक्त दोनों महानुभावोंकी प्रेरणासे मैंने इस कार्यको अपने हाथमें ले लिया था। परन्तु परिस्थिति कुछ ऐसी निर्मित हुई कि अमरावतीमें मुद्रणकी व्यवस्था पूर्वके समान सुचारु न रह सकनेसे मुझे षट्खण्डागमके १३ वें भागके प्रकाशनकार्यके लिये लगभग एक वर्ष बम्बई रहना पड़ा, जहां इस कार्यको प्रारम्भ करना शक्य नहीं हुआ। तत्पश्चात् उक्त षट्खण्डागमके शेष १४-१६ भागोंके प्रकाशनकार्यके लिये बम्बईको भी छोड़कर बनारस जाना पड़ा।

बनारसमें उस कार्यको करते हुए जो समय मिलता उसमें इस लोकविभागके अनुवादको चालू कर दिया था। उसकी प्रतिलिपि श्री डॉ. उपाध्येजी बहुत पूर्वमें करा चुके थे और उसे उन्होंने तिलोयपण्णत्तीकी प्रस्तावनामें उसका परिचयादि देनेके लिये मेरे पास बहुत समय पहिले ही भेज दिया था। अनुवादका कार्य मैंनें इसी प्रतिलिपिपरसे प्रारम्भ किया था। किन्तु एक मात्र इसपरसे अनुवादके करनेमें कुछ कठिनाईका अनुभव हुआ। तब मैंने जैन सिद्धान्त-भवन आराकी प्रतिको भिजवा देनेके लिए सुहृद्वर पं. नेमिचन्दजी ज्योतिषाचार्यको लिखा। वे यद्यपि इसका स्वयं संपादन करना चाहते थे, फिर भी मेरे द्वारा उसका कार्य प्रारम्भ कर देनेपर उन्होंने सहर्ष उस प्रतिको मेरे पास भिजवा दिया और अपने उस विचारको स्थगित भी कर दिया। परन्तु इस प्रतिमें पूर्वोक्त प्रतिलिपिसे कोई विशेषता नहीं दिखी। इस प्रकार मेरी वह कठिनाई तदवस्थ ही रही।

जब मैं बम्बईमें श्रद्धेय स्व. पं. नाथूरामजी प्रेमीके यहां रह रहा था तब उनके 'जैन साहित्य और इतिहास' के द्वितीय संस्करण का मुद्रणकार्य चालू हो गया था। उसमें पहिला लेख 'लोकविभाग और तिलोयपण्णत्ती' ही है। उसको मैंने देखा था व तद्विषयक चर्चा भी उनके साथ होती रहती थी। उसका स्मरण करके मैंने अपनी उस कठिनाईके सम्बन्धमें प्रेमीजीको लिखा। उन्होंने उसी समय अपनी ओरसे १०० रु. जमा करके ऐ. प. सरस्वती भवन बम्बई की प्रति हस्तगत की और मेरे पास भेज दी। इस प्रतिमें यह विशेषता थी कि श्लोकोंके मध्यमें संख्यांक भी निर्दिष्ट थे। इससे संशोधनके कार्यमें पर्याप्त सहायता मिली। इस प्रकारसे अनुवादका कार्य प्रायः बनारसमें समाप्त हो चुका था। परन्तु वहां रहते हुए प्रथमतः पत्नीका स्वास्थ्य खराब हुआ और वह ठीक भी न हो पाया था कि मैं स्वयं भी बीमार पड़ गया। इस बीमारीके कारण

मुझे बनारस ही छोड़ना पड़ा। लगभग ५-६ मासमें जब स्वास्थ्यलाभ हुआ तब सोलापुर आ जानेपर उसके प्रस्तावनादि विषयक शेष कार्यको पूरा कर सका।

इसके पश्चात् मुद्रणके कार्यमें अधिक विलंब हो गया है। उसे लगभग ४ वर्ष पूर्व मुद्रणके लिये प्रेसमें दे दिया था। परन्तु प्रेसकी कुछ अनिवार्य कठिनाइयोंके कारण उसका मुद्रण कार्य शीघ्र नहीं हो सका। अस्तु।

इन सब कठिनाइयोंसे निकलकर आज उसे पाठकोंके हाथमें देते हुए अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है। ऐसे अप्रकाशित ग्रन्थोंके प्रथमतः प्रकाशित करनेमें संशोधनादि विषयक जो कठिनाइयां उपस्थित होती हैं उनका अनुभव भुक्तभोगी ही कर सकते हैं। ऐसी परिस्थितिमें यद्यपि प्रस्तुत संस्करणको उपयोगी बनानेका यथासम्भव पूरा प्रयत्न किया गया है; फिर भी इसमें जो त्रुटियां रही हों उन्हें क्षन्तव्य मानता हूं।

मुझे इस बातका हार्दिक दुख है कि जिनका इस कार्यमें मुझे अत्यधिक सहयोग मिला है वे स्व. प्रेमीजी हमारे बीचमें नहीं है व इस संस्करणको नहीं देख सके। फिर भी स्वर्गमें उनकी आत्मा इससे अवश्य सन्तुष्ट होगी, ऐसा मानता हूं।

अन्तमें मैं सुहृद्वर पं. नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्यको नहीं भूल सकता हूं कि जिन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थके स्वयं संपादनविषयक विचारको छोड़कर जैन सिद्धान्त-भवन आराकी प्रतिको भेजते हुए मुझे इस कार्यमें सहायता पहुंचायी है। आदरणीय डॉ. उपाध्येजी और डॉ. हीरालालजीका तो मैं विशेष आभारी हूं, जिनकी इस कार्यमें अत्यधिक प्रेरणा रही है तथा जिन्होंने प्रस्तावनाको पढ़कर उसके सम्बन्धमें अनेक उपयोगी सुझाव भी दिये हैं। श्री. डॉ. उपाध्येजीने तो ग्रन्थकी उस प्रतिलिपिको भी मुझे दे दिया जिसे उन्होंने स्वयं कराया था। साथ ही उन्होंने ग्रन्थके अन्तिम फ्रूफोंको भी देखनेकी कृपा की है। श्री. पं. जिनदासजी शास्त्री न्यायतीर्थने ग्रन्थकी श्लोकानुक्रमणिकाको तैयार कर हमें अनुगृहीत किया है। जिस जीवराज जैन ग्रन्थमालाकी प्रबन्ध समितिने इस ग्रन्थके प्रकाशनकी अनुमति देकर मुझे प्रोत्साहित किया है उसका भी मैं अतिशय कृतज्ञ हूं। इत्यलम्।

श्रुत-पंचमी
वी. नि. सं. २४८८

बालचन्द्र शास्त्री

प्रस्तावना

१. हस्तलिखित प्रतियां

प्रस्तुत ग्रन्थका सम्पादन निम्न प्रतियोंके आधारसे किया गया है –

प– यह प्रति भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीटयूट पूना की है । इसपरसे श्रीमान् डॉ. ए. एन्. उपाध्येजीने ग्रन्थकी जो प्रतिलिपि करायी थी उसपरसे इस ग्रन्थका मुद्रण हुआ है।

आ– यह प्रति जैन सिद्धान्त भवन आराकी है। वह हमें सुहृद्वर पं. नेमिचन्दजी ज्योतिषाचार्यके द्वारा प्राप्त हुई है । इसकी लम्बाई चौड़ाई १३×८ इंच है । सब पत्र ७० हैं। इसके प्रत्येक पत्रमें दोनों ओर १३–१३ पंक्तियां और प्रत्येक पंक्तिमें लगभग ३५ अक्षर हैं । ग्रन्थका प्रारम्भ '।। श्रीवीतरागाय नमः।।' इस मंगल वाक्यको लिखकर किया गया है।प्रतिके अन्तमें उसके लेखक और लेखनकालका कोई निर्देश नहीं है। फिर भी वह अर्वाचीन ही प्रतीत होती है । इसमें श्लोकोंकी संख्या सर्वथा नहीं दी गई है । इसमें व पूर्व प्रतिमें भी २-३ स्थलोंपर कुछ (२–४) पद्य नहीं पाये जाते हैं। जैसे– दसवें विभागमें १२ वां श्लोक और इसी विभागमें (पृ. २१३) श्लोक ३२१ के आगे ति. प. से उद्धृत गाथा २८–३० व ३१ का पूर्वार्ध भाग ।

ब– यह प्रति श्री. ए. पन्नालाल सरस्वती भवन बम्बईकी है। इस प्रतिको हमें श्रद्धेय स्व. पं. नाथूरामजी प्रेमीने कष्टसे प्राप्त करके भिजवाया था । इसमें सब पत्र ७७ हैं। प्रत्येक पत्रकी दोनों ओर १२ पंक्तियां तथा प्रत्येक पंक्तिमें लगभग ३५ अक्षर हैं। ग्रन्थका प्रारम्भ '।। श्रीवीतरागाय नमः ।।' इस मंगल वाक्यसे किया गया है। यह प्रति मूडबिद्रीमें वी. नि. सं. २४५९ में श्री, एन्. नेमिराजके द्वारा लिखी जाकर मार्गशीर्ष शुक्ल पौर्णिमाको समाप्त की गई है, ऐसा प्रतिकी अन्तिम प्रशस्तिसे ज्ञात होता है। वह प्रशस्ति इस प्रकार है– लिखितोऽयं ग्रन्थः महावीर शक २४५९ रक्ताक्षि सं । मार्गशीर्ष शुक्लपक्षे पौर्णिमास्यां तिथौ एन्. नेमिराजाख्येन (जैन-मूडबिद्र्यां निवसता) मया समाप्तश्च । शुभं भवतु । स्वस्तिरस्तु ।

प्रस्तुत संस्करणमें तिलोयपण्णत्तीकी पद्धतिके अनुसार श्लोकके नीचे और क्वचित् उसके मध्यमें भी जो संख्यांकोंका निर्देश किया गया है वह इस प्रतिके ही आधारसे किया गया है । ये अंक पूर्वनिर्दिष्ट (आ प) दोनों प्रतियोंमें नहीं पाये जाते हैं।इस प्रतिमें 'ध' के स्थानपर बहुधा 'द' पाया जाता है ।

२. ग्रन्थपरिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ 'लोकविभाग'[1] इस अपने नामके अनुसार अनादिसिद्ध लोकके सब ही विभागोंका वर्णन करनेवाला है। इसकी गणना प्रसिद्ध चार अनुयोगोंमेंसे करणानुयोग

---

१ पं. नाथूराम प्रेमी 'लोकविभाग और तिलोयपण्णत्ति', जैन साहित्य और इतिहास पृ. १–२२. (वंबई, १९५६); अनेकान्त, २, पृ. ८ इत्यादि.

(गणितानुयोग) के अन्तर्गत की जाती है। जैसा कि ग्रन्थके अन्तमें निर्दिष्ट किया है[१], श्री वर्धमान जिनेन्द्रके द्वारा प्ररूपित लोकका स्वरूप सुधर्म आदि गणधरों तथा अन्य आरातीय आचार्योंकी परंपरासे जिस प्रकार प्राप्त हुआ है उसी प्रकारसे उसका वर्णन यहां सिंहसूर्रापिके द्वारा भाषा मात्रका परिवर्तन करके किया गया है। आगे यह भी संकेत किया गया है कि ग्रन्थकी रचना शक सं. ३८० में श्री मुनि सर्वनन्दीके द्वारा पाणराष्ट्रके अन्तर्गत पाटलिक नामके ग्राममें की गई थी[२]। उस सर्वनन्दिविरचित ग्रन्थसे प्रस्तुत ग्रन्थका कितना सम्बन्ध है, उसकी चर्चा हम आगे स्वतन्त्र शीर्षक द्वारा करेंगे। अस्तु! यह ग्रन्थ संस्कृत भाषामें अधिकांश अनुष्टुप् वृत्तके द्वारा रचा गया है। प्रायः प्रत्येक विभागके अन्तमें उसके विषयका उपसंहार एक एक भिन्न वृत्तके द्वारा किया गया है। यथा– प्रथम विभागमें दो उपजाति वृत्त, द्वितीय विभागमें एक उपजाति, तृतीय विभागमें द्रुतविलम्बित, षष्ठ विभागमें शालिनी, सप्तम विभागमें मत्तमयूर, अष्टम विभागमें हरिणी, नवम विभागमें मन्दाक्रान्ता, दशवें विभागमें वसन्ततिलका, तथा ग्यारहवें विभागमें दो शार्दूलविक्रीडित और एक वसन्ततिलका। इनमें सातवेंसे ग्यारहवें विभाग तक उन वृत्तोंके नामको किसी प्रकारसे ग्रन्थकारने स्वयं ही उन पद्योंमें व्यक्त कर दिया है। प्रथम विभागके अन्तर्गत ९७वें श्लोकमें पृथ्वी छन्दका लक्षण (वृ. र. ३–१२४) पाया जाता है, परन्तु वह यहां दो ही पादोंमें उपलब्ध होता है।

यह ग्रन्थ इन ग्यारह प्रकरणोंमें विभक्त है— जम्बूद्वीपविभाग, लवणसमुद्रविभाग, मानुषक्षेत्रविभाग, द्वीप-समुद्रविभाग, कालविभाग, ज्योतिर्लोकविभाग, भवनवासिलोकविभाग, अधोलोकविभाग, व्यन्तरलोकविभाग, स्वर्गविभाग और मोक्षविभाग। इसकी श्लोकसंख्या ३८४+५२+७७+९२+१७६+२३६+९९+१२८+१०+३४९+५४ = १७३७ है। इसके अतिरिक्त लगभग १७७ पद्य इसमें तिलोयपण्णत्ती, त्रिलोकसार और जंबूदीवपण्णत्ती आदि अन्य ग्रन्थोंके भी उद्धृत किये गये हैं। पांचवें विभागमें ३८वें श्लोकसे आगे १३७वें श्लोक तक सब ही श्लोक आदिपुराण (पर्व ३) के हैं। इनमें अधिकांश श्लोक ज्योंके त्यों पूर्णरूपमें ही लिये गये हैं। परन्तु कहीं कहीं उसके १-१ व २-२ चरणोंको लेकर भी श्लोक पूरा किया गया है। इससे कहीं कहीं पूर्वापर सम्बन्ध टूट गया है। यथा —

तेषां विक्रियया सान्तर्गर्जया तत्रसुः प्रजाः। इमे भद्रमृगाः पूर्वं संवसन्तोऽनुपद्रवाः॥ ५०
इदानीं तु विना हेतोः शृङ्गैरभिभवन्ति नः। इति तद्वचनाज्जातसौहार्दो मनुरब्रवीत्॥ ५१

इन दो श्लोकोंमें प्रथमका पूर्वार्ध आ. पु. के ९४वें श्लोकका पूर्वार्ध, उसका तृ. चरण आ. पु. के ९५वें श्लोकका प्र. चरण तथा चतुर्थ चरण आ. पु. के ९६वें श्लोकका चतुर्थ चरण है। द्वितीय श्लोकका पूर्वार्ध आ. पु. के ९७वें श्लोकका पू. और उत्तरार्ध आ. पु. के ९९वें श्लोकका पूर्वार्ध है। प्रथम श्लोकके पूर्वार्धके पश्चात् आ. पु. में यह अंश है जो उस सम्बन्धको जोड़ता है— पप्रच्छुस्ते तमभ्येत्य मनुं स्थितमविस्मितम् ॥९४ उ.॥ वह सम्बन्ध यहाँ टूट गया है।

---

१. भव्येभ्यः सुरमानुषोरुसदसि श्रीवर्धमानार्हता यत्प्रोक्तं जगतो विधानमखिलं ज्ञातं सुधर्मादिभिः। आचार्यावलिकागतं विरचितं तत् सिंहसूर्रापिणा भाषायाः परिवर्तनेन निपुणैः संमान्यतां साधुभिः॥ ११–५१.

२. वैश्वे स्थिते रविसुते वृषभे च जीवे राजोत्तरेषु सितपक्षमुपेत्य चन्द्रे।
ग्रामे च पाटलिकनामनि पाणराष्ट्रे शास्त्रं पुरा लिखितवान् मुनिसर्वनन्दी॥ ११–५२.
संवत्सरे तु द्वाविंशे काञ्चीशः सिंहवर्मणः। अशीत्यग्रे शकाब्दानां सिद्धमेतच्छतत्रये॥ ११–५३.

३. विषयका सारांश

प्रस्तुत ग्रन्थमें निम्न ११ प्रकरण हैं, जिनमें अपने अपने नामके अनुसार लोकके अवयवभूत जम्बूद्वीप एवं लवणसमुद्र आदिका वर्णन किया गया है। यथा——

१. **जम्बूद्वीपविभाग**—— इस प्रकरणमें ३८४ श्लोक हैं। यहाँ जिन-नमस्कारपूर्वक क्षेत्र, काल, तीर्थ, प्रमाणपुरुष और उनके चरित्र स्वरूपसे पाँच प्रकारके पुराणका निर्देश करके यह वतलाया है कि अनन्त आकाशके मध्यमें जो लोक अवस्थित है उसके मध्यगत विभागका नाम तिर्यग्लोक है। उसके मध्यमें जम्बूद्वीप, और उसके भी मध्यमें मन्दर पर्वत अवस्थित है। लोकके तीन विभाग इस मन्दर पर्वतके कारण ही हुए हैं—— मन्दर पर्वतके नीचे जो लोक अवस्थित है उसका नाम अधोलोक, उस मन्दर पर्वतकी ऊंचाई (१ लाख यो.) के बराबर ऊंचा द्वीप-समुद्रोंके रूपमें जो तिरछा लोक अवस्थित है उसका नाम तिर्यग्लोक,तथा उक्त पर्वतके उपरिम भागमें अवस्थित लोकका नाम ऊर्ध्वलोक है। इस प्रकार लोकके इन तीन विभागों और उनके आकारका निर्देश करते हुए तिर्यग्लोकके मध्यमें अवस्थित जम्बूद्वीपके वर्णनमें छह कुलपर्वत, सात क्षेत्र, विजयार्ध व उसके ऊपर स्थित दो विद्याधरश्रेणियोंके ११० नगर, नाभिगिरि आदि अन्य पर्वत, गंगा-सिन्धु आदि नदियाँ, जम्बू व शाल्मलि वृक्ष, ३२ विदेह, मेरु पर्वत व उसके चार वन, जिनभवन, जम्बूद्वीपकी जगती, विजयादिक ४ गोपुरद्वार तथा इस जम्बूद्वीपसे संख्यात द्वीप जाकर आगे स्थित द्वितीय जम्बूद्वीप व उसके भीतर अवस्थित विजयदेवका पुर; इन सव भौगोलिक स्थानोंका वर्णन यहां यथास्थान समुचित विस्तारके साथ किया गया है।

२. **लवणसमुद्रविभाग**—— इस प्रकरणमें ५२ श्लोक हैं। यहाँ लवणसमुद्रके विस्तार व उसके आकारका निर्देश करके कृष्ण व शुक्ल पक्षके अनुसार उसके जलकी ऊंचाईमें होनेवाली हानि-वृद्धिका स्वरूप दिखलाया गया है। इस समुद्रके मध्यमें जो पूर्वादि दिशागत ४ प्रमुख पाताल, विदिशागत ४ मध्यम पाताल व उनके मध्यमें स्थित १००० जघन्य पाताल हैं उनके भीतर स्थित जल व वायुके विभागोंमें होनेवाले परिवर्तनके साथ उक्त पातालोंके पार्श्वभागोंमें अवस्थित पर्वतों, गौतमद्वीप और २४ अन्तरद्वीपोंका वर्णन करते हुए उनके भीतर अवस्थित कुमानुषोंका स्वरूप दिखलाया गया है।

३. **मानुषक्षेत्रविभाग**—— इस प्रकरणमें ७७ श्लोक हैं। यहाँ धातकीखण्डद्वीपकी प्ररूपणामें दो मेरु, दो इष्वाकार, दोनों ओरके छह छह कुलपर्वतों व सात सात क्षेत्रोंके अवस्थान और उनके विस्तारादिका वर्णन है। तत्पश्चात् कालोदक समुद्रकी प्ररूपणा करते हुए लवण समुद्रके समान उसके भी भीतर अवस्थित अन्तरद्वीपों और उनमें रहनेवाले कुमानुषोंका विवेचन किया गया है। तत्पश्चात् पुष्कर नामक वृक्षसे चिह्नित पुष्करद्वीपका विवरण करते हुए धातकीखण्डद्वीपके समान वहाँपर अवस्थित मेरु, कुलाचल, इष्वाकार और क्षेत्रोंके अवस्थान व विस्तारादिकी प्ररूपणा की गई है। इस पुष्करद्वीपके भीतर ठीक मध्यमें द्वीपके समान गोल मानुषोत्तर नामका पर्वत अवस्थित है। इससे उक्त द्वीपके दो विभाग हो गये हैं—— अभ्यन्तर पुष्करार्ध और वाह्य पुष्करार्ध। अभ्यन्तर पुष्करार्धमें धातकीखण्डद्वीपके समान पर्वत, क्षेत्र और नदियाँ आदि अवस्थित हैं। जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और अभ्यन्तर पुष्करार्ध तथा

लवणोद व कालोद ये दो समुद्र; इतने (पु. ८+का. ८+धा. ४+ल. २+जं. १+ल. २+धा. ४ +का. ८+पु. ८ = ४५ लाख योजन) क्षेत्रको अढ़ाई द्वीप अथवा मनुष्यक्षेत्रके नामसे कहा जाता है। मनुष्यक्षेत्र कहलानेका कारण यह है कि मनुष्योंका निवास व उनका गमनादि इतने मात्र क्षेत्रके ही भीतर सम्भव है, इसके बाहिर किसी भी अवस्थामें उनका अस्तित्व सम्भव नहीं है। अन्तमें उस मानुषोत्तर पर्वतके विस्तार, परिधि और उसके ऊपर स्थित कूटोंका वर्णन करते हुए मध्यलोकमें स्थित ३९८ जिनभवनोंको नमस्कार करके इस प्रकरणको समाप्त किया गया है।

४. समुद्र विभाग— इस प्रकरणमें ९२ श्लोक हैं। यहां सर्वप्रथम मध्यलोकमें स्थित असंख्यात द्वीप-समुद्रोंमें आदि व अन्तके १६-१६ द्वीपों व समुद्रोंका नामोल्लेख करके समुद्रोंके जलस्वाद और उनमें जहाँ जलचर जीवोंकी सम्भावना है उनका नामोल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् राजुके अर्धच्छेदोंके क्रमका निर्देश करते हुए आदिके नौ द्वीप-समुद्रोंके अधिपति देवोंके नामोंका उल्लेख किया गया है। आगे चलकर नन्दीश्वर द्वीपका विस्तारसे वर्णन करते हुए उसके भीतर अवस्थित ५२ जिनभवनोंमें अष्टाह्निक पर्वके समय सौधर्मादि इन्द्रोंके द्वारा की जानेवाली पूजाका उल्लेख किया है। तत्पश्चात् अरुणवर द्वीप, अरुणवर समुद्रके ऊपर उद्गत अरिष्ट नामक अन्धकार, ग्यारहवें कुण्डलवर द्वीपके मध्यमें स्थित कुण्डल पर्वत व उसके ऊपर स्थित १६ कूट, तेरहवें रुचक द्वीपके मध्यमें स्थित रुचक पर्वत और उस रुचक पर्वतपर स्थित कूटोंके ऊपर अवस्थित प्रासादोंमें रहनेवाली दिक्कुमारियां व उनके द्वारा की जानेवाली जिनमाताकी सेवा, तथा अन्तिम स्वयंभूरमण द्वीप व उसके मध्यमें स्थित स्वयंप्रभ पर्वत; इन सबका यथायोग्य वर्णन किया गया है।

५. कालविभाग— इस प्रकरणमें १७६ श्लोक हैं। यहाँ प्रारम्भमें अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी कालोंके विभागस्वरूप सुषमसुषमादि कालभेदोंका उल्लेख करके अवसर्पिणीके प्रथम तीन कालोंमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंके शरीरकी ऊंचाई, आहारग्रहणकाल, पृष्ठास्थिसंख्या, नौ प्रकारके कल्पवृक्षों द्वारा दी जानेवाली भोगसामग्री और तत्कालीन नर-नारियोंके स्वरूपका निरूपण किया गया है। पश्चात् इन तीन कालोंमेंसे कौन-सा काल कहाँपर निरन्तर प्रवर्तमान है, इसका निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि जब तृतीय कालमें पल्योपमका आठवां भाग ($\frac{1}{8}$) शेष रह जाता है तब चौदह कुलकर[1] व उनके पश्चात् आदि जिनेन्द्र भी उत्पन्न होते हैं। उन कुलकरोंका वर्णन यहाँ अनुक्रमसे किया गया है। इनमें अन्तिम कुलकर नाभिराज थे। उनके समयमें कल्पवृक्षोंकी फलदानशक्ति प्रायः समाप्त हो चुकी थी। इसके पूर्व जो मेघ कभी दृष्टिगोचर

१. आवश्यकसूत्र (निर्युक्ति) में कुलकरोंकी संख्या सात निर्दिष्ट की गई है। यथा —
ओसप्पिणी इमीसे तइयाए समाए पच्छिमे भाए। पलितोवमट्ठभागे सेसंमि य कुलगरुप्पत्ती ॥
अद्धभरहमज्झिल्लतिभागे गंगासिंधुमज्झम्मि। एत्थ बहुमज्झदेसे उप्पन्ना कुलगरा सत्त ॥ १४७-४८.
यहां उनकी प्ररूपणा क्रमसे पूर्वभव, जन्म, नाम, प्रमाण, संहनन, संस्थान, वर्ण, स्त्रियां, आयु, भाग (कुलकर होनेका वयोभाग), भवनोपपात और नीति; इन १२ द्वारोंके आश्रयसे की गई है। नाम उनके ये हैं— १ विमलवाहन, २ चक्षुष्मान्, ३ यशस्वी, ४ अभिचन्द्र, ५ प्रसेनजित्, ६ मरुदेव और ७ नाभि।

नहीं हुए थे वे अब सघनरूपमें गर्जना करते हुए आकाशमें दिखने लगे थे। उनके द्वारा जो समुचित वर्षा की जाती थी उससे विना जोते व विना बोये ही अनेक प्रकारके अनाज स्वयं उत्पन्न होकर पक चुके थे। परन्तु भोले-भाले प्रजाजन उनका उपयोग करना नहीं जानते थे। इसलिए वे भूख आदिसे पीड़ित होकर अतिशय व्याकुल थे। तब दयालु नाभिराजने उन्हें यथायोग्य आजीविकाके साधनोंकी शिक्षा देकर निराकुल किया था। प्रसंगवश यहाँ कुलकर, मनु व कुलधर आदि नामोंकी सार्थकताका दिग्दर्शन कराते हुए उनके द्वारा यथायोग्य की जानेवाली दण्डव्यवस्थाके साथ पूर्वांग व पूर्व आदि विविध कालभेदोंकी भी प्ररूपणा की गई है। कर्मभूमिके प्रारम्भमें ग्राम, पुर व पत्तन आदि तथा ग्रामाध्यक्ष आदिकी व्यवस्था भगवान् आदि जिनेन्द्रके द्वारा की गई थी। यहाँसे कर्मभूमिका प्रारम्भ हो जाता है। आगे अवसर्पिणीके शेष तीन कालोंमें होनेवाली अवस्थाओंका वर्णन करते हुए अवसर्पिणीका अन्त और उत्सर्पिणीका प्रारम्भ कैसे होता है, इसका दिग्दर्शन कराया गया है और अन्तमें उत्सर्पिणीके भी छह कालोंका उल्लेख करके इस प्रकरणको समाप्त किया गया है।

६. **ज्योतिर्लोकविभाग**— इस प्रकरणमें २३६ श्लोक हैं। यहां प्रारम्भमें ज्योतिषी देवोंके ५ भेदोंका निर्देश करके पृथिवीतलसे ऊपर आकाशमें उनके अवस्थानको दिखलाते हुए ताराओंके अन्तर तथा सूर्यादिके विमानोंके विस्तार, बाहल्य व उनके वाहक देवोंके आकार एवं संख्याकी प्ररूपणा की गई है। तत्पश्चात् अभिजित् आदि नक्षत्रोंका संचार, चन्द्रादिकोंकी गतिकी विशेषता, चन्द्र-सूर्यका आवरण, मेरुसे ज्योतिर्गणकी दूरीका प्रमाण, द्वीप-समुद्रोंमें चन्द्र व सूर्योंकी संख्या, प्रत्येक चन्द्र व सूर्यके ग्रह-नक्षत्रोंकी संख्या, सूर्य-चन्द्रका संचारक्षेत्र, द्वीप-समुद्रोंमें उनकी वीथियों व वलयोंकी संख्या, वीथिके अनुसार मेरुसे सूर्यका अन्तर, दोनों सूर्योंके मध्यका अन्तर, वीथियोंका परिधिप्रमाण, चन्द्रोंके मेरुसे व परस्परके अन्तरका प्रमाण, चन्द्रवीथियोंका परिधिप्रमाण, लवणोदादिमें संचार करनेवाले सूर्योंका अन्तर, गति, मुहूर्तगति, चन्द्रकी मुहूर्तगति, दिन-रात्रिका प्रमाण, ताप व तम क्षेत्रोंका परिधिप्रमाण, ताप व तमकी हानि-वृद्धि, सूर्यका जंबूद्वीपादिमें चारक्षेत्र, अधिक मास, उत्तरायणकी समाप्ति व दक्षिणायनका प्रारम्भ, युगका प्रारम्भ, आवृत्तियोंकी संख्या, तिथि व नक्षत्र, विषुपोंकी तिथियां व नक्षत्र, प्रत्येक चन्द्रके ग्रह, नक्षत्र, कृत्तिका आदि नक्षत्रोंकी तारासंख्या, अभिजित् आदि नक्षत्रोंका चन्द्रके मार्गमें संचार, उनका अस्त व उदय, जघन्यादि नक्षत्रोंका नामनिर्देश, उनपर सूर्य-चन्द्रका अवस्थान, मण्डलक्षेत्र व देवता; समय व आवली आदिका प्रमाण चक्षु इन्द्रियका उत्कृष्ट विषय, अयोध्यामें सूर्यबिम्बस्थ जिनप्रतिमाका अवलोकन, भरतादि क्षेत्रोंमें तारासंख्या, अढ़ाई द्वीपस्थ नक्षत्रादिकी संख्या तथा चन्द्र-सूर्यादिका आयुप्रमाण; इन सबकी यथाक्रमसे प्ररूपणा की गई है।

७. **भवनवासिलोकविभाग**— इस प्रकरणमें ९० श्लोक हैं। यहाँ प्रारम्भमें चित्रा-वज्रा आदि पृथिवियोंका नामनिर्देश करके असुरकुमारादि दस प्रकारके भवनवासियोंके भवनोंकी संख्या व उनका विस्तारादि, भवनवासियोंके २० इन्द्रोंके नाम, उनकी भवनसंख्या, सामानिक आदि परिवारभूत देव-देवियोंकी संख्या, आयुप्रमाण, शरीरकी ऊंचाई, जिनभवन, चैत्यवृक्ष, मुकुटचिह्न, चमरेन्द्रादिका सौधर्मेन्द्रादिसे स्वाभाविक विद्वेष, व्यन्तर व अल्पर्द्धिक आदि भवनवासी देवोंके भवनोंका अवस्थान और असुरकुमारोंकी गति आदिका वर्णन करते

हुए अन्तमें संकेत किया गया है कि यह विन्दु मात्र कथन है, विशेप विवरण लोकानुयोगसे जानना चाहिये।

८. **अधोलोकविभाग**—इस प्रकरणमें १२८ श्लोक हैं। यहाँ प्रारम्भमें रत्नप्रभादि सात पृथिवियोंका निर्देश करके उनके पृथक् पृथक् बाहल्यप्रमाणको वतलाते हुए उनके तलभागमें तथा लोकके बाह्य भागमें जो घनोदधि आदि तीन वातवलय अवस्थित हैं उनके बाहल्यप्रमाणका निर्देश किया गया है। तत्पश्चात् प्रत्येक पृथिवीमें स्थित पटलोंकी संख्या, उनके बाहल्य व परस्परके मध्यगत अन्तरके प्रमाणको दिखलाते हुए किस पृथिवीमें कितने इन्द्रक, श्रेणीवद्ध और प्रकीर्णक नारक बिल है; इसकी गणितसूत्रोंके अनुसार प्ररूपणा की गई है। साथ ही प्रसंग पाकर यहाँ उन नारक विलोंमें स्थित जन्मभूमियोंकी आकृति व विस्तारादि, नारकियोंके शरीरकी ऊंचाई, आयु, आहार, अवधिज्ञानका विपय, यथासम्भव गत्यादि मार्गणायें, शीत-उष्णकी वेदना, छह लेश्याओंमेंसे सम्भव लेश्या, जन्मभूमियोंसे नीचे गिरकर पुनः उत्पतन, जन्म-मरणका अन्तर, गति-आगति, प्रत्येक पृथिवीसे निकलकर पुनः उसमें उत्पन्न होनेकी वारसंख्या, नारकभूमियोंसे निकलकर प्राप्त करने व न प्राप्त करने योग्य अवस्थायें, विक्रियादिकी विशेषता और क्षेत्रजन्य दुखकी सामग्री; इत्यादि विषयोंकी भी प्ररूपणा की गई है।

९. **व्यन्तरलोकविभाग**— इस प्रकरणमें ९९ श्लोक हैं। यहाँ प्रथमतः व्यन्तर देवोंके औपपातिक, अध्युषित और अभियोग्य इन तीन भेदोंका निर्देश करके उनके भवन, आवास और भवनपुर नामक तीन निवासस्थानोंका उल्लेख किया गया है। इनमें किन्हीं व्यन्तर देवोंके केवल भवन ही, किन्हींके भवन और आवास; तथा किन्हींके भवन, आवास और भवनपुर ये तीनों ही होते हैं। इनमेंसे भवन चित्रा पृथिवीपर; आवास तालाव, पर्वत एवं वृक्षोंके ऊपर; तथा भवनपुर द्वीप-समुद्रोंमें हुआ करते हैं। प्रसंगवश यहाँ इन भवनादिकोंकी रचना व उनके विस्तारादिकी भी प्ररूपणा की गई है।

इसके पश्चात् यहाँ पिशाचादि आठ प्रकारके व्यन्तरोंके पृथक् पृथक् कुलभेदों, उनके दो दो इन्द्रों व उन इन्द्रोंकी दो दो प्रधान देवियोंके नामादिका निर्देश करके उन पिशाचादि व्यन्तरोंके वर्ण व चैत्यवृक्षोंका उल्लेख करते हुए सामानिक आदि परिवार देवोंकी संख्या निर्दिष्ट की गई है। इस प्रसंगमें यहाँ अनीक देवोंकी पृथक् पृथक् सात कक्षाओंका निर्देश करके उनके महत्तरों (सेनापतियों) का नामोल्लेख करते हुए उन अनीक देवोंकी कक्षाओंकी संख्याका निरूपण किया गया है। व्यन्तरेन्द्रोंकी पांच पांच नगरियां (राजधानियां) होती हैं जो अपने अपने नामके आश्रित होती हैं। जैसे— काल नामक पिशाचेन्द्रकी काला, कालप्रभा, कालकान्ता, कालावर्ता और कालमध्या ये पांच नगरियां। इनमें काला मध्यमें, कालप्रभा पूर्वमें, कालकान्ता दक्षिणमें, कालावर्ता पश्चिममें और कालमध्या उत्तरमें स्थित है। इस प्रकार यहाँ इन नगरियोंके विस्तारादिको भी दिखलाकर अन्तमें भवनत्रिक देवोंमें लेश्याका निर्देश करते हुए उन पिशाचादि व्यन्तरोंमें गणिकामहत्तरोंके नामोल्लेखपूर्वक उनकी आयु व शरीरकी ऊंचाई आदिका भी कथन किया गया है।

१० **स्वर्गविभाग**—इस प्रकरणमें ३४९ श्लोक हैं। ऊर्ध्वलोकविभागमें प्रथमतः भवनवासियोंके ऊपर क्रमशः नीचोपपातिक आदि विविध देवोंके व अन्तमें सिद्धोंके निवासस्थानका

निर्देश करके आगे उनके इस निवासस्थानकी ऊंचाईके प्रमाणके साथ आयुका भी प्रमाण बतलाया गया है। तत्पश्चात् वैमानिक देवोंके कल्पज और कल्पातीत इन दो भेदोंका निर्देश करके बारह कल्पभेदोंका उल्लेख इस प्रकारसे किया गया है — १ सौधर्म २ ऐशान ३ सनत्कुमार ४ माहेन्द्र ५ ब्रह्मलोक ६ लान्तव ७ महाशुक्र ८ सहस्रार ९ आनत १० प्राणत ११ आरण और १२ अच्युत। इसकी संगति यहां त्रिलोकसार की 'सोहम्मीसाणसणक्कुमार–' इत्यादि तीन (४५२–५४) गाथाओंको उद्धृत करके इन्द्रोंकी अपेक्षासे बैठायी गई है। इन कल्पोंके ऊपर क्रमसे तीन अधोग्रैवेयक, तीन मध्य ग्रैवेयक, तीन उपरिम ग्रैवेयक, नौ अनुदिश, पांच अनुत्तर विमान और अन्तमें ईषत्प्राग्भार पृथिवीका अवस्थान निर्दिष्ट किया गया है। समस्त विमान चौरासी लाख (८४०००००) हैं।

ऊर्ध्वलोकमें जो ऋतु आदि तिरेसठ (६३) पटल हैं उनके ठीक बीचमें इन्हीं नामोवाले तिरेसठ इन्द्रक विमान हैं। इनमें सौधर्म-ऐशानमें इकतीस, सनत्कुमार-माहेन्द्रमें सात, ब्रह्ममें चार, लान्तवमें दो, महाशुक्रमें एक, सहस्रारमें एक, आनतादि चार कल्पोमें छह, तीन अधोग्रैवेयकोंमें तीन, मध्यम तीनमें तीन, उपरिम तीनमें तीन, नौ अनुदिशमें एक और अनुत्तर विमानोंमें एक ही पटल है[1]।

जिस प्रकार तिलोयपण्णत्तीमें[2] सोलह कल्पविषयक मान्यताभेदका उल्लेख करके उन उन कल्पोमें विमानसंख्याके कथनकी प्रतिज्ञा करते हुए आगे तदनुसार उनकी संख्याका निरूपण किया गया है ठीक इसी प्रकारसे यहां (१०–३६) भी उक्त मान्यताका निर्देश करके सोलह कल्पोंके आश्रयसे विमानसंख्याका कथन किया गया है। इस प्रसंगमें आगे जैसे ति. प. में[3] आनत-प्राणत और आरण-अच्युत कल्पोंमें वह विमानसंख्या एक मतसे ४४०+२६०=७०० तथा दूसरे मतसे ४००+३००=७०० निर्दिष्ट की गई है ठीक उसी प्रकारसे उन दोनों ही मान्यताओंके आश्रयसे यहां (१०, ४२-४३) भी वह संख्या उसी प्रकारसे निर्दिष्ट की गई है। इसके आगे ग्रैवेयकादि कल्पातीत विमानोंमें भी उक्त विमानसंख्याका निरूपण करते हुए संख्यात व असंख्यात योजन विस्तृत विमानों, समस्त श्रेणीबद्ध विमानों तथा पृथक् पृथक् कल्पादिके आश्रित श्रेणीबद्ध विमानोंकी संख्या निर्दिष्ट की गई है।

प्रथम ऋतु इन्द्रकका विस्तार मनुष्यलोक प्रमाण ४५ लाख यो. है। इसके आगे द्वितीयादि इन्द्रकोंके विस्तारमें उत्तरोत्तर ७०९६७$\frac{२}{३}\frac{३}{१}$ यो. की हानि होती गई है। अन्तिम सर्वार्थसिद्धि इन्द्रका विस्तार १ लाख यो. है। यहां इन विमानोंमें कितने श्रेणीबद्ध विमान किस

---

१. लो. वि १०, २५–३५; ति. प. ८, १३७–४७; त्रिलोकसार (४६२) में इन कल्पाश्रित इन्द्रकोंकी संख्या मात्रका निर्देश किया गया है, कल्पनामोंका निर्देश कर उनके साथ संगति नहीं बैठायी गई है। परन्तु टीकाकार श्री माधवचन्द्र त्रैविद्य देवने १६ कल्पोंके आश्रित उनकी संगति बैठा दी है।

२. जे सोलस कप्पाइं केई इच्छंति ताण उपएसे। तस्सि तस्सि वोच्छं परिमाणाणि विमाणाणं॥ ति.प.८–१७८.

३. आणदपाणदकप्पे पंचसया सट्ठिविरहिदा होंति।
आरणअच्चुदकप्पे दुसयाणि सट्ठिजुत्ताणि॥
अहवा आणदजुगले चत्तारि सयाणि वरविमाणाणि।
आरणअच्चुदकप्पे सयाणि तिण्णि च्चिय हुवंति॥ ति. प. ८, १८४–८५

द्वीप-समुद्रके ऊपर अवस्थित हैं, इसका निर्देश करते हुए उन विमानोंके आधार, वाहल्य, विमान-गत प्रासादोंकी ऊंचाई और उन विमानोंके वर्णका भी कथन किया गया है।

किस प्रकारके जीव किन देवोंमें उत्पन्न होते हैं तथा वहांसे च्युत हुए जीव किस किस अवस्थाको प्राप्त करते हैं और किस किस अवस्थाको नहीं प्राप्त करते हैं, इसकी भी प्रसंगवश प्ररूपणा करते हुए आगे सौधर्मादि इन्द्रोंके मुकुटचिह्न, अवस्थान, नगरोंके विस्तारादि, देवीसंख्या और उन देवियोंमें अग्रदेवियोंके प्रासादोंका भी कथन किया गया है। साथ ही उक्त सौधर्मादि इन्द्रोंके परिवार देव-देवियोंकी संख्या, आयु, आहार और उच्छ्वासकालका निर्देश करते हुए सुधर्मा सभाकी भव्यताका निरूपण करके इन्द्रके सुखोपभोगकी सामग्री दिखलायी गई है। अन्तमें यहां वैमानिक देवोंमें प्रवीचारकी मर्यादा, शरीरकी ऊंचाई, लेश्या, विक्रिया, अवधिज्ञानका विषय, देव-देवियोंके उत्पत्तिस्थान, देवोंके जन्म-मरणका अन्तर, इन्द्रोंका विरहकाल, लौकान्तिक देवोंका अवस्थान व उनके भेदभूत सारस्वतादि लौकान्तिकोंकी संख्या, तथा उत्पत्तिके पश्चात् स्वर्गीय अभ्युदयको देखकर नवजात देवोंका आश्चर्यान्वित होते हुए पुण्यका फल जान प्रथमतः जिनपूजामें प्रवृत्त होना; इत्यादिका कथन करते हुए इस प्रकरणको समाप्त किया गया है।

११ **मोक्षविभाग**— इस प्रकरणमें ५४ श्लोक हैं। यहां सिद्धोंके निवासस्थानभूत ईषत्-प्राग्भार पृथिवीके विस्तारादिको दिखलाकर उनके अवस्थान, अवगाहना, विशेष स्वरूप, उनके स्वाभाविक सुख और सांसारिक सुखकी तुलना तथा लोककी समस्त व पृथक् पृथक् ऊंचाई एवं विस्तारकी प्ररूपणा की गई है। अन्तमें कैसा जीव सिद्धिको प्राप्त करता है, इसका उपसंहाररूपसे निर्देश करके अन्तिम प्रशस्तिमें ग्रथकी रचना व उसके प्रमाणादिका निरूपण किया गया है।

४. ग्रन्थकार

प्रस्तुत ग्रन्थके रचयिता सिंहसूरर्षि हैं। ग्रन्थके अन्तमें जो उन्होंने अतिशय संक्षिप्त प्रशस्ति दी है उसमें अपना व अपनी गुरुपरम्परा आदिका कुछ भी परिचय नहीं दिया है। जैसा कि ग्रन्थ-परिचयमें लिखा जा चुका है, वहां उन्होंने इतना मात्र निर्देश किया है कि श्री वर्धमान जिनेन्द्रके द्वारा समवसरण सभामें जो लोकविषयक उपदेश दिया गया था वह सुधर्मादि गणधर तथा अन्य आचार्योंकी परम्परासे जिस रूपमें प्राप्त हुआ उसी रूपमें उस लोकका वर्णन भाषामात्रके परिवर्तनसे इस ग्रन्थ द्वारा किया गया है। इतने मात्रसे उनके विषयमें कुछ विशेष परिज्ञात नहीं होता। सिंहसूरर्षि यह नाम भी कुछ विचित्र-सा है। सम्भव है वे भट्टारक परम्पराके विद्वान् रहे हों। ग्रन्थके विवरणोंसे यह अवश्य जाना जाता है कि ग्रन्थकारका लोकविषयक ज्ञान उत्तम था और उन्होंने अपने पूर्ववर्ती लोकविषयक ग्रन्थोंका— विशेष कर वर्तमान तिलोयपण्णत्ती, हरिवंशपुराण और त्रिलोकसार आदिका— अच्छा परिशीलन किया था।

५. ग्रन्थका वैशिष्टच

यद्यपि प्रस्तुत लोकविभागकी रचना वर्तमान तिलोयपण्णत्ती, हरिवंशपुराण, आदि-पुराण, त्रिलोकसार और जंबूदीवपण्णत्ती आदि ग्रन्थोंके पर्याप्त परिशीलनके साथ उनके पश्चात्

ही हुई है[१], फिर भी उसमें कुछ ऐसी विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं जिससे यह अनुमान होता है कि इसके रचयिताके सामने सम्भवतः लोकानुयोगका कोई अन्य ग्रन्थ भी अवश्य रहा है[२]। वे विशेषतायें ये हैं —

१. इसके चतुर्थ विभागमें जो राजुके अर्धच्छेदोंके पतनकी प्ररूपणा की गई है वहां २३वें श्लोकमें राजुका एक अर्धच्छेद भारतान्त्यमें, एक निषध पर्वतपर और दो कुरुक्षेत्रोंमें भी निर्दिष्ट किये गये हैं। उनका निर्देश तिलोयपण्णत्ती (पृ. ७६५), धवला (पृ. ४, पृ. १५५ व १५६) और त्रिलोकसार (गा. ३५२-५८) में नही पाया जाता है।

२. यहाँ पांचवें विभागके १३वें श्लोकमें कल्पागों (कल्पवृक्षों) के साथ दस जातिके वृक्षोंका निर्देश किया गया है। आगे १४-२३ श्लोकोंमें उसी क्रमसे नौ प्रकारके वृक्षोंकी फल-दानशक्तिका उल्लेख करके २४ वें श्लोकमें दसवें भेदभूत उन कल्पागों (सामान्य वृक्ष-वेलियों) का उल्लेख किया गया है। यहां दीपांग जातिके वृक्षोंका निर्देश नहीं किया गया है। सम्भव है ज्योतिरंग वृक्षोंके प्रकाशमें दीपोंकी निरर्थकताका अनुभव किया गया हो। इन दस प्रकारके कल्पवृक्षोंमें दीपांग जातिके कल्पवृक्षोंका उल्लेख तिलोयपण्णत्ती (४–३४२; ८२९), हरिवंश-पुराण (७–८०), आदिपुराण (३–२९), ज्ञानार्णव (३५–१७५) और त्रिलोकसार (७८७) आदि अनेक ग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है। साथ ही उक्त ग्रन्थोंमें कल्पाग वृक्षोंकी एक पृथक् भेद स्वरूपसे उपलब्धि भी नहीं होती। इसके अतिरिक्त यह भी एक विशेषता यहां दृष्टिगोचर होती है कि जिस क्रमसे इन वृक्षोंके नामोंका निर्देश त्रिलोकसारमें किया गया है, ठीक उसी क्रमसे प्रायः पर्याय शब्दोंमें उन वृक्षोंके नामोंका निर्देश यहां भी किया गया है[३]। त्रिलोकसारमें जहां 'दीवंगेहि दुमा दसहा' ऐसा कहा गया है वहां इस लोकविभागमें 'कल्पागैर्दशधा द्रुमाः' ऐसा कहा गया है। साथ ही यहां भाजनांगके लिये जो 'भृङ्गाङ्ग' शब्दका उपयोग किया गया है, वह भी अपनी अलग विशेषता रखता है। कारण यह कि भृङ्ग शब्दका अर्थ कोशके अनुसार सामान्य या किसी विशेष भाजनरूप नहीं होता है। सम्भवतः यहां 'भृङ्गार' के एक देशरूपसे 'भृङ्ग' का उपयोग किया गया है।

३. इसी पांचवें विभागके ३५-३७ श्लोकोंमें क्षेत्रोंके साथ अढाई द्वीपके तीस कुलपर्वतोंके ऊपर भी सुषमा-सुषमा आदि विविध कालोंके प्रवर्तनका निर्देश किया गया है। इस प्रकारका उल्लेख अन्यत्र कहीं देखनेमें नहीं आया[४]।

४. छठे विभागमें चन्द्रके परिवारकी प्ररूपणा करते हुए श्लोक १६५-६६ में कुछ ही ग्रहोंका नामनिर्देश करके उन्हें चन्द्रके परिवारस्वरूप कहा गया है। परन्तु ति. प. (७, १४-२२)

---

१. इसका कारण यह है कि इसमें उक्त ग्रन्थोंके नामनिर्देशपूर्वक अनेक उद्धरण पाये जाते हैं।

२. ग्रन्थकारने अन्तिम प्रशस्तिमें सर्वनन्दिविरचित शास्त्रका स्वयं उल्लेख किया है।

३. तूरंग-पत्त-भूसण-पाणाहारंग-पुप्फ-जोइतरू।
गेहंगा वत्थंगा दीवंगेहिं दुमा दसहा ॥ त्रि. सा. ७८७.
मृदङ्ग-भृङ्ग-रत्नाङ्गाः पान-भोजन-पुष्पदाः।
ज्योतिरालय-वस्त्राङ्गाः कल्पागैर्दशधा द्रुमाः ॥ लो. ५–१३

४. देखिये ति. प. महा. ४ गा. १६०७, १७०३, १७४४ और २१४५ (इस गाथामें निषध शैलका निर्देश अवश्य किया गया है) तथा त्रि. सा. गा. ८८२–८४

और त्रिलोकसार (३६२-७०) में चन्द्रके परिवारभूत ८८ ग्रहोंकी संख्या व उनके पृथक् पृथक् नाम भी निर्दिष्ट किये गये हैं। प्रस्तुत लोकविभागमें एक चन्द्रके ग्रह कितने होते हैं, इस प्रकार उनकी किसी नियत संख्याका निर्देश नहीं किया है। यहां जो उनके कुछ नाम निर्दिष्ट किये गए हैं उनमें कुछ नाम भिन्न भी दिखते हैं। यद्यपि इस प्रकरणके अन्तमें उपसंहार करते हुए ८८ ग्रहोंको ज्योतिष ग्रन्थसे देखनेका संकेत किया गया दिखता है, परन्तु इसके लिए 'अष्टाशीत्यस्तारकोरुग्रहाणां चारो वक्रं' आदि जिन पदोंका प्रयोग किया गया है वे भाषाकी दृष्टिसे कुछ असम्बद्ध-से प्रतीत होते हैं।

५. छठे विभागमें १९७-२०० श्लोकोंमें रौद्र-श्वेतादि कितने ही नाम निर्दिष्ट किये हैं, परन्तु वहां क्रियापदका निर्देश न होनेसे ग्रन्थकारका अभिप्राय अवगत नहीं हुआ। अन्तमें वहां जो 'मुहूर्तोऽन्योऽरुणो मतः' यह कहा गया है उससे वे मुहूर्तभेद प्रतीत होते हैं। इस प्रकारके नामोंका उल्लेख तिलोयपण्णत्ती और त्रिलोकसारमें उपलब्ध नहीं होता।

६. नौवें विभागमें ७८-८५ श्लोकोंके द्वारा पिशाचादि व्यन्तर निकायोंमें १६ इन्द्रोंकी ३२ महत्तरियोंके नामोंका उल्लेख किया गया है। इसमें नाम सब स्त्रीलिंग ही हैं, परन्तु उनका उल्लेख किया गया है महत्तर-स्वरूपसे। यथा—गणिकानां महत्तराः। यहां 'महत्तराः' यह पद न तो अशुद्ध प्रतीत होता है और न उनके स्थानमें 'महत्तर्यः' जैसे पदकी भी सम्भावना की जा सकती है। तिलोयपण्णत्ती (६-५०) में 'गणिकामहल्लियाओ दुवे दुवे रूववंतीओ' रूपसे महत्तरी स्वरूपमें ही उनका उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार त्रिलोकसार (२७५) में भी 'गणिकामहत्तरीयो' के रूपमें उनका उल्लेख महत्तरीस्वरूपसे ही किया गया है।

७. दसवें विभागमें ९३-१४९ श्लोकोंमें सौधर्मादिक १४ इन्द्रोंकी प्ररूपणा की गई है[1]। उनमें आनत और प्राणत इन्द्रोंका उल्लेख नहीं पाया जाता है। यह १४ इन्द्रोंका अभिमत तिलोयपण्णत्तीमें उपलब्ध नहीं होता। वहां (८-२१४) बारह कल्पोंके आश्रयसे १२ इन्द्रोंका ही उल्लेख पाया जाता है[2]। त्रिलोकसार (५५४) में १२ और जंबूदीवपण्णत्ती (५, ९२-१०८) में १६ इन्द्र निर्दिष्ट किये गये हैं। हां, उपर्युक्त १४ इन्द्रोंकी मान्यता श्री भट्टाकलंक देवको अवश्य अभीष्ट है। वे अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें कहते हैं —

---

१. इसी ग्रन्थमें आगे सामानिक (१५०-५२) और देवियोंकी (१६२-७८) संख्याप्ररूपणामें प्राणत और अच्युत इन्द्रोंका उल्लेख न करके सौधर्मादि १४ इन्द्रोंका निर्देश किया गया है। आत्मरक्ष देवोंकी संख्याप्ररूपणामें (१५४-५७) १६ इन्द्रोंका उल्लेख पाया जाता है।

२. यहांपर सामानिक (२१९-२२), तनुरक्ष (२२४-२७), पारिषद (२२८-३३) और देवियोंकी संख्याप्ररूपणामें भी इसी क्रमसे १२ इन्द्रोंका ही उल्लेख पाया जाता है। सात अनीकों सम्बन्धी प्रथम कक्षाकी संख्याप्ररूपणा (८,२३८-४६) में १० इन्द्रोंका ही उल्लेख पाया जाता है। सम्भव है प्रतिमें वहां लिपिकारके प्रमादसे आनत-प्राणत इन्द्रोंकी निर्देशक गाथा छूट गई हो। इसी प्रकार आगे गाथा ३६३ का पाठ भी स्खलित हो गया प्रतीत होता है। इसके पूर्व ५ वें महाधिकारमें नन्दीश्वर दीपका वर्णन करते हुए अष्टाह्निक पर्वमें जिनपूजा-महोत्सवके निमित्त जानेवाले इन्द्रोंका उल्लेख किया गया है। उनमें लान्तव और कापिष्ठको छोडकर १४ इन्द्रोंका ही निर्देश पाया जाता है। पता नहीं इन दो इन्द्रोंकी निर्देशक गाथायें ही वहां स्खलित हो गई हैं या फिर वैसा कोई मतभेद ही रहा है।

त एते **लोकानुयोगोपदेशेन** चतुर्दशेन्द्रा उक्ताः। इह द्वादश इष्यन्ते, पूर्वोक्तेन क्रमेण ब्रह्मोत्तर-कापिष्ठ-महाशुक्र-सहस्रारेन्द्राणां[1] दक्षिणेन्द्रानुवर्तित्वात् आनत-प्राणतयोश्च एकैकेन्द्रत्वात्। त. वा. ४, १९, ८.

तत्त्वार्थवृत्तिके कर्ता श्री श्रुतसागर सूरि तत्त्वार्थवार्तिकके अनुसार १४ इन्द्रोंका वर्णन करते हुए उस मान्यतासे विशेष खिन्न दिखते हैं। वे कहते हैं —

किं क्रियते? **लोकानुयोगनाम्नि** सिद्धान्त आनत-प्राणतेन्द्रौ नोक्तौ, तन्मतानुसारेण इन्द्राश्चतुर्दश भवन्ति। मया तु द्वादश उच्यन्ते। यस्मात् ब्रह्मेन्द्रानुवर्ती ब्रह्मोत्तरेन्द्रः, लान्तवेन्द्रानुवर्ती कापिष्ठेन्द्रः, शुक्रेन्द्रानुवर्ती महाशुक्रेन्द्रः, शतारेन्द्रानुवर्ती सहस्रारेन्द्रः। सौधर्मैशान-सानत्कुमार-माहेन्द्रेषु चत्वारा इन्द्राः आनत-प्राणतारणाच्युतेषु चत्वार इन्द्राः। तेन कल्पवासीन्द्राः द्वादश भवन्ति। त. वृ. ४–१९.

इस १२ और १६ कल्पविषयक प्रबल मतभेदके कारण वैमानिक देवोंकी प्ररूपणामें प्रायः कहीं भी एकरूपता नहीं रह सकी है।

८. प्रस्तुत ग्रन्थमें कुछ विशिष्ट शब्दोंका प्रयोग भी देखा जाता है। यथा – 'रुक्मी' के लिये 'रुग्मी' (१–१२)[2], युगलके लिये 'निगोद'[3] (५–१६०), रात्रि-दिनकी समानताके लिये 'इपुप' (६–१५०, १५४, १६१–६३) और 'विषुव'[4] (६–१५१, १५५-५७), शुचि व अशुचिके लिये 'चौक्ष' व 'अचौक्ष'[5] (९–१२), सम्भवतः पीठ अथवा चैत्यवृक्षके लिये 'आयाग'[6] (९–५७, ५८ तथा १०–२६२, २६६), कापिष्ठके लिये सर्वत्र 'कापित्थ' (१०–६४, १२७, १७३, ३०४ आदि), करण्डकके लिये 'समुद्गक'[7] तथा ह्रस्वके लिये दभ्र[8] (९–१४) आदि।

६. ग्रन्थका वृत्त और भाषा

वृत्त— सम्पूर्ण ग्रन्थ प्रायः अनुष्टुप् छन्दमें लिखा गया है। इस वृत्तके प्रत्येक चरणमें ८–८ अक्षर हुआ करते हैं। उसका लक्षण इस प्रकार देखा जाता है—

---

१ ति. प. गा. ८–१३३के अनुसार ब्रह्म, लान्तव, महाशुक्र और सहस्रार ये चार कल्प मध्यमें अवस्थित हैं। कल्पोंके नामानुसार इन्द्रोंके भी नाम ये ही हैं।

२. आगे भी रुक्मी पर्वतके लिये यही शब्द प्रयुक्त हुआ है।

३. देखिये ति. प. ४, १५४७-४८ और त्रि. सा. ८६५.

४. ति. प. में इसके लिये 'विसुप' (७–५३७), विसुय (७–५३९, ५४०) और 'उसुन' (७–५४१, ५४३ आदि) शब्दोंका तथा त्रि. सा. में 'इसुप' (४२१, ४२७, ४२९-३०) और 'विसुप' (४२६) शब्दोंका प्रयोग किया गया है।

५. ति. प. ६–४८ और त्रि. सा. २७१ में इनके स्थानमें 'चोक्खा' और 'अचोक्खा' पदोंका प्रयोग किया गया है। पा. स. म. के. अनुसार 'चोक्ख' शब्द देशी है।

६. यह या इसी प्रकारका अन्य कोई शब्द ति. प. और त्रि. सा. में दृष्टिगोचर नहीं होता।

७. ति. प. ८, ४००-४०२ तथा त्रि. सा. ५२०-२१ 'करंड' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। अमरकोश (२,६,१३९) में इसका पर्याय शब्द 'संपुट' उपलब्ध होता है।

८. सूक्ष्मं श्लक्ष्णं दभ्रं कृशं तनुः॥ अ. को. ३, १, ६१.

पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्वि-चतुर्थयोः। गुरु षष्ठं तु पादानां शेषेष्वनियमो मतः॥

इस लक्षणके अनुसार उसके प्रत्येक चरणमें पांचवां अक्षर लघु और छठा दीर्घ होना चाहिये। सातवां अक्षर द्वितीय और चतुर्थ चरणमें ह्रस्व हुआ करता है। प्रस्तुत ग्रन्थमें कहीं कहीं इस नियमकी अवहेलना देखी जाती है। यथा – अशीतिरेवेशानस्य (१०–१५०), यहां पांचवां अक्षर दीर्घ तथा 'पुष्करार्धाद्यवलये' (६–३६), यहां षष्ठ अक्षर दीर्घ न होकर ह्रस्व है[1]।

किसी किसी श्लोकके चरणमें यहां ७ ही अक्षर पाये जाते हैं। जैसे – श्लोक ४–१९ के चतुर्थ चरणमें[2]। इसी प्रकार किसी किसी चरणमें ९ भी अक्षर पाये जाते हैं। जैसे– श्लोक १–३३४ के प्रथम चरणमें[3]।

श्लोकमें प्रथम चरणके अपूर्ण पदकी पूर्ति द्वितीय चरणमें तो देखी जाती है, परन्तु द्वितीय चरणके अपूर्ण पदकी पूर्ति तृतीय चरणमें नहीं देखी जाती। प्रस्तुत ग्रन्थमें कहीं कहीं इसका अपवाद देखा जाता है। जैसे ––

मानुषोत्तरशैलाश्च द्वीपसागरवेदिका-मूलतो नियुतार्धेन ततो लक्षेण मण्डलम् ॥ ६–३५.

यहां 'वेदिकामूलतः' पद अपेक्षित है जो द्वितीय चरणमें अपूर्ण रहकर तृतीय चरणमें पूर्ण हुआ है। यह क्रम ५–२०, ६–१२३ (ब), ६–१८०, ७–४३, ७–४८ और १०–२५८ आदि अन्य श्लोकोंमें भी देखा जाता है।

भाषा– प्रस्तुत ग्रन्थका बहुभाग – जैसा कि आप आगे देखेंगे – तिलोयपण्णत्ती, हरिवंश-पुराण, आदिपुराण और त्रिलोकसार आदि अन्य ग्रन्थोंके आश्रयसे रचा गया प्रतीत होता है। इसमें ग्रन्थकार सिंहसूरर्षिकी जितनी स्वतःकी रचना है उसकी भाषा शिथिल, दुरवबोध और कहीं कहीं शब्दशास्त्रगत नियमोंके भी विरुद्ध दिखती है। उदाहरणार्थ यह श्लोक देखिये ––

षड्युग्मशेषकल्पेषु आदिमध्यान्तवर्तिनाम्। देवीनां परिषदां संख्या कथ्यते च यथाक्रमम् ॥ १०-१७९

यहां ग्रन्थकार इस श्लोकके द्वारा यह भाव प्रदर्शित करना चाहते हैं कि अब आगे पृथक् पृथक् सौधर्म-ऐशानादि छह युगलों और आनतादि शेष कल्पचतुष्कमें क्रमसे आदिम,

---

१. पांचवें अक्षरके दीर्घ होनेके उदाहरणस्वरूप निम्न अन्य श्लोक भी देखे जा सकते हैं — १–३५१, ४–१९, ४–२३, ५–३३, ५–९०, ७–८३, ७–९२, ८–७, ८–४६, ८–७३, ९–७५, १०–२३, १०–९३ आदि। इसी प्रकार छठे अक्षरके ह्रस्व होनेके भी ये अन्य उदाहरण देखे जाते हैं — ५–९०, ६–१३१, ६–१४८, ९–७५ आदि।

२. इसके अतिरिक्त इन श्लोकोंके भी किसी किसी पादमें ७ ही अक्षर पाये जाते हैं— ४–२३, ५–३३, ७–६५, १०–६८ आदि।

३. इसी प्रकार निम्न श्लोकोंके भी किसी किसी पादमें ९ अक्षर देखे जाते हैं— ६–१०३, ६–१३१, ६–१४८, ७–५०, ८–१७, ८–३२, ९–१८, ९–३३ आदि। श्री पण्डित आशाधरजीके मतानुसार ९ अक्षर दोषकारक नहीं माने जाते हैं। वे सा. ध. ७–८ श्लोककी टीकामें कहते हैं —

अत्र च द्वितीयपादे नवाक्षरत्वं न दोषाय, अनुष्टुभि नवाक्षरस्यापि पादस्य शिष्टप्रयोगे क्वापि क्वापि दृश्यमानत्वात्। यथा —'ऋषभाद्या वर्धमानान्ता जिनेन्द्रा दश पञ्च च' इत्यादिषु। अथवा 'हरि-ताङ्कुरबीजाम्बुलवणाद्यप्रासुकं त्यजन्' इति पाठः।

मध्यम और अन्तिम पारिषद देवोंकी देवियोंका प्रमाण कहा जाता है । परन्तु श्लोकगत पदविन्यासमें यह भाव सहसा अवगत नहीं होता। कारण कि यहां जो 'आदिमध्यान्तर्वर्तिनाम्' पद है उसके अन्तर्गत आदि, मध्य और अन्त इन शब्दोंसे क्या विवक्षित है; यह स्पष्ट नहीं होता । यदि इन तीन शब्दोंसे तीन पारिषदोंकी विवक्षा है तो प्रथम उनके निर्देशके विना इन विशेषणरूप शब्दोंसे उन पारिषदोंका ग्रहण कैसे हो, यह विचारणीय है। दूसरे, वैसी अवस्थामें आगे प्रयुक्त 'परिषदां' पद व्यर्थ ठहरता है । यदि उक्त पदको 'देवीनां' अथवा 'परिषदां' पदका विशेषण माना जाय तो लिंगभेदसे वह भी सम्भव नहीं है ।

इसी प्रकरणमें आगेका यह दूसरा श्लोक भी देखिये --

कालर्द्धिपरिवाराश्च विक्रिया चेन्द्रसंश्रिताः । तादृशस्तत्प्रतीन्द्रेषु त्रायस्त्रिशसमेष्वपि ॥१०-१८२.

भाव यहां यह अभीष्ट दिखता है कि आयु, ऋद्धि, परिवार और विक्रिया; ये चारों जिस प्रमाणमें किसी विवक्षित इन्द्रके हुआ करते हैं उसी प्रमाणमें वे उसके प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिंश और सामानिक देवोंके भी हुआ करते हैं। अब इसके लिए उक्त श्लोकके अन्तर्गत शब्दोंपर विचार कीजिये । सर्वप्रथम यहां आयुके लिये जिस व्यापक 'काल' शब्दका उपयोग किया गया है उससे सहसा आयुका बोध नहीं होता है[1] । इसके लिये 'आयु' या 'स्थिति' जैसे किसी प्रसिद्ध शब्दका ही उपयोग किया जाना चाहिये था। इसी प्रकार सामानिक जातिके देवोंके ग्रहणार्थ जिस 'सम' शब्दका उपयोग किया गया है वह भी शास्त्रीय दृष्टिसे उचित नहीं है। दूसरे वह भ्रान्तिजनक भी है। कारण कि 'त्रायस्त्रिंशसमेषु' को 'प्रतीन्द्रेषु' का विशेषण मानकर 'त्रायस्त्रिंशोंके समान प्रतीन्द्रोंमें भी' ऐसा भी उससे अर्थ निकला जा सकता है। इसके अतिरिक्त 'तादृशः' पद भी 'यादृशः' पदकी अपेक्षा करता है, जिसका निर्देश यहां नहीं किया गया है। दूसरे उसका सम्बन्ध किससे है यह भी ठीकसे नहीं जाना जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थमें कितने ही श्लोक ऐसे हैं जो अर्थकी दृष्टिसे अपूर्ण हैं । जसे-- दसवें विभागमें १८९-९० श्लोकोंके द्वारा सौधर्म इन्द्रकी ७ अनीकोंकी प्रथमादि सात कक्षाओंके अनुसार पृथक् पृथक् व समस्त भी संख्या निर्दिष्ट की गई है। परन्तु उक्त श्लोकोंमें सौधर्म इन्द्रका वोधक कोई भी शब्द नहीं दिया गया है। फिर आगे और भी यह विशेषता की गई है कि श्लोक १९१ में 'शेषाणां' पदके द्वारा अन्य शेष (?) इन्द्रोंकी अनीकोंकी प्रथम

---

१. प्रस्तुत ग्रन्थमें ऐसे अनेक शब्दोंका उपयोग किया गया है । जैसे – संख्यांकोंके लिये 'स्थानक' (२ – ४), लवणसमुद्रके लिये 'जले' (६ – १२८), विक्रिया करनेके अर्थ में प्रकुर्वते (१० – १६३), उच्छ्वासकालके लिये 'उच्छ्वसनक्षणं' (१० – २१५), सेनामहत्तरीके लिये 'अग्रा' (१० – १८५), जघन्य आयुके लिये 'अल्पकं' व 'अल्पं' (१० – २३२, २३३), उत्कृष्ट आयुके लिये 'महत्' (१० – २३९), सौधर्म इन्द्रके लिये 'दक्षिणे' (१० – २७९), स्वाभाविकोंके लिये 'स्वभावानि' (१० – २७३), छह हाथ ऊंचेके लिये 'षट्कहस्तकाः' (१० – २८५) इत्यादि। इसी प्रकार विस्तीर्ण और विस्तारके लिये 'रुन्द्र' (१० – १११, ११६, ११७, १२५ आदि)। प्राकृतमें जो 'रुंद शब्द पाया जाता है उसे यहां 'रुन्द्र' के रूपमें लिया गया है। इसी प्रकारसे प्राकृतमें 'बाहिर' शब्दका उपयोग होता है। संस्कृतमें उसके स्थानमें 'बाह्य' शब्दका प्रयोग देखा गया है। परन्तु यहां वह उसी रूपमें (वाहिर) प्रयुक्त हुआ है (४ – १)। जहां जहां ग्रन्थका प्राकृतसे संस्कृतमें रूपान्तर किया जाता है, वहां वहां ऐसे प्रयोग विपुलतासे मिलते हैं।

कक्षाओंको अपने सामानिक देवोंके बराबर और द्वितीयादि कक्षाओंको उत्तरोत्तर उनसे दूना दूना निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रकारसे यहां प्रथम इन्द्रका उल्लेख न करके 'शेषाणां' पदके द्वारा अवशिष्ट इन्द्रोंका ग्रहण करना उचित नहीं कहा जा सकता है[1]। दूसरे, जब यह एक सामान्य नियम है कि प्रत्येक इन्द्रकी सातों अनीकोंकी प्रथम कक्षाओंका प्रमाण अपने अपने सामानिक देवोंके बराबर ही हुआ करता है तब उक्त दोनों श्लोक (१८९–९०)ही व्यर्थ सिद्ध होते हैं। कारण कि उक्त अर्थकी सिद्धि एक मात्र १९१वें श्लोकसे हो सकती थी। केवल वहां 'शेषाणां' के स्थानमें 'इन्द्राणां' जैसे किसी अन्य पदकी अपेक्षा थी।

इसी प्रकार आगे श्लोक १९९ में भी सौधर्म व ईशान इन्द्रोंका उल्लेख न करके ही आगे २००वें श्लोकमें 'परयोः' पदके द्वारा सनत्कुमार और माहेन्द्र इन्द्रोंको ग्रहण किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थमें कुछ प्रयोग कोश व व्याकरणके विरुद्ध भी दिखते हैं। उदाहरणके लिये 'विस्तार' शब्द पुल्लिग माना जाता है। परन्तु उसका प्रयोग यहां नपुंसकलिंगमें भी देखा जाता है[2]। सत्तरह संख्याके लिये 'सप्तदश' शब्दका प्रयोग देखनेमें आता है। परन्तु यहां वह 'सप्तादश' के रूपमें प्रयुक्त हुआ है[3]। श्लोक १०–१०५ में 'अतिक्रमण करके' या 'जा करके' इस अर्थमें 'व्यतिपत्य' और श्लोक १०–१४२ में 'ऊपर जाकर' इस अर्थमें 'उत्पद्य' पदका उपयोग किया गया है। श्लोक १०–४५ में 'विमानगणना इमे' ऐसा प्रयोग देखा जाता है जब कि 'गणना' शब्द स्त्रीलिंग और 'इमे' यह बहुवचनान्त पुल्लिग है। इसी प्रकार 'इति' के पश्चात् यदि 'क्त' प्रत्ययान्त कृदन्त पदका प्रयोग किया जाता है तो वह एकवचनान्त नपुंसकलिंगमें किया जाता है। परन्तु यहां 'इति' का उपयोग करके भी उसका प्रयोग कर्मपदगत लिंग व वचनके अनुसार किया गया है। जैसे– भवन्तीति निश्चिता (७–५०), अष्टानामिति वर्णिताः (१०–११७), देवीनामिति वर्णिताः (१०–१४७), तावन्त्य इति भाषिताः (१०–२००) इत्यादि।

इनके अतिरिक्त शब्द व समास आदिकी दृष्टिसे निम्न प्रयोग भी यहां विचारणीय हैं–'राजाङ्गणं ततिः' (१–३५१), 'प्रासादा जातजातास्ते' (१–३५५), एकयोजनगते (३–२२), 'बाहिरस्त्रिकुसंस्थानाः' (८–७४), 'सुमेघ[घा]नामा च' (७–५४), 'वधबन्धनबाधाभिश्छिद (?)

---

१. इसी प्रकार इसके पूर्व श्लोक १६२ में सौधर्म इन्द्रकी अग्रदेवियोंके नामोंका उल्लेख किया गया है, परन्तु उक्त इन्द्रका बोधक वहां कोई भी शब्द नहीं दिया गया है। फिर भी तत्पश्चात् श्लोक १७८ में यह कह दिया है—सौधर्मदेवीनामानि दक्षिणेन्द्राग्रयोषिताम्। श्लोक १८५ में सौधर्म इन्द्रके नामोल्लेखके विना उसके सेनाप्रमुखोंके नामोंका निर्देश किया गया है। इस प्रकारसे उसके नामनिर्देशके विना उनका सम्बन्ध आगे श्लोक १८७ में निर्दिष्ट ईशान इन्द्रके साथ जुड़ जाता है।

२. श्लोक ८–७१.

३. श्लोक ६–११८, १२४ व १२७ आदि। श्लोक ६–१२४ में १७३ संख्याके लिये 'त्रिसप्ततिशतं' और श्लोक ६–१२६ में १७२ संख्याके लिये 'द्विसप्ततिशतं' जैसे पदोंका प्रयोग किया गया है, जिनसे क्रमशः ७३०० और ७२०० संख्याओंको ग्रहण किया जा सकता है। इसी प्रकार यहां ५० के लिये 'पञ्चाशतं' (१०–१००, १२१ व १३०), ३५ के लिये 'पञ्चत्रिंशतं' (१०–१३१) और ३० के लिये 'त्रिंशं' (१०–१३२), जैसे पदोंका प्रयोग किया गया है जब कि 'पंक्तिविंशति-त्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्-' इत्यादि सूत्र (अष्टा. ५।१।५९) के अनुसार 'पञ्चाशत्', 'पञ्चत्रिंशत्' व 'त्रिंशत्' रूप शुद्ध माने गये हैं।

ताडनतोदनैः' (८-१०९), 'यथा हरिणी वृषाः' (८-१२८), 'कुमार्गगतचरित्राः'(८-१२३), 'सहस्रारतोऽधिकाः' (८-८२), 'स्थावरानपि चैशानात् परतो यान्ति मानुषान्' (१०-८९), 'महिषमीनवत् (१०-९१), 'शते सार्धे च' (१०-१७३), 'शतद्वयं पुनः सार्धं' (१०-१७७) 'शाक्रयोः सोमयमयोः' (१०-२१३), 'अच्युतात्तु' (१०-२२२), 'उत्कृष्टमायुर्देवानां पूर्वं साधिकमल्पकम्' (१०-२३२), 'कल्पराजाहमिन्द्राणाम्' (१०-२३६), 'पल्यान्यर्धद्वयं चैव सेनान्यात्माभिरक्षिणाम्' (१०-२३७), 'क्रोशतत्पाददीर्घकः । व्यासाश्च' (१०-२५८), 'शतार्धायामविस्तीर्णाः' (१०-२६४), 'देवराजबहिःपुरात्' (१०-२६८), 'स्थितिरेवं गणिकानां ज्ञेया कन्दर्पा अपि चाद्ययोः' (१०-२८२), 'शरीरस्पर्शरूपकः शब्दचित्तप्रवीचाराः' (१०-२८४), 'पूर्वप्राप्तविजानता' (१०-३२८), 'धर्मास्तिकायतन्मात्रं गत्वा न परतो गताः' (११-८,), 'भक्तमृद्धि ....सर्वभावि च जानानाः ....सुखायन्ते' (११-१३) ; इत्यादि ।

यहां श्लोकोंके मध्यमें सम्भवतः छन्दकी दृष्टिसे पदोंके मध्यमें सन्धि नहीं की गई है। जैसे– नाम्ना अग्निवाहनः (७-३०), भवनस्थानानि अर्हदायतनानि (७-८५), च अयुतानि (८-५६), त्रिकोणाश्च ऐन्द्रकाः (८-७२), संज्ञाश्च अन्ये (९-२), समुद्रेषु असंख्येयेषु (९-१५), चत्वारि इन्द्रकाणि (१०-३०), च असंख्येया (१०-५६), यान्ति उत्कृष्टा (१०-८३), चैव अष्टानां (१०-११७), सहस्राणि अशीति (१०-१५०), च अग्रा (१०-१८५), क्रमेणैते ईशाना (१०-१८७), चैव अर्हदा (१०-२६३)– सार्धं इन्द्राः; इत्यादि ।

इ और उ के आगे किसी स्वरके रहनेपर इ के स्थानमें य् और उ के स्थानमें व् हो जाता है, यह एक सामान्य नियम है[1] । परन्तु जैनेन्द्र महावृत्ति (पृ. २३) में इस सम्बन्धमें एक अन्य मतका भी उल्लेख पाया जाता है । यथा —

भूवादीनां वकारोऽयं लक्षणार्थः प्रयुज्यते । इको यण्भिर्व्यवधानमेकेषामिति संग्रहाः ॥ १,२,१.

तदनुसार उक्त य् और व्, इ और उ के स्थानमें न होकर उनके आगे हुआ करते हैं। इस मतका अनुसरण कहीं कहीं प्रस्तुत ग्रन्थमें किया गया है। जैसे– वेश्मानि याद्दश (१-१३३), सहस्राणि यात्मरक्षाः (१-३६९), तु वशोकाख्यसुरस्य (१-३८१), सहस्राणि यमवास्याम् (२-७), षष्ठी युत्सर्पिण्याम् (५-१७६), तु वनुदिशानुत्तरे (१०-३०२); इत्यादि ।

७. ग्रन्थरचनाका काल

जैसा कि अन्तिम प्रशस्तिमें निर्दिष्ट किया गया है तदनुसार प्रस्तुत ग्रन्थके रचयिता सिंह-सूरर्षि (सिंहसूर ऋषि) हैं । उन्होंने इस प्रशस्तिमें अपने नाम मात्रका ही निर्देश किया है, इससे अधिक और कुछ भी अपना परिचय नहीं दिया। इसलिये वे किस परम्पराके थे तथा मुनि थे या भट्टारक, इत्यादि बातोंका निर्णय करना अशक्य है। हां, यह अवश्य है कि इस ग्रन्थमें उन्होंने तिलोयपण्णत्ती, आदिपुराण और त्रिलोकसारके अनेक पद्योंको कहीं ग्रन्थनामोल्लेखके[2] साथ

१. जैनेन्द्र १।२।१ और अष्टाध्यायी ६।१।७७.

२. देखिये पृ. ३३-३४, ४२-४३, ६७, ७३ और ८७ आदि।

और कहीं विना उल्लेखके भी उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त जैसा कि आप आगे देखेंगे, उन्होंने हरिवंशपुराणके भी अनेकों श्लोकोंको ग्रन्थोल्लेखके विना इस ग्रन्थके अन्तर्गत कर लिया है।

प्रस्तुत ग्रन्थके ११वें विभागमें पृ. २२४ पर 'उक्तं च त्रयम्' कहकर जो ३ गाथायें उद्धृत की गई हैं उनमें प्रथम २ गाथायें स्वामि-कुमार द्वारा विरचित स्वामि-कार्तिकेयानुप्रेक्षामें उपलब्ध होती हैं। स्वामि-कुमारका समय श्री. डॉ. ए. एन्. उपाध्येजीके द्वारा श्री. नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके पश्चात् और ब्रह्मदेवके पूर्व, अर्थात् ईसाकी १०वीं और १३वीं शताब्दिके मध्यका, अनुमानित किया गया है[1]। इससे इतना मात्र कहा जा सकता है कि कार्तिकेयानुप्रेक्षासे उन २ गाथाओंको प्रस्तुत ग्रन्थमें उद्धृत करनेवाले श्री सिंहसूरर्षि स्वामि-कुमारके पश्चात् हुए हैं। परन्तु उनके पश्चात् वे किस समयमें हुए हैं, इसके सम्बन्धमें सामग्रीके विना निश्चित कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। एक गाथा जंबूदीवपण्णत्ती (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति) की भी यहाँ नामनिर्देशके साथ उद्धृत पायी जाती है (देखिये पृ. ६७)। इससे उनके समयकी पूर्वावधिका कुछ निश्चय होता है। उक्त तीन ग्रन्थोंमें त्रिलोकसारका रचनाकाल प्रायः निश्चित है। वह चामुण्डरायके समसमयवर्ती आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके द्वारा विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दिके पूर्वार्धमें रचा गया है।

तिलोयपण्णत्तीका रचनाकाल यद्यपि निश्चित नहीं है, फिर भी उसकी रचना त्रिलोकसारके पूर्व हो गई निश्चित प्रतीत होती है। इन दोनों ग्रन्थोंकी विषयवर्णन पद्धति प्रायः समान है। विशेषता यह है कि तिलोयपण्णत्तीमें जहाँ किसी भी विषयका विस्तारसे वर्णन किया गया है वहाँ वह त्रिलोकसारमें संक्षेपसे, किन्तु फिर भी स्पष्टतासे किया गया है[2]। वैसे तो त्रिलोकसारमें ऐसी पचासों गाथायें पायी जाती हैं जो तिलोयपण्णत्तीसे मिलती-जुलती ही नहीं, वल्कि कुछ गाथायें तो उसी रूपमें ही वहाँ उपलब्ध होती हैं। इससे यद्यपि उन दोनोंकी पूर्वापरताका निश्चय सहसा नहीं किया जा सकता है, फिर भी एक गाथा ऐसी है जो त्रिलोकसारके तिलोयपण्णत्तीसे पीछे रचे जानेमें सहायक होती है। वह गाथा यह है --

केसरिमुहसुदिजिब्भादिट्ठी भूसीसवहुदि गोसरिसा।
तेणिह पणालिया सा वसहायारे त्ति णिद्दिट्ठा ॥ त्रि. ५८५.

इस गाथामें जिस प्रणालिकाको वृषभाकार निर्दिष्ट करके भी जिस रूपमें यहाँ उसके मुख, कान, जिह्वा और नेत्रोंको सिंहके आकार वतलाया गया है उस रूपमें यह वर्णन अस्वाभाविक व विकृत-सा हो जाता है। यथार्थ वात यह है कि त्रिलोकसारके कर्ताके सामने जो तिलोयपण्णत्तीकी 'सिंग-मुह-कण्ण-जीहा-लोयण-भूआदिएहि गोसरिसो' आदि गाथा (४-२१५) रही है उसका पाठ कुछ भ्रष्ट होकर 'सिंघमुह--' आदिके रूपमें रहा है। इससे सिंहकी भ्रान्ति हो जानेसे उन्होंने वहाँ सिंहके समानार्थक 'केसरि' शब्दका प्रयोग कर दिया

---

१. देखिये श्रीमद् राजचन्द्र शास्त्रमाला द्वारा प्रकाशित (ई. स. १९६०) स्वामि-कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी प्रस्तावना पृ. ६७-६९.

२. उदाहरणार्थ ति. प. में इन्द्रक नारक-विलोंके विस्तारका वर्णन जहां ५२ (२, १०५-५६) गाथाओं द्वारा किया गया है वहां त्रि. सा. में वह वर्णन एक ही गाथा (१६९) द्वारा कर दिया गया है।

है। इससे त्रिलोकसारके कर्ताके सामने तिलोयपण्णत्ती रही है व उसका उन्होंने पर्याप्त उपयोग भी किया है, यह निश्चित प्रतीत होता है।

जंबूदीवपण्णत्तीमें ऐसी कितनी ही गाथायें हैं जो त्रिलोकसारमें उसी रूपसे या कुछ थोड़े-से परिवर्तित रूपसे उपलब्ध होती हैं[1]। उसकी रचनाशैली कुछ शिथिल भी प्रतीत होती है। इससे अनुमान होता है कि उसकी रचना त्रिलोकसारके पश्चात् हुई है। ग्रन्थके अन्तमें ग्रन्थकारने यह संकेत भी किया है कि जंबूद्वीपसे सम्बद्ध अर्थका विवेचन प्रथमत: जिनेन्द्रने और तत्पश्चात् गणधर देवने किया है। फिर आचार्यपरम्परासे प्राप्त उस ग्रन्थार्थका उपसंहार करके मैंने उसे संक्षेपमें लिखा है[2]। इस आचार्यपरम्परासे कदाचित् उनका अभिप्राय आचार्य यतिवृषभादिका रहा हो तो यह असम्भव नहीं कहा जा सकता है। कुछ भी हो उसकी रचना विक्रमकी ११वीं शताब्दिके पूर्वमें हुई प्रतीत नहीं होती।

अब चूंकि लोकविभाग (पृ. ६७) में 'उक्तं च जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ' इस प्रकार नामनिर्देशपूर्वक उसकी एक गाथा उद्धृत की गई है, अत एव उसकी रचना जंबूदीवपण्णत्तीके पश्चात् हुई है; इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं रहता। अब यह देखना है कि वह जंबूदीवपण्णत्तीके कितने समय बाद रचा जा सकता है। इसके लिये हमने अन्य ग्रन्थोंमें उसके उद्धरणोंके खोजनेका प्रयत्न किया, परन्तु वे हमें कहीं भी उपलब्ध नहीं हो सके। श्री श्रुतसागर सूरिने अपनी तत्त्वार्थवृत्तिमें हरिवंशपुराण[3] और त्रिलोकसार[4] आदिके[5] साथ एक अन्य भौगोलिक ग्रन्थके अनेकों श्लोक उद्धृत किये हैं। परन्तु उन्होंने कहीं भी प्रस्तुत ग्रन्थके किसी श्लोकको उद्धृत नहीं किया[6]। कहा नहीं जा सकता कि उस समय तक प्रस्तुत ग्रन्थकी रचना ही नहीं हुई थी, या वह उनके सामने नहीं रहा, अथवा उसके श्लोकोंको उद्धृत करना उन्हें अभीष्ट नहीं रहा।

८. क्या सर्वनन्दिकृत कोई लोकविभाग रहा है?

प्रस्तुत ग्रन्थके अन्तमें (११, ५२-५३) यह सूचना की गई है कि पूर्व समयमें पाणराष्ट्रके अन्तर्गत पाटलिक नामके ग्राममें सर्वनन्दी मुनिने शास्त्र लिखा था, जो कांचीके राजा सिंहवर्माके २२वें वर्षमें शक संवत् ३८० (वि. सं ५१५)में पूर्ण हुआ। परन्तु यहाँ यह निर्देश नहीं किया गया है कि उस शास्त्रका नाम क्या था तथा वह संस्कृत अथवा प्राकृत भाषामेंसे किस भाषामें लिखा गया था। आज वह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं दिखता। जैसा कि इस प्रशस्तिमें निर्दिष्ट है, उससे उक्त शास्त्रका नाम 'लोकविभाग' ही रहा हो, ऐसा सिद्ध नहीं होता। सम्भव है उसका कुछ अन्य ही नाम रहा हो और वह कदाचित् संस्कृतमें रचा गया हो।

---

१. देखिये जंबूदीवपण्णत्तीकी प्रस्तावना पृ. १२८-२९.

२. जंबूदीवपण्णत्ती १३, १३५-१४२.

३. त. वृ. ३-१०. ४. त. वृ. ३-६, ३८, ४-१३, १५.

५. त. वृ. ३-१० (सा. ध. २-६८); ४-१२ (जं. दी. प. १२-९३).

६. देखिये त. वृ. ३-१, २, ३, ५, ६, १०, २७; ४-२४.

आगे इसी प्रशस्तिमें शास्त्रका संग्रह जो अनुष्टुप् छन्दसे १५३६ श्लोक प्रमाण निर्दिष्ट किया गया है वह प्रस्तुत लोकविभागका है या उस सर्वनन्दि-विरचित शास्त्रका, इसका कुछ निश्चय नहीं होता। प्रस्तुत ग्रन्थकी मूल श्लोकसंख्या १७३७ है, जिसमें १२ वृत्त अन्य भी संमिलित हैं (देखिये पीछे पृ. १०)। इसके अतिरिक्त १७७ पद्य यहाँ तिलोयपण्णत्ती आदि अन्य ग्रन्थोंके भी उद्धृत किये गये हैं। इस प्रकार इन उद्धृत पद्योंको छोड़कर यदि मूल ग्रन्थके ही १७३७ श्लोकोंमेंसे १२ अन्य उपजाति आदि वृत्तोंको तथा आदिपुराणके भी लगभग ९९ (१०७ – ८ =) श्लोकोंको छोड़ दिया जाय तो भी १६२६ अनुष्टुप् वृत्त मूल ग्रन्थके ही शेष रहते हैं जो उस निर्दिष्ट १५३६ संख्याकी अपेक्षा ९० अनुष्टुप् वृत्तोंसे अधिक होते हैं। इससे उस निर्दिष्ट संख्याकी संगति प्रस्तुत ग्रन्थके प्रमाणके साथ नहीं बैठती है[1]।

प्रशस्तिके उस श्लोकमें[2] जो 'इदं' पदका प्रयोग किया गया है उससे यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थके ही प्रमाणका निर्देश किया गया प्रतीत होता है, फिर भी चूंकि यह श्लोक सर्वनन्दि-विरचित उस शास्त्रके समयादिका निर्देश करनेके पश्चात् उपलब्ध होता है, अत एव वह सन्दिग्ध ही बना रहता है। इसके अतिरिक्त व्याकरणके अनुसार उक्त पदकी संगति भी ठीकसे नहीं बैठती[3]।

एक विचारणीय प्रश्न यहाँ यह भी उपस्थित होता है कि प्रस्तुत लोकविभागके कर्ताने जब उसमें त्रिलोकप्रज्ञप्ति, आदिपुराण (आर्ष), त्रिलोकसार और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिका नामनिर्देश करके उनके अनेकों उद्धरण दिये हैं तब क्या कारण है जो उन्होंने इतने सुपरिचित उस सर्वनन्दि-विरचित शास्त्रके कोई उद्धरण नहीं दिये। इस प्रश्नके उत्तरमें यदि यह कहा जाय कि प्रस्तुत ग्रन्थकार जब उक्त सर्वनन्दि-विरचित शास्त्रका भाषापरिवर्तन पूर्वक अनुवाद कर रहे हैं तब यहाँ उसके उद्धरण देनेका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है, तो इसपर निम्न अन्य प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनका कुछ उत्तर नहीं मिलता —

१. यदि सिंहसूरर्षिने सर्वनन्दीके लोकविभागका यह अनुवाद मात्र किया है तो उन्होंने विवक्षित विषयके समर्थनमें उससे अर्वाचीन त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थोंके यहाँ उद्धरण क्यों दिये तथा इस प्रकारसे उसकी मौलिकता कैसे सुरक्षित रह सकती है ?

२. त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें लोकविभागके अनुसार लोकके ऊपर तीन वातावलयोंका विस्तार क्रमसे $1\frac{1}{2}$, $1\frac{1}{6}$ और $1\frac{1}{12}$ कोस निर्दिष्ट किया गया है[4]। उसका अनुवाद सिंहसूर ऋषिने

---

१. आराकी प्रतिमें समस्त पत्रसंख्या ७० हैं (७० वां पत्र दूसरी ओर कोरा है)। प्रत्येक पत्रमें दोनों ओर १३–१३ पंक्तियां और प्रत्येक पंक्तिमें लगभग ३६-४० अक्षर हैं। इस प्रकार उसके आधारसे ग्रन्थका प्रमाण लगभग २१४१ श्लोक प्रमाण ठहरता है।

२. पञ्चादश शतान्याहुः षट्त्रिंशदधिकानि वै। शास्त्रस्य संग्रहस्त्वेदं छन्दसानुष्टुभेन च ॥ ११–५४.

३. उस श्लोकमें 'शास्त्रस्य संग्रहस्त्वेदं' ऐसा कहा गया है। यहां 'तु + इदं = त्वेदं' इस प्रकारकी जो सन्धि की गई है वह व्याकरणके नियमानुसार अशुद्ध है, -उसका शुद्ध रूप 'त्विदं' ऐसा होगा। दूसरे, पुल्लिग 'संग्रहः' का 'इदं' यह नपुंसकलिंग विशेषण भी योग्य नहीं है। तीसरे, 'आहुः' इस क्रियापदका सम्बन्ध भी वहां ठीक नहीं बैठता। चौथे, अनुष्टुभेन' यह तृतीयान्त पद भी अशुद्ध है। इसके अतिरिक्त 'पञ्चादश' पद भी अशुद्ध ही है। इस प्रकारसे वह पूरा श्लोक ही अशुद्ध व असम्बद्ध प्रतीत होता है।

४. दो-छब्बारसभागब्भहिओ कोसो कमेण वाउघणं। लोयउवरिम्मि एवं लोयविभायम्मि पण्णत्तं ॥ १–२८१.

उसी रूपसे न करके उक्त वातवलयोंका विस्तार भिन्न (२ को., १ को. और १५७५ धनुष) क्यों निर्दिष्ट किया[1] ?

३. त्रिलोकप्रज्ञप्ति (४, २४४५-४८) में लोकविभागके अनुसार लवणसमुद्रकी ऊंचाई पृथिवीतलसे ऊपर आकाशमें ११००० यो. मात्र अवस्थित स्वरूपसे निर्दिष्ट की गई है। वह शुक्ल पक्षमें क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होकर पूर्णिमाके दिन १६००० यो. प्रमाण हो जाती है। पश्चात् कृष्णपक्षमें उसी क्रमसे हानिको प्राप्त होकर पुनः वह ११००० यो. मात्र रह जाती है। लोकविभागके इस अभिप्रायको सिंहसूर्रर्षिने उसी क्रमसे क्यों नहीं निर्दिष्ट किया[2] ?

४. त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें लोकविभागाचार्यके मतानुसार जो सर्व ज्योतिषियोंके नगरोंका बाहल्य उनके विस्तारके बराबर कहा गया है[3] उसका उल्लेख सिंहसूर्रर्षिने प्रस्तुत ग्रन्थमें कहीं भी क्यों नहीं किया ?

५. त्रिलोकप्रज्ञप्ति (४, ६३५-३९) में लोकविभागाचार्यके मतानुसार जो वह्नि, अरुण, अव्याबाध और अरिष्ट इन चार लौकान्तिक देवोंकी क्रमशः ७००७, ७००७, ११०११ और ११०११ संख्या कही गई है[4] उसके स्थानमें यहाँ उनकी वह संख्या भिन्न (१४०१४, १४०१४, ९०९, ९०९) क्यों कही गई है[5] ? साथ ही उक्त आचार्यके मतानुसार त्रि. प्र. में जब आग्नेय नामक लौकान्तिक देवोंका कोई भेद नहीं देखा जाता है तब उसका उल्लेख यहाँ (१०-३१७ व ३२०) कैसे किया गया है ?

६. प्रस्तुत लोकविभागके ५वें विभागमें श्लोक ३८ से १३७ तक जो १४ कुलकरोंकी प्ररूपणा आदिपुराणके पूर्ण श्लोकों व श्लोकांशोंके द्वारा की गई है[6] वह उसी प्रकारसे क्या सर्वनन्दि-विरचित उस लोकविभागमें भी सम्भव है ?

इन प्रश्नोंका जब तक समाधान प्राप्त नहीं होता है तब तक यह निश्चित नहीं कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थके रूपमें श्री सिंहसूर्रर्षिने उस लोकविभागका अनुवाद किया है जो तिलोयपण्णत्तिकारके समक्ष विद्यमान था तथा जिसकी रचना सर्वनन्दीके द्वारा की गई थी।

इसके अतिरिक्त यह भी एक विचारणीय प्रश्न है कि यदि सिंहसूर्रर्षिने सर्वनन्दीके शास्त्रका – लोकविभागका – अनुवाद ही किया है तो प्रशस्तिमें 'आचार्यावलिकागतं विरचितं तत् सिंहसूर्रर्षिणा' ऐसा उल्लेख न करके उसके स्थानमें 'आचार्यपरम्परासे प्राप्त उसकी रचना पूर्वमें — शक सं. ३८० में — श्री मुनि सर्वनन्दीने की थी और तत्पश्चात् भाषा-परिवर्तन द्वारा उसीकी रचना सिंहसूर्रर्षिने की है' इस प्रकारके अभिप्रायको स्पष्टतया क्यों नहीं व्यक्त किया ?

तिलोयपण्णत्तीके समान श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसारकी १७वीं गाथामें

---

१. लो. वि. ८-१४ व ११-५.
२. लो. वि. २-३ व २-७.
३. जोइगणणयरीणं सव्वाणं रुंदमाणसारिच्छं। वहलत्तं मण्णंते लोगविभायस्स आइरिया ॥७-११५.
४. ति. प. ८-६३९ व ८, ६२५-२६.
५. लो. वि. १०, ३२०-२१.
६. देखिये आगे 'लोकविभाग व आदिपुराण' शीर्षक (पृ. ३४)।

भी 'लोयविभाएसु णादव्वं' इस प्रकारसे 'लोकविभाग' का जो निर्देश किया गया है उससे सम्भवतः किसी ग्रन्थविशेषका उल्लेख किया गया नहीं प्रतीत होता है[१]। किन्तु 'लोयविभाएसु' इस बहुवचनान्त पदको देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ नियमसारके कर्ता दो प्रकारके मनुष्यों, सात प्रकारके नारकियों, चौदह प्रकारके तिर्यंचों और चार प्रकारके देवोंके विस्तारको क्रमशः मनुष्यलोक, नारकलोक, तिर्यग्लोक तथा व्यन्तरलोक, ज्योतिर्लोक और कल्पवासिलोक आदि उन उन लोकविभागोंके वर्णनोंमें देखना चाहिये; यह मात्र प्रदर्शित कर रहे हैं[२]।

९. लोकविभाग व तिलोयपण्णत्ती

इसी ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित वर्तमान तिलोयपण्णत्तीमें अनेक बार 'लोयविभाय (लोकविभाग)' का उल्लेख हुआ है[३]। अनेक विद्वानोंका विचार है कि यह वही लोकविभाग है कि जिसे सर्वनन्दीने शक सं. ३८० में रचा है और जिसकी प्राकृत भाषाका संस्कृत भाषामें छायानुवादरूप यह वर्तमान लोकविभाग है[४]। परन्तु मैं यह ऊपर बतला चुका हूं कि प्रस्तुत लोकविभागकी जिस प्रशस्तिपरसे उपर्युक्त अभिप्राय निकाला जाता है वह वस्तुतः उस प्रशस्तिसे निकलता नहीं है। उससे तो केवल इतना मात्र ज्ञात होता है कि शक सं. ३८० में सर्वनन्दीके द्वारा कोई एक शास्त्र रचा गया था जो लोकविषयक हो सकता है। तिलोयपण्णत्तीके कर्ताके समक्ष लोकविषयक अनेक ग्रन्थ रहे हैं[५], जिनमें एक लोकविभाग भी है और वह वर्तमानमें उपलब्ध नहीं है। वह सम्भवतः प्राकृत भाषामय ही रहा है। परन्तु वह किसके द्वारा विरचित है, इसका निर्देश ति. प. में नहीं किया गया है। वहाँ उसका उल्लेख लोकविभाग और लोकविभागाचार्य (४-२४९१, ७-११५) के रूपमें ही उपलब्ध होता है। वह लोकविभाग प्रस्तुत लोकविभागके रचयिताके सामने नहीं रहा, यह निश्चित-सा प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि यदि उनके सामने उक्त लोकविभाग रहा होता तो वे उसके मतको सिद्धान्तरूपमें उपस्थित करके तत्पश्चात् मतान्तरोंका उल्लेख करते। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया, किन्तु विवक्षित विषयका स्वरुचिसे वर्णन करके उसके समर्थनमें तिलोयपण्णत्ती आदिके अवतरणोंको उद्धृत किया है। इस कार्यमें कहीं कहीं विपरीतता भी हो गई है। जैसे —

यहाँ द्वितीय विभागमें ३३-४४ श्लोकों द्वारा अन्तरद्वीपोंका वर्णन करके आगे

---

१. देखिये 'पुरातन जैन वाक्यसूची' की प्रस्तावना पृ. ३६.

२. इस प्रकारके अधिकार तिलोयपण्णत्तीमें उपलब्ध होते हैं और वहां उक्त जीवभेदोंका विस्तार भी देखा जाता है। देखिये ति. प. २, प्रस्तावना पृ. २० आदि।

३. ति. प. १-२८१, ४-२४४८, २४९१, ७-११५ और ९-९. इनमें गा. ४-२४४८ में 'संगाइणिए लोयविभाए' तथा ९-९ में 'लोयविणिच्छयगंथे लोयविभागम्मि' ऐसा निर्देश पाया जाता है। इससे सम्भवतः पृथक् पृथक् २-२ ग्रन्थोंका — संगायणी व लोकविभाग तथा लोकविनिश्चय व लोकविभागका — उल्लेख किया गया प्रतीत होता है।

४. जैन साहित्य और इतिहास पृ. १-२. और पुरातन जैन वाक्यसूचीकी प्रस्तावना पृ. ३१-३२.

५. जैसे – सग्गायणि (४-२१७, २०२९, २४४८, ८-२७२, संगोयणि (४-२१९), लोयविणिच्छय (४-१८६६, १९७५, २०२८, ५-६९, १२९, १६७, ८-२७०, ३८६, ९-९), संगाहणिय (८-३८७), लोगाइणि (२४४४) और लोगविणिच्छयसग्गायणि (४-१९८२)

उसके समर्थनमें तिलोयपण्णत्तीकी जो गाथायें (४, २४७८-८८) दी गई हैं उनसे उक्त मतका समर्थन नहीं होता है, किन्तु वे उक्त मतके विरुद्ध ही पड़ती हैं। हां, उक्त तिलोयपण्णत्तीमें ही आगे गा. २४९१-९९ द्वारा इस विषयमें जो लोकविभागाचार्यका मत प्रदर्शित किया गया है इस मतसे वह प्रस्तुत ग्रन्थका वर्णन पूर्णतया मिलता है।

इससे यह शंका हो सकती है कि प्रस्तुत लोकविभागके कर्ताके सामने वह प्राचीन लोकविभाग रहा है, इसीलिये उसके रचयिताने तदनुसार ही उन अन्तरद्वीपोंकी प्ररूपणा की है। परन्तु वह ठीक प्रतीत नहीं होती, क्योंकि, उस अवस्थामें उन्हें इन गाथाओंको उद्धृत ही नहीं करना चाहिये था। कारण यह कि उक्त लोकविभागाचार्यका वह मत तिलोयपण्णत्तीसे प्राचीन है। यदि उन गाथाओंको उद्धृत करना ही उन्हें अभीष्ट था तो वे अपने मतसे तिलोयपण्णत्तीके मतभेदको प्रगट करके उन्हें उद्धृत कर सकते थे। यथार्थ बात यह है कि श्री सिंहसूर ऋषिने तिलोयपण्णत्ती और त्रिलोकसार आदिका अनुसरण करके ही इस ग्रन्थकी रचना की है। इसलिये उनसे उपर्युक्त भूल ही हुई है। वस्तुतः उन्हें तिलोयपण्णत्तीके पूर्व मतको अपनाकर उन गाथाओंको उद्धृत करना चाहिये था। परन्तु वे सम्भवतः ति. प. के कर्ता द्वारा आगे प्रदर्शित उस लोकविभागाचार्यके अभिमतको 'लोकविभाग' इस नामके व्यामोहसे नहीं छोड़ सके।

१) यहां तिलोयपण्णत्तीमें अन्यत्र भी जो लोकविभागके मतोंका उल्लेख किया है उनका भी विचार कर लेना ठीक होगा। सर्वप्रथम ति. प. के प्रथम अधिकार गा. २८१ में लोकविभागके मतका उल्लेख करते हुए तीनों वातवलयोंका बाहल्य क्रमसे $१\frac{१}{२}$, $१\frac{१}{६}$ और $१\frac{१}{१२}$ = $३\frac{३}{४}$ कोस निर्दिष्ट किया गया है। यह मत प्रस्तुत लोकविभागमें नहीं पाया जाता है। किंतु वहां ति. प. के ही समान उनका बाहल्य क्रमसे २ कोस, १ कोस और १५७५ धनुष मात्र बतलाया गया है। दोनोंकी वह समानता भी दर्शनीय है। यथा——

कोसदुगमेक्ककोसं किंचूणेक्कं च लोयसिहरम्मि।
ऊणपमाणं दंडा चउस्सया पंचवीसजुदा ॥ ति. प. १-२७३.
लोकाग्रे कोशयुग्मं तु गव्यूतिर्न्यूनगोरुतम्।
न्यूनप्रमाणं धनुषां पंचविंश-चतुःशतम् ॥ लो. वि. ८-१४.

२) चतुर्थ महाधिकारमें गा. २४४५-४८ द्वारा संगाइणी और लोकविभागके अनुसार लवण समुद्रकी ऊंचाई पृथिवीतलसे ऊपर आकाशमें अवस्थितरूपसे ११००० यो. निर्दिष्ट की गई है। इसके ऊपर शुक्ल पक्षमें क्रमशः ५००० यो. की वृद्धि होकर पूर्णिमाके दिन वह ऊंचाई १६००० यो. प्रमाण हो जाती है तथा कृष्ण पक्षमें वह उसी क्रमसे घटकर अमावस्याके दिन ११००० यो. मात्र ही रह जाती है। इतनी ऊंचाई उसकी सदा ही रहती है—इससे कम ऊंचाई कभी नहीं होती। विस्तार उसका जलशिखरपर १०००० यो. मात्र कहा गया है। यह मत प्रस्तुत लो. वि. में पाया जाता है। परन्तु जिस रूपमें यहाँ श्लोकोंकी रचना की गई है उस रूपमें वह अभिप्राय सहसा अवगत नहीं होता। जैसे——

दशैवैष सहस्राणि मूलेऽग्रेऽपि पृथुर्मतः। सहस्रमवगाढो गामूर्ध्वं स्यात् षोडशोच्छ्रितः ॥२-३.

यहां उसकी ऊंचाई १६००० यो. निर्दिष्ट की गई है। यह अवस्थित ऊंचाई नहीं है, किंतु पूर्णिमाके दिन रहनेवाली ऊंचाई है जिसको कि यहां स्पष्ट नहीं किया गया है। इसके आगे यहां यह श्लोक प्राप्त होता है—

एकादश सहस्राणि यसवास्यां गतोच्छ्रय:। तत: पञ्च सहस्राणि पौर्णमास्यां विवर्धते ॥२-७.

यहां पूर्वार्धमें ग्रन्थकार यह कहना चाहते हैं कि कृष्ण पक्षमें क्रमश: ५००० यो. की हानि होकर अमावस्याके दिन वह ऊंचाई ११००० यो. रह जाती है। परन्तु वैसा भाव उन पदोंसे निकलता नहीं है।

वस्तुत: ति. प. में निर्दिष्ट वह मत हरिवंशपुराण (५, ४३४–३७) में पाया जाता है और सम्भवत: उसीका अनुसरण प्रस्तुत लो. वि. में किया है तथा उसकी रचनासे कुछ भिन्नता प्रकट करनेके लिये इस रूपमें श्लोकरचना की गई है[1]।

इसके अतिरिक्त यहां (२–३) उक्त अभिप्रायको पुष्ट करनेके लिये जो 'उक्तं च त्रिलोकप्रज्ञप्तौ' कहकर ति. प. की गाथा दी गई है वह उसका समर्थन न करके उसके विपरीत उक्त जलशिखाके ऊपर उसकी ऊंचाईको ७०० यो. मात्र ही वतलाती है।

३) ति. प. गा. ७–११५ में लोकविभागाचार्योंके मतानुसार सब ही ज्योतिषी देवोंकी नगरियोंका वाहल्य विस्तारके वरावर निर्दिष्ट किया गया है। यह मत प्रस्तुत लो. वि. में नहीं पाया जाता है। यहां तो श्लोक ६–९ व ६,११-१५ में सूर्य-चन्द्रादि ज्योतिषियोंके विमानोंका केवल विस्तार मात्र निर्दिष्ट किया है, उनके वाहल्यका उल्लेख ही नहीं किया है। हां, ठीक इसके आगे 'पाठान्तरं कथ्यते' कहकर श्लोक १६ में मतान्तरस्वरूपसे सूर्य-चन्द्रादि ज्योतिषियोंके विमानोंके वाहल्यका प्रमाण अपने अपने विस्तारसे आधा अवश्य कहा गया है। यह मत ति. प. में उपलब्ध होता है[2]। इस प्रकार जब प्रस्तुत ग्रन्थमें उक्त ज्योतिषी देवोंके विमानोंके वाहल्यप्रमाणका कुछ उल्लेख ही नहीं है तब मतान्तरसे उनके वाहल्यप्रमाणका उल्लेख करना संगत नहीं प्रतीत होता। ति. प. में चूंकि पूर्वमें उक्त विमानोंका वाहल्य विस्तारकी अपेक्षा आधा कहा जा चुका था, अत एव वहां लोकविभागाचार्योंके मतानुसार उसको विस्तारके वरावर वतलाना सर्वथा उचित व आवश्यक भी था।

४) ति. प. गा. ९–९ में लोकविनिश्चय और लोकविभागके अनुसार सब सिद्धोंकी अवगाहनाका प्रमाण कुछ कम अन्तिम शरीरके वरावर निर्दिष्ट किया गया है। यह मत प्रस्तुत लो. वि. (११–६) में पाया जाता है। परन्तु इसी श्लोकमें उन सिद्धोंका अवस्थान जो गव्यूति (कोस) के चतुर्थ भाग (५०० धनुष) में वतलाया है वह कुछ भिन्न ही प्रतीत होता है व उसकी संगति ५२५ धनुष प्रमाण अवगाहनासे मुक्त होनेवालोंके साथ नहीं वैठती है। ति. प. में इस विषयमें दो मत पाये जाते हैं। उनमें एक मतके अनुसार सिद्धोंकी उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष और जघन्य ३½ हाथ[3] तथा दूसरे मतके अनुसार वह उत्कृष्ट ३५० धनुष और जघन्य २⅓ हाथ प्रमाण[4] निर्दिष्ट की गई है। वाहुवली आदि कितने ही ५२५ धनुषकी अवगाहनासे सिद्ध हुए हैं। इसी अभिप्रायसे सम्भवत: ५२५ धनुष प्रमाण उनकी उत्कृष्ट अवगाहना कही गई है। दूसरे मतके अनुसार सिद्धोंकी वह अवगाहना चूंकि अन्तिम शरीरके तृतीय भागसे हीन मानी गई है[5];

---

१. प्रस्तुत लो. वि. में द्वितीय विभागके श्लोक ३, ५, ६, ७ और ८ का मिलान क्रमसे हरिवंशपुराणके ५, ४३४ से ३८ श्लोकोंसे कीजिये।

२. देखिये ति. प. ७–३९, ६८, ८५, ९१, ९५, ९८ और १००.

३. ति. प. ९–६. ४. ति. प. ९–११. ५. ति. प. ९–१०

अतएव उक्त मतके अनुसार वही उ. ३५० ध. और ज. २$\frac{१}{२}$ हाथ होती है। यथा–– उत्कृष्ट $\frac{५२५}{३}\times२=३५०$ ध; जघन्य ३$\frac{१}{२}$ हाथ=८४ अंगुल, $\frac{८४}{३}\times२=५६$ अंगुल =२$\frac{१}{३}$ हाथ।

५) ति. प. में ८, ६३५-३९ गाथाओं द्वारा लोकविभागाचार्योंके मतानुसार लौकान्तिक देवोंकी प्ररूपणा अन्य प्रकारसे भी की गई है। इस मतके अनुसार ति. प. में जो पूर्वोत्तर (ईशान) दिशादिके क्रमसे सारस्वतादि आठ प्रकारके लौकान्तिकोंका अवस्थान निर्दिष्ट किया गया है वह प्रायः उसी क्रमसे प्रस्तुत लोकविभागमें पाया जाता है, किन्तु उक्त मतके अनुसार ति. प. में जो उनकी संख्या निर्दिष्ट की गई है वह उस प्रकारसे यहां नहीं पायी जाती है। इस मतके अनुसार ति. प. (८–६३९; ८, ६२५-२६) में सारस्वत ७०७, आदित्य ७०७, तुषित ७०७, गर्दतोय ७०७, वह्नि ७००७, अरुण ७००७, अव्याबाध ११०११ और अरिष्ट ११०११ कहे गये हैं। परन्तु प्रस्तुत लो. वि. में उनकी संख्या इस प्रकारसे निर्दिष्ट की गई है– सारस्वत ७०७, आदित्य ७०७, तुषित ७०७, गर्दतोय ७०७, वह्नि १४०१४, अरुण १४०१४, अव्याबाध ९०९ और अरिष्ट ९०९। यहां आग्नेय नामक लौकान्तिकोंका एक भेद पृथक् ही पाया जाता है। इसका उल्लेख ति. प. में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है। प्रस्तुत लो. वि. में उनका अवस्थान उत्तर दिशामें (१०–३१७) तथा संख्या उनकी ९०९ (१०–३२०) निर्दिष्ट की गई है। इसके अतिरिक्त यहां (१०–३१८) जो उनके प्रकीर्णक वृत्त विमान तथा अरिष्ट लौकान्तिकोंका आवलिकागत विमान निर्दिष्ट किया गया है उसका भी उल्लेख ति. प. में नहीं पाया जाता।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि श्री सिंहसूर्रषिने प्रस्तुत लोकविभागकी रचना तिलोयपण्णत्तीके आधारसे की है, इसे मैं सिद्ध करनेका प्रयत्न करता हूं। चूंकि प्रस्तुत ग्रन्थमें सिंहसूर्रषिके द्वारा वर्तमान तिलोयपण्णत्तीकी लगभग १२०-२५ गाथायें कहीं नामनिर्देशके साथ और कहीं विना नामनिर्देशके भी उद्धृत की गई हैं, अतएव उन्होंने वर्तमान तिलोयपण्णत्तीका पर्याप्त परिशीलन किया था, इसमें किसीको सन्देह नहीं हो सकता है। अब उन्होंने इस तिलोयपण्णत्तीका प्रस्तुत ग्रन्थकी रचनामें कितना अधिक उपयोग किया है, इसके लिये मैं तुलनात्मक दृष्टिसे २-४ उदाहरणोंको दे देना ठीक समझता हूं। तिलोयपण्णत्तीकी रचना अत्यन्त व्यवस्थित व प्रामाणिक है। उसके रचयिताके समक्ष जिस विषयका उपदेश नहीं रहा है, उसका उन्होंने यथास्थान उल्लेख कर दिया है। इसी प्रकार उनके सामने जिस विषयमें जो भी मतभेद रहे हैं उनका भी उल्लेख उन्होंने यथास्थान ग्रन्थादिके नामनिर्देशपूर्वक या 'केई' आदि पदोंके द्वारा किया है। प्रस्तुत ग्रन्थमें श्री सिंहसूर्रषिने भी यत्र तत्र कुछ मतभेदोंका तदनुसार उल्लेख तो किया है, किन्तु नामनिर्देश कहीं भी नहीं किया। उपदेशके अभावका भी उल्लेख उन्होंने किया है, परन्तु वह तिलोयपण्णत्तीका अनुसरण मात्र है। उदाहरणार्थ– ति. प. में भवनवासी इन्द्रोंके प्रकीर्णक आदि देवोंकी संख्याके विषयमें यह कहा गया है––

होंति पयण्णयपहुदी जेत्तियमेत्ता य सयलइंदेसुं।
तप्परिमाणपरूवणउवएसो णत्थि कालवसा।। ३–८९.

इसके छायानुवादके समान प्रस्तुत ग्रन्थमें भी इस प्रकार कहा गया है––

प्रकीर्णकादिसंख्यानं सर्वेष्विन्द्रेषु यद् भवेत्। तत्संख्यानोपदेशश्च नष्टः कालवशादिह ।।७–५२.

इसके आगे ति. प. में प्रकीर्णकादि तीन देवों और सर्वनिकृष्ट देवोंकी देवियोंकी संख्याके विषयमें यह कहा गया है––

जिणदिट्ठपमाणाओ होंति पइण्णयतियस्स देवीओ ।
सव्वणिगिट्ठसुराणं पि देवीओ बत्तीस पत्तेक्कं ॥ ३–१०८.

इसका छायानुवाद सिंहसूरर्षिने इस प्रकार किया है--

प्रकीर्णकत्रयस्यापि जिनदृष्टप्रमाणकाः । देव्यः सर्वनिकृष्टानां द्वात्रिंशदिति भाषिताः ॥ ७–६६.

ति. प. में १६ कल्पों विषयक मान्यताके अनुसार उन उन कल्पोंमें विमानसंख्याके प्ररूपणकी प्रतिज्ञा इस प्रकार की गई है--

जे सोलस कप्पाइं केई इच्छंति ताण उवएसे ।
तस्सिं तस्सिं वोच्छं परिमाणाणि विमाणाणं ॥ ८–१७८.

अब इसका छायानुवाद प्रस्तुत ग्रन्थमें देखिये[1]--

ये च षोडश कल्पांश्च केचिदिच्छन्ति तन्मते ।
तस्मिंस्तस्मिन् विमानानां परिमाणं वदाम्यहम् ॥ १०–३६.

ति. प. में प्रथमतः आनत-प्राणत और आरण-अच्युत कल्पोंके विमानोंकी संख्या क्रमसे ४४० और २६० बतलाकर आगे मतान्तरसे इन विमानोंकी संख्या इस प्रकार निर्दिष्ट की गई है--

अहवा आणदजुगले चत्तारि सयाणि वरविमाणाणिं ।
आरण-अच्चुदकप्पे सयाणि तिण्णि च्चिय हुवंति ॥ ८–१८५.

इसी क्रमसे प्रस्तुत ग्रन्थमें भी प्रथमतः उनकी संख्या ४४० और २६० बतलाकर मतान्तरसे पुनः उसका उल्लेख उसी प्रकारसे किया गया है--

चतुःशतानि शुद्धानि आनत-प्राणतद्विके । आरणच्युतयुग्मे च त्रिशतान्यपरे विदुः ॥ १०–४३.

---

१. ति. प. में इसके पूर्व (८, १६१-७५) १२ कल्पोंके आश्रयसे श्रेणीबद्ध, इन्द्रक और प्रकीर्णक विमानोंकी संख्याका उल्लेख कर देनेके पश्चात् ही उपर्युक्त गाथा द्वारा १६ कल्पोंकी मान्यतानुसार उस विमानसंख्याके वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की गई है और तदनुसार उसका पृथक् पृथक् वर्णन किया भी गया है। किन्तु सिंहसूरर्षिकी यह एक विशेषता रही है कि उन्होंने श्लोक १०, १७-१८ द्वारा संख्यानिर्देशके विना १२ कल्पोंका निर्देश करके भी ति. प. के समान इन कल्पोंके आश्रित उन विमानोंकी संख्याका कोई उल्लेख नहीं किया, केवल श्लोक २१ के द्वारा उक्त विमानोंकी समुदित संख्याका ही निर्देश कर दिया है। इस प्रकार उन्होंने आगे १६ कल्पोंके मतभेदका उल्लेख करके तदनुसार जो पृथक् पृथक् विमानसंख्याका उल्लेख किया है उसे अप्रासंगिक ही समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त सातवें और आठवें कल्पका उल्लेख जो उन्होंने महाशुक्र और सहस्रार (१०–१८) के नामसे किया है उसका भी निर्वाह वे अन्त तक नहीं कर सके। उदाहरणार्थ– आगे ७४वें श्लोकमें उन्होंने ७वें कल्पका निर्देश शुक्र और ८वें कल्पका शतारयुगलके नामसे किया है। इसी प्रकार आगे भी ७७वें श्लोकमें इन दोनों कल्पोंका निर्देश क्रमशः शुक्र और शतारके नामसे ही किया है। इस पूर्वापर विरोधका कारण यह है कि इस विषयमें भी दो मत पाये जाते हैं— सर्वार्थसिद्धिकार १२ इन्द्रोंमें जहां ७वें इन्द्रका शुक्र और ८वेंका शतारके नामसे निर्देश करते हैं (४–१९) वहां ति. प. के कर्ता उन्हीं दोनोंका निर्देश महाशुक्र और सहस्रार (८, १४३-४४) के नामसे करते हैं। ति. प. के कर्ताने आगे भी सर्वत्र इन्हीं दोनों नामोंका उपयोग किया है। चौदह इन्द्रोंकी मान्यताको प्रधानता देनेवाले तत्त्वार्थवृत्तिकार भी जब मूल तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार १२ इन्द्रोंको स्वीकार करते हैं तब वे भी उक्त दोनोंका निर्देश सर्वार्थसिद्धिके समान शुक्र और शतारके नामसे करके महाशुक्र और सहस्रारको दक्षिणेन्द्रानुवर्ती बतलाते हैं। (देखिये त. वा. पृ. २३३)

ये कुछ थोड़े-से ही उदाहरण यहां दिये हैं। ऐसे अन्य भी वीसों उदाहरण दिये जा सकते हैं[1]। इससे यह निश्चित है कि प्रस्तुत ग्रन्थकी रचनामें श्री सिंहसूरर्षिने तिलोयपण्णत्तीका अत्यधिक उपयोग किया है।

१०. लोकविभाग व हरिवंशपुराण

श्री. पुंनाटसंघीय जिनसेनाचार्य द्वारा विरचित हरिवंशपुराण (शक सं. ७०५) प्रथमानुयोगका एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके ३ सर्गों (४-६) में तीन लोकोंकी विस्तारसे प्ररूपणा की गई है। श्रीसिंहसूर ऋषिने प्रस्तुत लोकविभागकी रचनामें इसका भी पर्याप्त उपयोग किया है। उन्होंने प्रथम विभागमें जो द्वितीय जम्बूद्वीपका वर्णन किया है उसमें ह. पु. के ५वें सर्गके ३९८-४०२ श्लोक क्रमसे यहाँ ३४६-५० संख्यासे अंकित उपलब्ध होते हैं। इसके आगेके श्लोक ४११-१६ भी प्रस्तुत लो. वि. के प्रथम विभागमें ही क्रमसे ३६५-७० संख्यांकोंसे अंकित पाये जाते हैं। ये सब श्लोक हरिवंशपुराणसे यहाँ प्रायः जैसेके तैसे ले लिये गये हैं। यदि इनमें कहीं कोई भेद पाया जाता है तो केवल एक आध शब्दका ही भेद पाया जाता है। उदाहरणार्थ यह श्लोक देखिये—

प्रासादे विजयस्यात्र सिंहासनमनुत्तरम्।
सचामरसितच्छत्रं तत्र पूर्वमुखोऽमरः ॥ ह. पु. ५-४११.
प्रासादे विजयस्यात्र सिंहासनमनुत्तरम्।
सचामरं च सच्छत्रं तस्मिन् पूर्वमुखोऽमरः ॥ लो. वि. १-३६५.

यहाँ मात्र तीसरे चरणमें यत् किंचित् परिवर्तन किया गया है। इससे हरिवंशपुराण-कारका जो धवल छत्रसे तात्पर्य था वह यहाँ समाप्त हो गया है। चतुर्थ चरणमें 'तत्र' के स्थानमें 'तस्मिन्' का उपयोग किया गया है।

ह. पु. के ४१३वें श्लोकके 'मध्यमा दश बोद्धव्या दक्षिणस्यां दिशि स्थिता' इस उत्तरार्धमें यहाँ यह परिवर्तन किया गया है— दश मध्यमिका वेद्या दक्षिणस्यां तु सा दिशि। इस परिवर्तनमें 'मध्यमा' जैसे सुन्दर पदके स्थानमें 'मध्यमिका' किया गया है, तथा 'स्थिता' पदका अभिप्राय रह ही गया है।

हरिवंशपुराण (५, ३७४-७६) में कितने ही नामान्तरोंसे मेरु पर्वतका जिस प्रकार कीर्तन किया गया है उसी प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थमें भी उन्हीं या उन जैसे १६ नामोंके द्वारा उसका कीर्तन किया गया है (१, ३२७-२९)।

ठीक इसके आगे ह. पु. में जम्बूद्वीपकी जगतीके वर्णनका प्रारम्भ करते हुए उसका उल्लेख इस प्रकारसे किया है—

इति व्यावर्णितं द्वीपं परिक्षिपति सर्वतः। पर्यन्तावयवत्वेन सास्यैव जगती स्थिता ॥
मूले द्वादश मध्येऽष्टौ चत्वार्यग्रे च विस्तृता। अष्टोच्छ्रयावगाढा तु योजनार्धमधो भुवः ॥
ह. पु. ५,३७७-७८.

---

१. जैसे ति. प. ४-२५८१ व लो. वि. ३-२३, ति. ५-८२ व लो. ४-५०, ति. प. ५-१६५ व लो. वि. ४-८८, ति. प. ८, ४४८-५१ व लो. वि. १०, ९०-९२ (त्रि. सा. ४८६-८७), तथा ति. प. ८, ४४६-४७ व लो. वि. १०, २७३-२७५, ति. प. ८, ५९४ व लो. वि. १०-३४१, ति. प. ८-५०९, ५११ व लो. वि. १०,२३४-२३५ आदि।

प्रस्तुत ग्रन्थमें भी ठीक उसीके आगे उक्त जगतीका वर्णन इस प्रकारसे प्रारम्भ किया गया है —

द्वादशाष्टौ चतुष्कं च मूलमध्याग्रविस्तृता। जगत्यष्टोच्छ्रया भूमिमवगाढार्धयोजनम् ॥
सर्वरत्नमयी मध्ये वैडूर्यशिखरोज्ज्वला। वज्रमूला च सा द्वीपं परिक्षिपति सर्वतः ॥३,१३०-३१.

इस प्रकार ह. पु. में जहाँ उक्त जगतीका प्रथम श्लोकमें ही 'द्वीपं परिक्षिपति सर्वतः' इस उल्लेखके द्वारा जम्बूद्वीपसे सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है वहाँ प्रस्तुत ग्रन्थमें उसका सम्बन्ध द्वितीय श्लोकमें उसी 'द्वीपं परिक्षिपति सर्वतः' के द्वारा जम्बूद्वीपके साथ प्रदर्शित किया गया है। आगे उक्त जगतीके वर्णनमें प्रस्तुत ग्रन्थके ३३१-४२ श्लोक उसी क्रमसे ह. पु. के ३७९-९० श्लोकोंके साथ न केवल अर्थतः ही समान हैं, अपि तु शब्दशः भी प्रायः (जैसे—श्लोक ३३७-३८ व ३४१-४२ ह. पु. ३८५-८६ व ३८९-९० आदि) समान हैं[1]।

इन उदाहरणोंसे यह भली भांति सिद्ध है कि प्रस्तुत ग्रन्थकी रचनामें श्री सिंह-सूरर्षिने न केवल हरिवंशपुराणका अनुसरण ही किया है, वलिक उसके अनेक श्लोकोंको विना किसी प्रकारके उल्लेखके प्रस्तुत ग्रन्थके अन्तर्गत भी कर लिया है।

११. लोकविभाग व आदिपुराण

श्री. आचार्य जिनसेन स्वामी द्वारा विरचित महापुराण (आदिपुराण व उत्तरपुराण) के तीसरे पर्वमें पीठिकाके व्याख्यानमें कालकी प्ररूपणा की गई है। इस प्ररूपणामें वहाँ सुषम-सुषमा, सुषमा और सुषम-दुषमा कालोंमें होनेवाले नर-नारियोंकी अवस्थाका विशद वर्णन किया गया है। प्रस्तुत लोकविभागके पांचवें प्रकरणमें उक्त कालका वर्णन करते हुए श्लोक ३८ में यह कहा गया है कि तृतीय कालमें जव पल्योपमका आठवां भाग ($\frac{1}{8}$) शेष रह जाता है तब चौदह कुलकर और तत्पश्चात् आदि जिनेन्द्र भी उत्पन्न होते हैं। इसके आगे 'उक्तं चार्षे' कहकर १३७वें श्लोक तक १०७ श्लोकोंके द्वारा १४ कुलकरोंकी आयु आदि व उनके समयमें होनेवाली आर्य जनोंकी अवस्थाओंका वर्णन किया गया है। ये सव ही श्लोक आदिपुराणमें पूर्णरूपमें या विभिन्न पादोंके रूपमें पाये जाते हैं। इस वर्णनमें श्री सिंहसूरर्षिने, जैसे इसी प्रकरणमें आगे (पृ. ९९) 'उक्तं च द्वयं त्रिलोकप्रज्ञप्तौ' ऐसा कहकर उद्धृत की जानेवाली गाथाओंकी संख्याका भी स्पष्ट उल्लेख कर दिया है, वैसे उन आर्षके श्लोकोंकी संख्याका उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा। इस प्रकरणमें उक्त आदिपुराणके जो श्लोक परिपूर्णरूपमें पाये जाते हैं उनकी तालिका इस प्रकार है—

---

१. इनके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थके ३, १३-२१ श्लोकोंका भी ह. पु. के ५, ५०६-१४ श्लोकोंसे मिलान कीजिये। इनमें भी किसीका पूर्वार्ध तो किसीका उत्तरार्ध प्रायः जैसाका तैसा है।

लो. वि. ८७ पू.	६–८(उ)	९–१०	११–१३	४१	४२–४४	४५		
आ. पु. ३रा पर्व	५५–५७	६३–६४	६९–७१	७९	८१–८३	८५		
लो. वि.	४७	४८	४९	५४–५५	५६	५७–६३	६५–७०	७१–७३
आ. पु.	९०	९२	९३	१०४–५	१०७	१०९–११५	११८–२३	१२५–२७
लो. वि.	७४–७५	७६	७७–७८	७९	८०–८१	८२	८३	
आ. पु.	१२९–३०	१३२	१३४–३५	१३७	१३९–४०	१४२	१४४	
लो. वि.	८४–८५	८६	८७–८८	८९–९०	९१–१३७			
आ. पु.	१४६–४७	१४९	१५२–५३	१६४–६५	१८२–२२८			

अव ३९, ४०, ४६,५०–५३ और ६४ ये ८ श्लोक रह जाते हैं। इनको आदिपुराणगत कुछ श्लोकोंके पूर्वार्ध-उत्तरार्ध भागोंसे या उनके विविध पादोंसे पूर्ण किया गया है। जैसे–श्लोक ३९ की पूर्ति आ. पु. के ७२वें श्लोकके पू. और ७६ के पू. भागसे तथा श्लोक ५० की पूर्ति उसके ९४वें श्लोकके पू., ९५वें के प्र. पाद और ९६वें के च. पादको लेकर की गई है। परन्तु इस प्रकारकी पूर्तिसे पूर्वापर सम्वन्ध टूट गया है। (देखिये पीछे ग्रन्थपरिचय पृ. १०)

१२. लोकविभाग व त्रिलोकसार

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा विरचित त्रिलोकसार (शक की १०वीं शताब्दिका पूर्व भाग) ग्रन्थमें तीनों लोकोंका वर्णन व्यवस्थित रीतिसे किया गया है। वह भी प्रस्तुत ग्रन्थकी रचनाके समय सिंहसूरर्षिके समक्ष रहा है, यह उनके द्वारा नामोल्लेखके साथ उससे उद्धृत की गई गाथाओंसे ही सिद्ध है। प्रस्तुत ग्रन्थमें सिंहसूरर्षिके द्वारा उक्त त्रिलोकसारकी लगभग ३९-४० गाथायें उद्धृत की गई हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रकृत ग्रन्थकी रचनामें भी इसका पर्याप्त उपयोग ही नहीं किया, अपि तु उसकी पचासों गाथाओंका लगभग छायानुवाद जैसा किया है। इसके लिये यहाँ तुलनात्मक दृष्टिसे कुछ थोड़े-से उदाहरण दिये जाते हैं—

छम्मासद्धगयाणं जोडसयाणं समाणदिणरत्ती।
तं इसुपं पढमं छसु पव्वसु तीदेसु तदियरोहिणिए ॥४२१.

यह त्रिलोकसारकी गाथा है। इसका मिलान प्रस्तुत ग्रन्थके इन पद्योंसे कीजिये—

षण्मासार्धगतानां च ज्योतिष्काणां दिवानिशम्। समानं च भवेद्यत्र तं कालमिषुपं विदुः ॥
प्रथमं विषुवं चास्ति षट्स्वतीतेषु पर्वसु। तृतीयायां च रोहिण्यामित्याचार्याः प्रचक्षते ॥६,१५०-५१.

यह एक दूसरा उदाहरण देखिये —

जंबूचारधरूणो हरिवस्ससरो य णिसहबाणो य।
इह वाणावट्टं पुण अब्भंतरबीहिवित्थारो ॥ ३९२.

इस त्रिलोकसारकी गाथाका प्रस्तुत लो. वि. के निम्न श्लोकसे मिलान कीजिये—

जम्बूचारधरोनौ हरिभू-निषधाशुगौ। इह बाणौ पुनर्वृत्तमाद्यवीथ्याश्च विस्तृतिः ॥६–२११.

यह एक तीसरा भी उदाहरण देखिये—

जोइसदेवीणाऊ सग-सगदेवाणमद्धयं होदि ।
सव्वणिगिट्ठसुराणं वत्तीसा होंति देवीओ ।। ४४९,

इसका निम्न श्लोकसे मिलान कीजिये—

आयुर्ज्योतिष्कदेवीनां स्व-स्वदेवायुरर्धकम् । सर्वेभ्यश्च निकृष्टानां देव्यो द्वात्रिंशदेव च ।।६-२३५.

इस प्रकारसे अन्य (४–२२ त्रि. ३५७, ६–१२८ त्रि. ३९५, ९, ७-८ त्रि. २९७ तथा ९–९ त्रि. २९९ आदि) भी कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं।

त्रिलोकसारके अन्तमें (गा. ९७८–१०१४) अकृत्रिम जिनभवनोंका वर्णन किया गया है। उसका अनुसरण करके प्रस्तुत लो. वि. में भी सुमेरुके वर्णनमें उन जिनभवनों प्रायः उसी रूपसे वर्णन किया गया है। इसमें लो. वि. के १,२९५-३११ श्लोकोंका त्रि. सा. की ९८४-१०१ गाथाओंसे मिलान किया जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थके ८वें विभागमें श्लोक ४६-४७ द्वारा सातवीं पृथिवीके ४ श्रेणीवद्ध और १ इन्द्रक इन ५ नारक बिलोंके विन्यासको वतलाकर आगे 'उक्तं च' कहते हुए 'मनुष्य-क्षेत्रमानः स्यात्' आदि एक श्लोक दिया गया है, जो पूर्वोक्त विषयसे विषयान्तरको प्राप्त होकर गणितसूत्रके रूपमें ४९ इन्द्रक बिलोंके विस्तारका सूचक है। यह श्लोक किस ग्रन्थका है, यह ज्ञात नहीं होता। परन्तु वह त्रिलोकसारकी निम्न गाथाके छायानुवादके समान है—

माणुसखेत्तपमाणं पढमं चरिमं तु जंवुदीवसमं ।
उभयविसेसे रूऊणिदयभजिदम्हि हाणि-चयं ।। १६९.

आश्चर्य नहीं जो 'उक्तं' च कहकर इसी गाथाको वहां देना चाहते हों और अनुवाद कर दिया हो संस्कृतमें। उसका उत्तरार्ध भी शुद्ध उपलब्ध नहीं है।

जैन सं. सं. संघ
सोलापूर　　　　　　　　　　　　　　वालचन्द्र शास्त्री

विषय-सूची

विषय	श्लोकसंख्या

१. प्रथम विभाग

२. द्वितीय विभाग

३. तृतीय विभाग

८. आठवां विभाग

१०. दशम विभाग

११. ग्यारहवां विभाग

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३	३	त्साव	वत्सा
२३	१७	आठवीं रमणीया	रमणीया, आठवीं
४८	३	दशैवेष	दशैवैष
४८	२१	प्रदेशोंकी हानि करके	प्रदेश जा करके
४८	२२	योजनोंकी भी हानि समझना चाहिये	योजनोंके क्रमको भी जानना चाहिये
४८	२२–२३	प्रदेशोंकी हानि करके	प्रदेश जा करके
४८	२३–२४	प्रकारसे ही ... जानना चाहिये	प्रकारसे पंचानवै अंगुल, धनुष और योजन जानेपर वह क्रमसे सोलह अंगुल आदि प्रमाण ऊँचा उठा है
५१	३	-ताहत	-ताहतम् ।
५३	१२	क्रिमेण	क्रमेण
५५	१	पूव	पूर्व
६३	२४	आगोके	आगेके
८४	२०	कल्पवृक्षोंके मृदंगांग	कल्पवृक्षोंके साथ मृदंगांग
९०	१	तैर्लम्मितो	तैर्लम्भितो
९७	३०	आकऍं	आकरों
९८	१४	शरीरोंका	उपस्थित होनेपर आर्योंके शरीरका
९८	१५	उपस्थित होनेपर	× × ×
१०१	६	तस्सोसल	तस्सोलस
१२२	६	श्रवि [धनि]	श्रवि [धनि]
१२८	७	वारुणश्चार्यमाचान्यो	वारुणश्चार्यमा चान्यो
१२८	२२	सारमट	सारभट
१३३	९	नक्षत्र	ग्रह
१३६	९	चमरस्ततो	चमरस्ततो
१३७	४	-त्रिंशत्तु	-स्त्रिंशत्तु
१६७	५	भूतोत्तमा	भूतोत्तमाः
१६७	५	प्रतिच्छनाश्च	प्रतिच्छन्नाश्च
१६७	१२	किंनरोत्तसाः	किंनरोत्तमाः
१७०	१०	८०००	८००००
१७०	१२	८००००	८०००
१९३	१	शशी	शची
२१८	१४	रहने	रहनेसे
२२०	४	चोर्ध्वायास्युर्ये	चोर्ध्वायास्तुर्ये

सिंहसूरर्षिविरचितः

लोकविभागः



[प्रथमो विभागः]

लोकालोकविभागज्ञान् भक्त्या स्तुत्वा जिनेश्वरान् । व्याख्यास्यामि समासेन लोकतत्त्वमनेकधा ।। १
क्षेत्रं कालस्तथा तीर्थं प्रमाणपुरुषैः सह । चरितं च महत्तेषां पुराणं पञ्चधा विदुः ।। २
समन्ततोऽप्यनन्तस्य वियतो मध्यमाश्रितः । त्रिविभागस्थितो लोकस्तिर्यग्लोकोऽस्य[1] मध्यगः ।। ३
जम्बूद्वीपोऽस्य मध्यस्थो मन्दरस्तस्य मध्यगः । तस्माद्विभागो लोकस्य तिर्यगूर्ध्वोऽधरस्तथा ।। ४
तिर्यग्लोकस्य बाहल्यं मेर्वायामसमं स्मृतम् । तस्मादूर्ध्वो[2] भवेदूर्ध्वो ह्यधस्ताव[द]धरो[3]ऽपि च ।। ५
झल्लरीसदृशो मध्यो वेत्रासनसमोऽधरः । ऊर्ध्वो मृदङ्गसंस्थान इति लोकोऽर्हतोदितः ।। ६
योजनानां शतं पूर्णं सहस्रगुणितं च तत् । जम्बूद्वीपस्य विस्तारो दृष्टः केवलदृष्टिभिः ।। ७
१००००० ।

लोक और अलोकके विभागको जाननेवाले तीर्थंकरोंकी भक्तिपूर्वक स्तुति करके यहां मैं संक्षेपमें अनेक प्रकारके लोकतत्त्वका व्याख्यान करूंगा ।।१।। क्षेत्र, काल, तीर्थ तथा प्रमाणपुरुषोंके साथ उनका महान् चरित्र भी; इस प्रकार पुराण पांच प्रकारका जानना चाहिये ।। २ ।। यह लोक जिसका कि चारों ओर अन्त नहीं है ऐसे अनन्त आकाशके मध्यमें स्थित है । इसके तीन विभाग हैं– ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक (मध्यलोक)। इनमें तिर्यग्लोक इसके मध्यमें स्थित है ।। ३ ।। इसके मध्यमें जम्बूद्वीप स्थित है और उसके भी मध्यमें मंदर पर्वत (मेरु) स्थित है । उसीसे लोकके ये तीन विभाग हैं— तिर्यक्, ऊर्ध्व और अधर ।। ४ ।। इनमें तिर्यग्लोकका बाहल्य (मुटाई) मेरुकी उंचाई (१००००० यो.) के बराबर माना गया है । उक्त मेरुके ऊपर ऊर्ध्वलोक और उसके नीचे अधरलोक स्थित है ।। ५ ।। मध्यलोक झालरके सदृश, अधरलोक वेत्रासनके समान, तथा ऊर्ध्वलोक मृदंग जैसा है । इस प्रकारका यह लोकका आकार अरिहन्त भगवान्के द्वारा कहा गया है ।। ६ ।। केवलियोंके द्वारा जम्बूद्वीपका विस्तार सहस्रसे गुणित पूर्ण सौ योजन अर्थात् एक लाख (१०००००) योजन प्रमाण देखा गया है ।। ७ ।। उसकी परिधिका

१ प लोकस्य । २ ब °दूर्ध्वो । ३ ब °थधरो ।

लक्षस्थानात् क्रमाद् ग्राह्यः सप्त द्वे द्वे षडेककम् । त्रीणि चास्य परिक्षेपो योजनानां प्रमाणतः ॥ ८

तिस्रो गव्यूतयश्चान्या अष्टाविंशधनुःशतम् । त्रयोदशाङ्गुलानि स्युः साधिकं चार्धमङ्गुलम् ॥ ९

यो ३१६२२७ को ३ ध[1] १२८ अं १३ सा १/२ ।

भारतं दक्षिणे वर्षे [र्षं] तत्र हैमवतं परम् । हरिवर्षविदेहाश्च रम्यकं च हिरण्यवत् ॥ १०

ऐरावतं च द्वीपान्ते इति वर्षाणि नामतः । भवेयुरत्र सप्तैव षड्वास्यधरपर्वताः ॥ ११

हिमवानादितः शैलः परतश्च महाहिमः । निषधश्च ततो नीलो रुग्मी च शिखरी च ते ॥ १२

हेमार्जुनमयौ शैलौ तपनीयमयोऽपरः । वैडूर्यो रजतश्चान्यः सौवर्णश्च[2] क्रमात् स्थिताः ॥ १३

षड्विंशतिशतानि स्युः पञ्च योजनसंख्यया । एकान्नविंशतेर्भागाः षट् च दक्षिणपार्थवम् ॥ १४

यो ५२६ भा ६/१९ ।

वर्षात्तु द्विगुणः शैलः शैलाद्वर्ष च तत्परम् । इत्या विदेहतो विद्यात्ततो हानिश्च तत्समा ॥ १५

जम्बूद्वीपस्य भागः स्यान्नवत्यात्र शतस्य यः । भारतं तं विदुः प्राज्ञाः संख्यानज्ञानपारगाः[3] ॥ १६

प्रमाण अंकक्रमसे सात, दो, दो, छह, एक और तीन (३१६२२७) अर्थात् तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन, तीन गव्यूति (कोस), एक सौ अट्ठाईस धनुष और साधिक साढे तेरह अंगुल मात्र है– यो. ३१६२२७ को. ३ ध. १२८ अं. १३½ ॥ ८–९ ॥ उक्त जम्बूद्वीपके भीतर दक्षिणकी ओर भारतवर्ष है । उसके आगे हैमवत, हरिवर्ष, विदेह, रम्यक, हिरण्यवत् और द्वीपके अन्तमें ऐरावत; इस प्रकार इन नामोंसे संयुक्त सात क्षेत्र तथा ये छह वर्षधर पर्वत हैं– आदिमें हिमवान् शैल, फिर महाहिमवान्, निषध, नील, रुग्मी और शिखरी ॥१०–१२॥ वे पर्वत क्रमसे सुवर्ण, चांदी, तपनीय, वैडूर्य, रजत और सुवर्ण स्वरूपसे स्थित हैं ॥१३॥ दक्षिण पार्श्वभागमें स्थित भरतक्षेत्रका विस्तार पांच सौ छब्बीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमेंसे छह भाग प्रमाण है – ५२६ ६/१९ यो. ॥१४॥ क्षेत्रसे दूना पर्वत और फिर उससे दूना आगेका क्षेत्र है । यह क्रम विदेह क्षेत्र पर्यंत जानना चाहिये । आगे इसी क्रमसे उनके विस्तारमें हानि होती गई है ॥ १५ ॥ यहां जम्बूद्वीपका जो एक सौ नब्बैवाँ भाग है उसे संख्याज्ञानके पारगामी विद्वान् भारत वर्ष मानते हैं ॥ विशेषार्थ– जम्बूद्वीपका विस्तार एक लाख (१०००००) योजन प्रमाण है। उसके उपर्युक्त क्रमसे ये १९० विभाग हुए हैं– १ भरत + २ हिमवान् + ४ हैमवत + ८ महाहिमवान् + १६ हरिवर्ष + ३२ निषध + ६४ विदेह + ३२ नील + १६ रम्यक + ८ रुग्मी + ४ हैरण्यवत + २ शिखरी और + १ ऐरावत = १९० । इसीलिये जम्बूद्वीपके विस्तारमें १९० का भाग देकर लब्धको अभीष्ट क्षेत्र अथवा पर्वतके त्रिभागोंसे गुणित करनेपर उसके विस्तारका प्रमाण ज्ञात हो जाता है। जैसे – (१००००० × ३२)/१९० = १६८४२ २/१९ यो. निषध व नील पर्वतका विस्तार ॥१६॥

---

१ व दं । २ प व सौवराश्चि । ३ प संख्याज्ञानपारगाः ।

पूर्वापरायतः शैलो भरतस्य तु मध्यगः। अन्ताभ्यां सागरं[1] प्राप्तो विजयार्धो हि नामतः॥ १७
पञ्चविंशतिमुद्विद्ध[2] २५ स्तच्चतुर्थमधोगतः ६¼। पञ्चाशतं च विस्तीर्णस्त्रिश्रेणी रजतात्मकः॥१८
योजनानि दशोत्पत्य भूम्या दश च विस्तृते। श्रेण्यौ विद्याधराणां द्वे पर्वतायामसंमिते॥ १९
पञ्चाशद्दक्षिणश्रेण्यां षष्ठिरुत्तरतः पुरः। तासां नामानि वक्ष्यामि शास्त्रोद्दिष्टविधिक्रमात्॥ २०
किन्नामितं भवेदाद्यं ततः किन्नरगीतकम्[3]। तृतीयं नरगीताख्यं[4] चतुर्थं बहुकेतुकम्॥ २१
पञ्चमं पुण्डरीकं च सिंहध्वजमतः परम्। श्वेतध्वजं च विज्ञेयं गरुडध्वजमष्टमम्॥ २२
श्रीप्रभं श्रीधरं चैव लोहार्गलमरिंजयम्। वज्रार्गलं च वज्राढ्यं विमोची तु पुरंजयम्॥ २३
शकटादिमुखी प्रोक्ता तथा चैव चतुर्मुखी। बहुमुख्यरजस्का च विरजस्का रथनूपुरम्॥ २४
मेखलाग्रपुरं चैव क्षेमचर्यपराजितम्। कामपुष्पं च विज्ञेयं गगनादिचरी तथा॥ २५
विनयादिचरी चान्या त्रिंशं शुक्रपुरं स्मृतम्। संजयन्ती जयन्ती च विजया वैजयन्तिका॥ २६
क्षेमंकरं च चन्द्राभं सूर्याभं च पुरोत्तमम्। चित्रकूटं महाकूटं हेमकूटं त्रिकूटकम्॥ २७
मेघकूटं विचित्रादिकूटं वैश्रवणादिकम्। सूर्यादिकपुरं चैव तथा चन्द्रपुरं स्मृतम्॥ २८
स्यान्नित्योद्द्योतिनी चान्या विमुखी नित्यवाहिनी। एता वै दक्षिणश्रेण्यां पुरी च सुमुखी तथा॥ २९
प्राकारगोपुरोत्तुङ्गाः सर्वरत्नमयोज्ज्वलाः। राजधान्योऽत्र विज्ञेयाः प्रोक्ता सर्वज्ञपुङ्गवैः॥ ३०

विजयार्ध नामक पर्वत भरत क्षेत्रके मध्यमें स्थित है। यह पर्वत पूर्व-पश्चिममें लंबायमान होकर अपने दोनों ओरके अन्तिम भागोंके द्वारा समुद्रको प्राप्त हुआ है॥१७॥ उपर्युक्त रजतमय पर्वत पच्चीस (२५) योजन ऊंचा, इसके चतुर्थ भाग (६¼यो.) मात्र अवगाहसे संयुक्त और पचास (५०) योजन विस्तीर्ण होता हुआ तीन श्रेणियोंसे सहित है॥१८॥ भूमिसे दस योजन ऊपर जाकर इस पर्वतपर दस योजन विस्तीर्ण दो विद्याधरश्रेणियां हैं। इनकी लंबाई पर्वतकी लंबाईके बराबर है॥१९॥ इन श्रेणियोंमेंसे दक्षिण श्रेणिमें पचास और उत्तर श्रेणिमें साठ नगर हैं। उनके नामोंको शास्त्रोक्त विधिके क्रमसे कहते हैं— १ किन्नामित २ किन्नरगीत ३ तृतीय नरगीत ४ चतुर्थ बहुकेतुक ५ पांचवां पुण्डरीक ६ सिंहध्वज ७ श्वेतध्वज ८ गरुडध्वज ९ श्रीप्रभ १० श्रीधर ११ लोहार्गल १२ अरिंजय १३ वज्रार्गल १४ वज्राढ्य १५ विमोची १६ पुरंजय (जयपुर) १७ शकटमुखी १८ चतुर्मुखी १९ बहुमुखी २० अरजस्का २१ विरजस्का २२ रथनूपुर २३ मेखलापुर २४ क्षेमचरी (क्षेमपुरी) २५ अपराजित २६ कामपुष्प २७ गगनचरी २८ विनयचरी २९ तीसवां (?) शुक्रपुर ३० संजयन्ती ३१ जयन्ती ३२ विजया ३३ वैजयन्ती ३४ क्षेमंकर ३५ चन्द्राभ ३६ सूर्याभ ३७ पुरोत्तम ३८ चित्रकूट ३९ महाकूट ४० हेमकूट ४१ त्रिकूट ४२ मेघकूट ४३ विचित्रकूट ४४ वैश्रवणकूट ४५ सूर्यपुर ४६ चन्द्रपुर ४७ नित्योद्योतिनी ४८ विमुखी ४९ नित्यवाहिनी और ५० सुमुखी, ये पचास नगरियां दक्षिण श्रेणिमें हैं। प्राकार और गोपुरोंसे उन्नत, सर्वरत्नमय एवं उज्ज्वल इन नगरियोंको यहां राजधानी जानना चाहिये; ऐसा

१ आ प सगरं। २ आ प °मुद्विद्द। ३ आ प °नीतकम्। ४ आ प °नीताख्यं।

अर्जुनाख्यारुणी चैव कैलासं वारुणी तथा । विद्युत्प्रभं किलिकिलं चूडामणिशशिप्रभम् ॥ ३१
वंशालं[1] पुष्पचूलं च हंसगर्भं बलाहकम् । शिवंकरं च श्रीसौधं चमरं शिवमन्दिरम् ॥ ३२
वसुमत्का वसुमती सिद्धार्थकमतः परम् । शत्रुंजयं केतुमालमेकविंशं ततः परम् ॥ ३३
सुरेन्द्रकान्तमपरं तथा गगननन्दनम् । अशोका च विशोका च वीतशोका तथा स्मृता ॥ ३४
अलका तिलका चैव तिलकं चाम्बरादिकम् । मन्दरं कुमुदं कुन्दं तथा गगनवल्लभम् ॥ ३५
दिव्यादितिलकं चान्यद् भूम्यादितिलकं तथा । गन्धर्वादिपुरं चान्यन्मुक्ताहारं च नैमिषम् ॥ ३६
अग्निज्वालं महाज्वालं श्रीनिकेतं जयावहम् । श्रीवासं मणिवज्राख्यं भद्राश्वं च धनंजयम् ॥ ३७
गोक्षीरफेनमक्षोभ्यं गिर्यादिशिखरं तथा । धरणी धारिणी[2] दुर्गं दुर्द[र्ध]रं च सुदर्शनम् ॥ ३८
महेन्द्रादिपुरं चैव विजयादिपुरं तथा । सुगन्धिनी पुरी चान्या वज्रार्धतरसंज्ञकम् ॥ ३९
रत्नाकरं च विज्ञेयं तथा रत्नपुरं वरम् । इत्येतान्युत्तरश्रेण्यां षष्ठिरत्र पुराणि तु ॥ ४०
दशैव पुनरुत्पत्य चाभियोग्यपुराणि च । नानाभणिमयान्यत्र प्रासादभवनानि च ॥ ४१
ततः पञ्चोर्ध्वमुत्पत्य शिखरं दशविस्तृतम् । पूर्णभद्रेति सा श्रेणी गिरिनामसुरोऽत्र च ॥ ४२
सिद्धायतनकूटं च दक्षिणार्धकमेव च । खण्डकादिप्रपातं च पूर्णभद्रं ततः परम् ॥ ४३
विजयार्धकुमारं च मणिभद्रमतः परम् । तामिश्रगुहकं चैवमुत्तरार्धं च भारतम् ॥ ४४

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

सर्वज्ञ देवों द्वारा कहा गया है ॥ २०–३० ॥ १ अर्जुना २ अरुणी ३ कैलास ४ वारुणी ५ विद्युत्प्रभ ६ किलकिल ७ चूडामणि ८ शशिप्रभ ९ वंशाल १० पुष्पचूल ११ हंसगर्भ १२ बलाहक १३ शिवंकर १४ श्रीसौध १५ चमर १६ शिवमंदिर १७ वसुमत्का १८ वसुमती १९ सिद्धार्थपुर २० शत्रुंजय २१ इक्कीसवां केतुमाल २२ सुरेन्द्रकान्त २३ गगननन्दन २४ अशोका २५ विशोका २६ वीतशोका २७ अलका २८ तिलका २९ अम्बरतिलक ३० मंदर ३१ कुमुद ३२ कुन्द ३३ गगनवल्लभ ३४ दिव्यतिलक ३५ भूमितिलक ३६ गन्धर्वपुर ३७ मुक्ताहार ३८ नैमिष ३९ अग्निज्वाल ४० महाज्वाल ४१ श्रीनिकेत ४२ जयावह ४३ श्रीवास ४४ मणिवज्र ४५ भद्राश्व ४६ धनंजय ४७ गोक्षीरफेन ४८ अक्षोभ्य ४९ गिरिशिखर ५० धरणी ५१ धारिणी ५२ दुर्ग ५३ दुर्धर ५४ सुदर्शन ५५ महेन्द्रपुर ५६ विजयपुर ५७ सुगन्धिनी ५८ वज्रार्धतर ५९ रत्नाकर और ६० रत्नपुर, इस प्रकार ये साठ नगर यहां उत्तर श्रेणिमें हैं ॥ ३१–४० ॥ इसके आगे दस ही योजन और ऊपर जाकर आभियोग्यपुर हैं। यहां नाना मणियोंसे निर्मित प्रासाद-भवन हैं ॥ ४१ ॥ उसके ऊपर पांच योजन और जाकर दस योजन विस्तृत शिखर है । वह पूर्णभद्रा नामकी श्रेणि है । यहांपर पर्वतके समान नामवाला (विजयार्ध) देव रहता है ॥ ४२ ॥ सिद्धायतन कूट, दक्षिणार्धभरत कूट, खण्डप्रपात, पूर्णभद्र, विजयार्धकुमार, मणिभद्र, तामिश्रगुह, उत्तरार्धभरत और अन्तिम वैश्रवण; ये विजयार्धके ऊपर नौ कूट स्थित हैं । इनकी

१ प वैशालं । २ ब दारिणी ।
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

अन्त्यं वैश्रवणाख्यं च सक्रोशं षट्कमुच्छ्रितिः। जाम्बूनदानि सर्वाणि व्यन्तराक्रीडनानि च ॥ ४५

यो ६ क्रो १ ।

पादोनक्रोशमुत्तुङ्गं पूर्णं गव्यूतिसायतम् । चैत्यं तस्यार्धविस्तीर्णं कूटे प[पू]र्वमुखं स्थितम् ॥ ४६

द्वे शते त्रिंशदष्टौ च कलास्तिस्रश्च पार्थवम् । दक्षिणार्धस्य विज्ञेयमुत्तराऽर्धेऽपि तत्समः ॥ ४७

यो २३८ । $\frac{३}{१९}$ ।

शतानां सप्तनवतिः साधिका षड्भिरष्टकैः । कलाश्च द्वादशैवोक्ता ज्यार्धस्य भरतस्य वा[1] ॥४८

यो ९७४८ । $\frac{१२}{१९}$ ।

इषुणा हीनविष्कम्भाच्चतुर्भिर्गुणितात् पुनः । बाणेन गुणितान्मूलं जीवा स्यादिति भाषिता ॥ ४९

षड्गुणितादिषुवर्गाज्जीवावर्गेण संयुतात् । मूलं चापं भवेदेवं भाषितं मुनिपुङ्गवैः ॥ ५०

उंचाई एक कोस सहित छह ($६\frac{१}{४}$) योजन प्रमाण है। ये सब सुवर्णमय कूट व्यन्तर देवोंके क्रीडास्थान हैं ॥ ४३–४५ ॥ [सिद्धायतन] कूटके ऊपर पाद कम एक ($\frac{३}{४}$) कोस ऊंचा, पूरा एक कोस आयत और उसका आधा विस्तीर्ण ऐसा पूर्वाभिमुख चैत्यालय स्थित है ॥ ४६ ॥ दक्षिण भरतार्धका विस्तार दो सौ अड़तीस योजन और तीन कला ($२३८\frac{३}{१९}$) प्रमाण जानना चाहिये। उत्तर भरतार्धका भी विस्तार उसीके बराबर है ॥ विशेषार्थ– भरत क्षेत्रका विस्तार $५२६\frac{६}{१९}$ योजन है। इसके ठीक बीचमें ५० योजन विस्तृत विजयार्ध पर्वत स्थित है। अत एव भरत क्षेत्रके दो विभाग हो गये हैं। समस्त भरत क्षेत्रके विस्तारमेंसे विजयार्धके विस्तारको कम करके शेषको आधा कर देनेपर दक्षिण व उत्तर भरतार्धका विस्तार होता है। यथा– $५२६\frac{६}{१९} - ५० \div २ = २३८\frac{३}{१९}$ ॥ ४७ ॥ छह अष्टकों ($६ \times ८ = ४८$) से अधिक सत्तानबै सौ योजन और बारह कला प्रमाण ($९७४८\frac{१२}{१९}$ यो.) अर्ध भरतकी जीवा कही गई है ॥४८॥ बाणसे रहित विस्तारको चारसे गुणित करे, पश्चात् उसे बाणसे गुणित करनेपर जो प्राप्त हो उसका वर्गमूल निकाले। इस प्रक्रियासे जीवाका प्रमाण प्राप्त होता है, ऐसा परमागममें कहा गया है ॥ उदाहरण– दक्षिण भरतका बाण $\frac{४५२५}{१९}$; वृत्तविस्तार— $\frac{१९०००००}{१९}$; $(\frac{१९०००००}{१९} - \frac{४५२५}{१९}) \times (\frac{४५२५}{१९} \times ४) = \frac{३४३०८०९७५००}{३६१}$; $\sqrt{\frac{३४३०८०९७५००}{३६१}} = \frac{१८५२२४}{१९} = ९७४८\frac{१२}{१९}$ दक्षिण भरतकी जीवा ॥४९॥ बाणके वर्गको छहसे गुणित करके प्राप्त राशिमें जीवाके वर्गको मिला देनेपर उसका जो वर्गमूल होगा उतना धनुषका प्रमाण होता है, ऐसा मुनियोंमें श्रेष्ठ *गणधर आदिकोंके द्वारा निर्दिष्ट किया गया है* ॥

---

१ ब या ।

शतानि सप्त षट्षष्ठ्या सहस्राणि नवापि च । कला च साधिकैका स्याद्धनुरस्यार्धकस्य यत् ॥ ५१

यो ९७६६ । $\frac{१}{१९}$ ।

शतानि सप्त विंशत्या सहस्रं च दशाहतम् । एकादश कलाश्च ज्या विजयार्धोत्तरश्रिता[1] ॥ ५२

१०७२० । $\frac{११}{१९}$ ।

अयुतं सप्तशत्या च त्रिचत्वारिंशदग्रया । कलाः पञ्चदशापीति धनुःपृष्ठमिहोदितम् ॥ ५३

१०७४३ । $\frac{१५}{१९}$ ।

चतुर्दश सहस्राणि सप्तत्यग्रं चतुःशतम् । सैकं कलाश्च पञ्चैव भरतज्या निदेशिता ॥ ५४

यो १४४७१ । $\frac{५}{१९}$ ।

चतुर्दश सहस्राणि तथा पञ्चगुणं शतम् । अष्टाविंशतिसंयुक्तमेकादश कला धनुः ॥ ५५

यो १४५२८ । $\frac{११}{१९}$ ।

उच्छ्रितो योजनशतं क्षुल्लको हिमवान् गिरिः । महांश्च हिमवांस्तस्माद् द्विगुणो निषधस्ततः ॥ ५६
विंशतिश्च चतुष्कं च सहस्राणां शतानि च । नव द्वात्रिंशदग्राणि कलोना ज्या हिमाह्वके ॥ ५७

यो २४९३२ । $\frac{१}{१९}$ ।

उदाहरण— दक्षिण भरतका वाण $\frac{४५२५}{१९}$ यो.; उसका वर्ग $\frac{२०४७५६२५}{३६१}$; उसकी जीवाका वर्ग $\frac{३४३०८०९७५०}{३६१}$; $\sqrt{\frac{३४३०८०९७५०}{३६१} + \left(\frac{४५२५}{१९}\right)^{२} \times ६} = \frac{१८५५५५}{१९}$ $= ९७६६\frac{१}{१९}$ यो. दक्षिण भरतार्धका धनुष । इसको ग्रन्थकार आगेके श्लोक द्वारा स्वयं निर्दिष्ट करते हैं ॥५०॥ दक्षिण भरतार्धके धनुषका प्रमाण नौ हजार सात सौ छयासठ योजन और साधिक एक कला ($९७६६\frac{१}{१९}$) मात्र है ॥ ५१ ॥ विजयार्धके उत्तरमें जीवाका प्रमाण दशगुणित सहस्र अर्थात् दस हजार सात सौ वीस योजन और ग्यारह कला ($१०७२०\frac{११}{१९}$) मात्र है ॥ ५२ ॥ उसका धनुषपृष्ठ यहां दस हजार सात सौ तेतालीस योजन और पन्द्रह कला ($१०७४३\frac{१५}{१९}$) मात्र कहा गया है ॥ ५३ ॥ भरत क्षेत्रकी जीवा चौदह हजार चार सौ इकहत्तर योजन और पांच कला ($१४४७१\frac{५}{१९}$) प्रमाण निर्दिष्ट की गई है ॥५४॥ उसका (उत्तर भरतका) धनुष चौदह हजार पांच सौ अट्ठाईस योजन और ग्यारह कला ($१४५२८\frac{११}{१९}$) मात्र है ॥ ५५ ॥ क्षुद्र हिमवान् पर्वत एक सौ (१००) योजन ऊंचा है । उससे दूना (२०० यो.) महाहिमवान् और उससे भी दूना (४०० यो.) ऊंचा निषध पर्वत है ॥ ५६ ॥ हिमवान् पर्वतकी जीवा बीस और चार अर्थात् चौबीस हजार नौ सौ बत्तीस योजनमें एक कलासे रहित ($२४९३१\frac{१८}{१९}$) है [इसका प्रमाण त्रिलोकसारकी माधवचन्द्र त्रैविद्य विरचित टीकामें

---

[1] ब श्रिता ।

पञ्चवर्गः सहस्राणां द्वे शते त्रिंशदेव च । चतस्रश्च कला वेद्या हिमवच्चापदण्डके ।। ५८

यो २५२३० । $\frac{४}{१९}$ ।

सिद्धायतनकूटं च हिमवद्भरतादिके । इला गङ्गा श्रिया चैव रोहितास्याख्यमेव च ।। ५९

सिन्धोरपि सुरादेव्या तत्र हैमवतं परम् । कूटं वैश्रवणस्यापि रत्नान्येतानि जातितः ।। ६०

पञ्चविंशतिमुद्विद्धं मूले तत्समविस्तृतम् । चतुर्भागोनकं मध्ये अग्रे द्वादश सार्धकम् ।। ६१

१८ । $\frac{३}{४}$ । १२ । $\frac{१}{२}$ ।

सप्तत्रिंशत्सहस्राणि षट्छतानि[1] च सप्ततिः । चतुष्कं षोडश कला ज्योना हैमवतान्तिमा ।। ६२

यो ३७६७४ । $\frac{१६}{१९}$ ।

अष्टत्रिंशत्सहस्राणि सप्तभिश्च शतैः सह । चत्वारिंशच्च तच्चापं कला दश च साधिकाः ।। ६३

यो ३८७४० । $\frac{१०}{१९}$ ।

त्रिपञ्चाशत्सहस्राणि एकत्रिंशान्यतो नव । शतानि च कलाः षट् च ज्या महाहिमवद्गिरेः ।। ६४

यो ५३९३१ । $\frac{६}{१९}$ ।

द्वे शते त्रिनवत्यग्रे सप्तपञ्चाशदेव च । सहस्राणि कलाश्चान्या दश तच्चापपृष्ठकम् ।। ६५

यो ५७२९३ । $\frac{१०}{१९}$ ।

सिद्धायतनकूटं च महाहिमवतोऽपि च । ततो परं हैमवतं रोहिताकूटमित्यपि ।। ६६

ह्रीकूटं हरिकान्तायाः हरिवर्षकमेव च । वैडूर्यकूटमन्त्यं च रत्नं पञ्चाशदुच्छ्रयम् ।। ६७

२४९३२$\frac{१}{१९}$ यो. बतलाया गया है] ।। ५७ ।। हिमवान् पर्वतके धनुषका प्रमाण पांचका वर्ग अर्थात् पच्चीस हजार दो सौ तीस योजन और चार कला (२५२३०$\frac{४}{१९}$) जानना चाहिये ।। ५८ ।। सिद्धायतनकूट, हिमवान्कूट, भरतकूट, इलाकूट, गंगाकूट, श्रीकूट, रोहितास्याकूट, सिन्धुकूट, सुरादेवीकूट, हैमवतकूट, और वैश्रवणकूट; ये हिमवान् पर्वतके ऊपर स्थित ग्यारह कूट जातिसे रत्नमय हैं ।। ५९–६० ।। प्रत्येक कूट पच्चीस योजन उद्वेध (अवगाह) से सहित और उतना (२५ यो.) ही मूलमें विस्तृत है । उसका विस्तार मध्यमें चतुर्थ भागसे हीन पच्चीस (१८$\frac{३}{४}$) योजन और ऊपर साढे बारह (१२$\frac{१}{२}$) योजन मात्र है ।। ६१ ।। हैमवत क्षेत्रकी अन्तिम जीवाका प्रमाण सैंतीस हजार छह सौ चौहत्तर योजन और सोलह कला (३७६७४$\frac{१६}{१९}$) से कुछ कम है ।। ६२ ।। उसका धनुष अड़तीस हजार सात सौ चालीस योजन और दस कला (३८७४०$\frac{१०}{१९}$) से कुछ अधिक है ।। ६३ ।। महाहिमवान् पर्वतकी जीवा तिरेपन हजार नौ सौ इकतीस योजन और छह कला (५३९३१$\frac{६}{१९}$) प्रमाण है ।। ६४ ।। उसका धनुषपृष्ठ सत्तावन हजार दो सौ तिरानवै योजन और दस कला (५७२९३$\frac{१०}{१९}$) प्रमाण है ।। ६५ ।। सिद्धायतनकूट, महाहिमवान्कूट, हैमवतकूट, रोहिताकूट, ह्रीकूट, हरिकान्ताकूट, हरिवर्षकूट और अन्तिम रत्नमय वैडूर्यकूट; ये आठ कूट महाहिमवान् पर्वतके ऊपर स्थित हैं । इनमेंसे प्रत्येक कूट पचास योजन

[1] प वृतानि ।

त्रिसप्ततिसहस्राणि शतानि नव चैककम् । भागास्सप्तदशापि ज्या हरिवर्षोत्तरा स्मृता ॥ ६८

यो ७३९०१ । १७/१९ ।

सहस्राणामशीतिश्च चतुष्कमथ षोडश । चत्वारश्च तथा भागा धनुःपृष्ठमिहोदितम् ॥ ६९

यो ८४०१६ । ४/१९ ।

नवतिश्च सहस्राणि चत्वारि च पुनः शतम्[1] । षट्पञ्चाशच्च सैषा ज्या निषधे द्विकलाधिका ॥७०

यो ९४१५६ । २/१९ ।

चतुर्विंशं सहस्राणां शतं च त्रिशतानि च । षट्चत्वारिंशदग्राणि कला नव च तद्धनुः ॥ ७१

यो १२४३४६ । ९/१९ ।

चैत्यस्य निषधस्यापि हरिवर्षस्य चापरम् । पूर्वेषां च विदेहानां हरित्कूटं धृतेस्तथा ॥ ७२
सीतोदापरविदेहं रुचकं नवमं भवेत् । सर्वरत्नानि तानि स्युरुच्छ्रयः शतयोजनम् ७३ ॥
दक्षिणार्धस्य यन्मानमाविदेहेभ्य उच्यते । तदेवोत्तरभागस्य यथासंभवमुच्यताम् ॥ ७४
जीवाशोधित[2]जीवार्धं नामतश्चूलिकोच्यते । चापशोधित[2]चापार्धं भवेत्पार्श्वभुजेति च ॥ ७५

ऊंचा है ॥६६–६७॥ हरिवर्ष क्षेत्रकी उत्तर जीवा तिहत्तर हजार नौ सौ एक योजन और सत्तरह भाग (७३९०१ १७/१९) प्रमाण स्मरण की गई है ॥६८॥ इसके धनुषका प्रमाण यहां अस्सी और चार अर्थात् चौरासी हजार सोलह योजन तथा चार भाग (८४०१६ ४/१९) प्रमाण कहा गया है ॥६९॥ नव्वै और चार अर्थात् चौरानबै हजार एक सौ छप्पन योजन और दो कला (९४१५६ २/१९), यह निषध पर्वतकी जीवाका प्रमाण है ॥ ७० ॥ इसके धनुषका प्रमाण सौ और चौवीस अर्थात् एक सौ चौवीस हजार तीन सौ छ्यालीस योजन और नौ कला (१२४३४६ ९/१९) मात्र है ॥ ७१ ॥ चैत्य (सिद्ध) कूट, निषधकूट, हरिवर्षकूट, पूर्वविदेहकूट, हरित्कूट, धृतिकूट, सीतोदाकूट, अपरविदेहकूट और नौवां रुचककूट; इस प्रकार ये नौ कूट निषध पर्वतके ऊपर स्थित हैं। वे कूट सर्वरत्नमय हैं। उंचाई उनकी सौ योजन मात्र है ॥ ७२–७३ ॥

जम्बूदीपके दक्षिण अर्ध भागमें स्थित क्षेत्र-पर्वतादिकोंके विस्तारादिका प्रमाण जो विदेह क्षेत्र पर्यन्त यहां कहा गया है उसीको यथासम्भव उसके उत्तर अर्ध भागमें भी कहना चाहिये ॥ ७४ ॥ अधिक जीवामेंसे हीन जीवाको कम करके शेषको आधा करनेपर जो प्राप्त हो उसे चूलिका कहा जाता है। इसी प्रकार अधिक धनुषमेंसे हीन धनुषको कम करके शेषको आधा करनेपर जो प्राप्त हो उसे पार्श्वभुजा कहा जाता है ॥ ७५ ॥

---

१ आ प पुनः स्मृतम् । २ व शोदित ।

सिद्धायतननीले च प्राग्विदेहाख्यकं पुनः । सीताकीर्त्योश्च कूटे द्वे नरकान्ताख्यमेव च ॥ ७६
अपरेषां विदेहानां रम्यकं चाष्टमं भवेत् अपदर्शनकं चैव सममानानि नैषधैः ॥ ७७
सिद्धाख्यं[1] रुग्मिणो रम्यकं नारीकूटमेव - । बुद्धयाश्च रूप्यकूलाया हैरण्यं मणिकाञ्चनम् ॥७८
सिद्धं शिखरिणः कूटं हैरण्यं रसदेविकम् । रक्ता लक्ष्मी[2] सुवर्णानां रक्तवत्याश्च नामतः ॥ ७९
गन्धवत्याश्च नवमं नाम्नैरावतमित्यपि । मणिकाञ्चनकूटं च समानि हिमवद्गिरेः ॥ ८०
सिद्धाख्यमुत्तरार्धं च तामिस्रगुहकं तथा । कूटं तु माणिभद्रं च विजयार्धकुमारकम् ॥ ८१
कूटं च पूर्णभद्राख्यं प्रपातं खण्डकस्य च । दक्षिणैरावतार्धं च अन्त्यं वैश्रवणं शुभम् ॥ ८२
सहस्रमायतः पद्मस्तदर्धमपि विस्तृतः । योजनानि दशागाढे हिमवन्मूर्धनि ह्रदः ॥ ८३

। १००० ।

महापद्मोऽथ तिगिंच्छः केसरी च महानपि । पुण्डरीको ह्रदश्चाथ गिरिषु द्विगुणाः क्रमात् ॥ ८४

उदाहरण — (१) जैसे विजयार्धकी जीवाका प्रमाण १०७२०$\frac{११}{१९}$ यो. है। इसमेंसे दक्षिण भरत क्षेत्रकी जीवा ९७४८$\frac{१२}{१९}$ को घटा देनेपर शेष ९७१$\frac{१८}{१९}$ रहते हैं। इसका अर्ध भाग ४८५$\frac{३७}{३८}$ यो. होता है। यह विजयार्धकी चूलिकाका प्रमाण होता है। (२) विजयार्धके धनुष १०७४३$\frac{१५}{१९}$ यो. मेंसे दक्षिण भरत क्षेत्रके धनुष ९७६६$\frac{१}{१९}$ घटाकर शेष (९७७$\frac{१४}{१९}$) को आधा कर देनेपर ४८८$\frac{३३}{३८}$ यो. होता है। यह विजयार्धकी पार्श्वभुजाका प्रमाण होता है।

सिद्धायतन, नील, प्राग्विदेह, सीताकूट, कीर्तिकूट, नरकान्ता, अपरविदेह, रम्यक और अपदर्शन; ये निषध पर्वतके ऊपर स्थित कूटोंके समान प्रमाणवाले नौ कूट नील पर्वतके ऊपर स्थित हैं ॥ ७६–७७ ॥ सिद्ध, रुग्मि, रम्यक, नारी, बुद्धि, रुप्यकूला, हैरण्य और मणिकांचन; ये आठ कूट रुग्मि पर्वतके ऊपर स्थित हैं ॥ ७८ ॥ सिद्ध, शिखरी, हैरण्य, रसदेवी, रक्ता, लक्ष्मी, सुवर्ण, रक्तवती, गन्धवती, ऐरावत और मणिकांचन; ये ग्यारह कूट हिमवान् पर्वतके समान शिखरी पर्वतके ऊपर स्थित है ॥ ७९–८० ॥ सिद्ध, उत्तरार्ध ऐरावत, तमिश्रगुह, माणिभद्र, विजयार्धकुमार, पूर्णभद्र, खण्डप्रपात, दक्षिण ऐरावतार्ध और अन्तिम वैश्रवण; ये नौ कूट ऐरावत क्षेत्रके विजयार्धके ऊपर स्थित हैं ॥८१–८२॥

हिमवान् पर्वतके ऊपर एक हजार (१०००) योजन लम्बा, उससे आधा अर्थात् पांच सौ (५००) योजन विस्तारवाला और दस (१०) योजन गहरा पद्म नामका तालाब स्थित है ॥८३॥ आगे महाहिमवान् आदि शेष पांच पर्वतोंके ऊपर इससे दूने प्रमाणवाले (उत्तरके

१ ब 'सिद्धाख्यं' नास्ति । २ अ प लक्षी ।

योजनोच्छ्र्[1]यविष्कम्भं सलिलादर्धमुद्गतम् । गव्यूतिकर्णिकं पद्मं तत्र श्री रत्नवेश्मनि ॥८५

। $\frac{1}{2}$ ।

चत्वारिंशच्छतं चैव सहस्राणामुदाहृतम् । शतं पञ्च दशाग्रं च परिवारः श्रीगृहस्य सः ॥ ८६

। १४०११५ ।

ह्रीर्धृतिः कीर्तिबुद्धी च लक्ष्मीश्चैव ह्रदालयाः । शक्रस्य दक्षिणा देव्य ईशानस्योत्तरा स्मृताः ॥८७
गङ्गा पद्मह्रदात् सिन्धू रोहितास्या च निर्गताः । रोहिच्च हरिकान्ता च महापद्मह्रदात् स्नुते[2]॥८८
निषधाद्धरिच्च सीतोदा महानद्यौ विनिर्गते । सीता च नरकान्ता च प्रस्नुते केसरि[3] ह्रदात् ॥८९
नारी च रूप्यकूला च रुग्मिशैलादधोगते । सुवर्णा च तथा रक्ता रक्तोदापि च षष्ठतः ॥९०
गङ्गावज्रमुखव्यासः क्रोशः षड्योजनानि च । अर्धक्रोशो ऽवगाहस्तु सर्वमन्ते दशाहतम् ॥९१

यो ६२ क्रो १ क्रो ५ (?)

तीन दक्षिणके तीनके समान) क्रमशः महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये पांच तालाब स्थित हैं ॥८४॥ पद्म ह्रदमें एक योजन ऊंचाई व विस्तारवाला, जलसे आधा ($\frac{1}{2}$)योजन ऊंचा और एक कोस विस्तृत कर्णिकासे संयुक्त कमल है। इसके ऊपर रत्नमय भवनमें श्री देवीका निवास है ॥८५॥ श्री देवीके गृहके परिवारस्वरूप वहां एक सौ चालीस हजार अर्थात् एक लाख चालीस हजार एक सौ पन्द्रह (१४०११५) अन्य गृह हैं ॥ ८६ आगे महा-पद्म आदि ह्रदोंमें क्रमसे ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी इन देवियोंके भवन हैं। इनमें दक्षिणकी देवियां (श्री, ह्री और धृति) सौधर्म इन्द्रकी और उत्तरकी (कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी) देवियां ईशान इन्द्रकी स्मरण की गयी हैं ॥८७॥

पद्म ह्रदसे गंगा, सिन्धू और रोहितास्या ये तीन महानदियाँ, तथा महापद्म ह्रदसे रोहित् और हरिकान्ता ये दो महानदियां निकली हैं ॥८८॥ निषध पर्वतस्थ ह्रदसे हरित् और सीतोदा महानदियां तथा केसरी ह्रदसे सीता और नरकान्ता महानदियां निकली हैं ॥८९॥ रुग्मि शैलके ऊपर स्थित ह्रदसे नारी और रूप्यकूला तथा छठे ह्रदसे सुवर्णकूला, रक्ता और रक्तोदा ये महानदियां निकली हैं ॥९०॥

गंगा नदीका वज्रमय मुखविस्तार एक कोस और छह ($६\frac{1}{4}$) योजन, अवगाह आधा ($\frac{1}{2}$) कोस तथा अन्तिम विस्तार मुखविस्तारसे दसगुना($६२\frac{2}{4}$ यो.) है ॥९१॥ यह गंगा नदी

---

१ प ०च्छ्रिय । २ आ प सुते । ३ आ प प्रस्तुते केसरी ।

गत्वा पञ्चशतं प्राच्यां गङ्गा वर्त्म निवृत्य च । दक्षिणा भरतव्यासे पञ्चवर्गे च तद्गिरेः ॥९२
सक्रोशषट् च विस्तीर्णा बहला चार्धयोजनम् । जिह्विका वृषभाकारास्त्यायता चार्धयोजनम् ॥९३

यो ६ क्रो १

जिह्विकायां गता गङ्गा पतन्ती श्रीगृहे शुभे । गोशृङ्गसंस्थिता भूत्वा पतिता दशविस्तृता ॥९४
कूटाकृतिं दधानस्य श्रीगृहस्योदितद्युतेः । कूटान्तस्थितजैनेशप्रतिबिम्बस्य भास्वतः ॥९५
प्रपातोपरि सा गङ्गा रङ्गत्तुङ्गतरङ्गिणी । स्वस्याम्भोधारया सम्यगभिषेक्तुमना इव ॥९६
जटामुकुटशेखरं प्रणतवारिनिर्घोषकम् । नमामि जिनवल्लभं कमलकर्णिकाविष्टरम् ॥९७
योजनानां भवेत् षष्टिः कुण्डस्य दश गाधकम् । मध्येऽष्ट विस्तृतो द्वीपो जलाद्द्विक्रोशमुच्छ्रितः॥९८
मूले मध्ये च शिखरे चतुर्द्व्येकानि[1] विस्तृतः । योजनानि दशोद्विद्धो द्वीपे वज्रमयो गिरिः ॥९९

। ४।२।१ ।

पद्म द्रहसे निकलकर पांच सौ योजन पूर्वकी ओर जाती हुई गंगाकूटके दो कोस इधरसे दक्षिणकी ओर लौटकर [और फिर पांच सौ तेईस योजन और साधिक आधा कोस पर्वतके ऊपर जाकर] भरत क्षेत्रमें पांचके वर्ग प्रमाण अर्थात् पच्चीस योजन पर्वतसे [उसे छोड़कर नीचे गिरती है] । यहांपर सवा छह ($6\frac{1}{4}$) योजन विस्तीर्ण, आधा योजन बाहल्यसे संयुक्त, और आधा योजन ही आयत वृषभाकार जिह्विका (नाली) है। इस नालीमें प्रविष्ट होकर वह गंगा उत्तम श्रीगृहके ऊपर गिरती हुई गोसींगके आकार होकर दस योजन विस्तारके साथ नीचे गिरी है । ॥९२–९४॥ जो श्रीगृह कूटकी आकृतिको धारण करनेवाला, वृद्धिगत कान्तिसे सहित, कूटके अन्तमें स्थित जिनेन्द्रप्रतिबिम्बसे संयुक्त, तथा प्रभास्वर है; उसके ऊपर अपनी चंचल उन्नत तरंगोंसे संयुक्त वह गंगा मानो अपनी जलधारासे जिनेन्द्र देवका अभिषेक करनेकी इच्छासे ही गिरती है ॥९५–९६॥ यह प्रतिमा जटा, मुकुट एवं मालासे सुशोभित; नम्रीभूत जलके निर्घोष (शब्द)से सहित और कमलकी कर्णिकारूप आसनपर विराजमान है। उसके लिये मैं नमस्कार करता हूं ॥९७॥

उस कुण्डका विस्तार साठ योजन और गहराई दस योजन है। इसके मध्यमें जलसे दो कोस ऊंचा और आठ योजन विस्तृत द्वीप है ॥९८॥ इस द्वीपमें दस योजन ऊंचा वज्रमय पर्वत है। उसका विस्तार मूलमें चार, मध्यमें दो और शिखरपर एक योजन मात्र है ॥९९॥

---

१ प चतुर्थद्व्येकानि ।

धनुस्त्रिद्व्येकसहस्रं मूलमध्याग्रविस्तृतम् । पञ्चशत्यर्धमन्तश्च द्विसहस्रोच्छ्रितं गृहम् ॥१००

३००० । २००० । १००० । ७५० । २००० ।

चत्वारिंशद्धनुर्व्यासं तस्माच्च द्विगुणोच्छ्रयम् । वज्रयुग्मकवाटं च द्वारं गिरिगृहस्य[1] च ॥१०१

। ४० । ८० ।

कुण्डाद्दक्षिणतो गत्वा भूमिभागेषु वक्रिता । विजयार्धगुहायां च अष्टयोजनविस्तृता ॥१०२

सहस्रैः सप्तभिर्गङ्गा द्विगुणैः सरितां सह । संगता प्राग्मुखं गत्वा प्राविक्षल्लवणोदधिम् ॥१०३

। १४००० ।

त्रिगव्यूति त्रिनवतिं गङ्गातोरणमुच्छ्रितम् । अर्धयोजनगाधं च नदीविस्तारविस्तृतम् ॥१०४

। यो ९३ क्रो ३ । यो ६२ क्रो २ ।

सदृशी गङ्गया सिन्धुः दिग्विभागाद्विना पुनः । जिह्विकादीनि सरितां द्विगुणान्याविदेहतः॥१०५

तोरणेषु वसन्त्येषु दिक्कुमार्यो वराङ्गनाः । तोरणानां तु सर्वेषामवगाहः समो मतः ॥१०६

द्वे शते[2] सप्तति षट् च षट्कलाश्चोत्तरामुखम् । रोहितास्या गिरौ गत्वा पतित्वा श्रीगृहे गता ॥१०७

यो २७६ । $\frac{६}{१९}$ ।

श्रीगृहका विस्तार मूलमें तीन हजार, मध्यमें दो हजार और ऊपर एक हजार धनुष प्रमाण तथा अभ्यन्तर विस्तार पांच सौ और उनके आधे अर्थात् साढ़े सात सौ धनुष प्रमाण है। उसकी ऊंचाई दो हजार धनुष मात्र है॥१००॥ वज्रमय कपाटयुगलसे संयुक्त उस श्रीगृहका द्वार चालीस (४०) धनुष विस्तृत और इससे दूना (८०) ऊंचा है॥१०१॥

गंगा नदी इस कुण्डसे दक्षिणकी ओर जाकर आगेके भूमिभागोंमें कुटिलताको प्राप्त होती हुई विजयार्धकी गुफामें आठ योजन विस्तृत होकर प्रविष्ट होती है ॥१०२॥ अन्तमें वह दुगुने सात अर्थात् चौदह हजार नदियोंसे संयुक्त होकर पूर्वकी जाती हुई लवण समुद्रमें प्रविष्ट हुई है॥१०३ समुद्रके प्रवेशस्थानमें तेरानवै योजन और तीन कोस ऊंचा, आधा योजन अवगाहसे सहित तथा नदीविस्तारके बराबर विस्तृत गंगातोरण है ॥१०४॥ दिग्विभागको छोड़कर शेष विस्तार आदिके विषयमें सिन्धु नदी गंगाके समान है। इन नदियोंकी नाली आदि विदेह पर्यन्त उत्तरोत्तर दूनी दूनी हैं ॥१०५॥ इन तोरणोंके ऊपर दिक्कुमारी वरांगनायें (उत्तम महिलायें) निवास करती हैं। सब तोरणोंका अवगाह समान माना गया है ॥१०६॥

रोहितास्या नदी हिमवान् पर्वतके ऊपर दो सौ छयत्तर योजन और छह कला

---

१ आ प गुहस्य। २ आ प शाते।

रोहिच्च षोडशाग्नौ तु पञ्चाग्राणि शतानि हि। आगत्य च कलाः पञ्च शतार्धे पतिता गिरेः॥१०८

यो १६०५ । $\frac{५}{१९}$ ।

उदीच्यां हरिकान्ता च तावदेव गता गिरौ । संप्राप्य च शते कुण्डं समुद्रं पश्चिमं गता ॥१०९
एकविंशानि चत्वारि सप्ततिं च शतानि तु। कलां च हरिदागत्य निषधे पतिता भुवि ॥११०

यो ७४२१ । $\frac{१}{१९}$ ।

सीतोदापि ततो गत्वा तावदेव गिरिस्थले[1] । द्विशताच्च भुवं प्राप्य पश्चिमाम्बुनिधिं गता ॥१११
गङ्गा रोहिद्धरित्सीता नारी च सरिदुत्तमा। सुवर्णा च तथा रक्ता पूर्वाः शेषाश्च पश्चिमाः॥११२
श्रद्धावान् विजटावांश्च पद्मवानपि गन्धवान् । वृत्तास्ते विजयार्धाख्या मध्य[ध्ये] हैमवतादिषु॥११३
सहस्रविस्तृता मूले मध्ये तत्तुर्यहीनकाः । शिखरेर्ध सहस्रं तु सहस्रं शुद्धमुच्छ्रिताः ॥ ११४

१००० । ७५० । ५०० । १००० ।

ते च शैला महारम्याः नानामणिविभूषिताः। कुक्कुटाण्डप्रकाशाभा दृष्टाः केवललोचनैः ॥११५

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

(१०५२ $\frac{१२}{१९}$—५००÷२=२७६$\frac{६}{१९}$) उत्तरकी ओर जाकर और फिर नीचे गिरकर श्रीगृहको प्राप्त हुई है ॥१०७॥ रोहित् नदी सोलह सौ पांच योजन और पांच कला (४२१०$\frac{१०}{१९}$–१०००÷२=१६०५$\frac{५}{१९}$) प्रमाण आकर हिमवान् पर्वतको पचास योजन छोड़ती हुई उससे नीचे गिरी है ॥१०८॥ हरिकान्ता नदी भी उत्तरमें उतने (१६०५$\frac{५}{१९}$) ही योजन पर्वतके ऊपर जाकर और फिर सौ योजन पर्वतको छोड़कर कुण्डको प्राप्त होती हुई पश्चिम समुद्रमें प्रविष्ट हुई है ॥१०९॥ हरित् नदी चौहत्तर सौ इक्कीस योजन और एक कला प्रमाण १६८४२$\frac{२}{१९}$–२०००÷२=७४२१$\frac{१}{१९}$) निषध पर्वतके ऊपर आकर उससे नीचे पृथिवीमें गिरी है ॥११०॥ सीतोदा नदी भी निषध पर्वतके ऊपर उतने (७४२१$\frac{१}{१९}$) ही योजन जाकर और उसे दो सौ योजन छोड़कर पृथिवीपर गिरती हुई पश्चिम समुद्रमें प्रविष्ट हुई है ॥१११॥ गंगा, रोहित्, हरित्, सीता, नारी, सुवर्णकूला और रक्ता; ये पूर्वकी महानदियां पूर्व समुद्रमें तथा शेष नदियां पश्चिम समुद्रमें प्रविष्ट हुई हैं॥११२॥

हैमवत आदि (हैमवत, हरि, रम्यक और हैरण्यवत) चार क्षेत्रोंके मध्यमें श्रद्धावान्, विजटावान्, पद्मवान् और गन्धवान्; ये विजयार्ध नामसे प्रसिद्ध चार वृत्त (गोलाकार) पर्वत हैं ॥११३॥ ये पर्वत मूलमें एक हजार योजन विस्तृत, मध्यमें उसके चतुर्थ भागसे हीन अर्थात् साढ़े सात सौ योजन विस्तृत, शिखरपर पांच सौ योजन विस्तृत और शुद्ध एक हजार योजन ऊंचे हैं ॥११४॥ वे पर्वत अतिशय रमणीय, नाना मणियोंसे विभूषित और मुर्गाके अण्डेके

---

१ प गिरिस्थिते ।
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

ते नाभिगिरयो नाम्ना तानप्राप्यार्धयोजनात् । प्रदक्षिणगता नद्यः उभे मन्दरतोऽपि च ॥११६
शिखरेषु गृहेष्वेषां स्वातिश्चारण एव च । व्यन्तरः पद्मनामा च प्रभासश्च वसन्ति ते ॥११७
भरताद्यानि गङ्गाद्या हिमाह्वाद्याश्च पर्वताः । धातकीखण्डके द्विर्द्विः पुष्करार्धे च संख्यया॥११८
द्वीपान् व्यतीत्य संख्येयान् जम्बूद्वीपोऽन्य इष्यते । तत्र सन्ति पुराण्येषामिह ये वर्णिताः सुराः ॥११९
त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि षट्छतानि चतुष्कलाः । अशीतिश्चतुरग्रा च विदेहानां तु विस्तृतिः ॥ १२०

यो ३३६८४ । $\frac{४}{१९}$ ।

नीलमन्दरयोर्मध्ये उत्तराः कुरवः स्थिताः । मेरोश्च निषधस्यापि[1] देवाह्वाः कुरवः स्मृताः ॥१२१
विदेहविस्तृतिः पूर्वा मन्दरव्यासवर्जिता । तदर्धं कुरुविस्तारो दृष्टः सर्वज्ञपुंगवैः ॥१२२
एकादश सहस्राणि शतान्यष्टौ च विस्तृताः । द्विचत्वारिंशदग्राणि कुरवो द्वे कले[2] तथा ॥ १२३

यो ११८४२ । $\frac{२}{१९}$ ।

चत्वारिंशच्छतं त्रीणि सहस्राण्येकसप्ततिः । चतुःकला नवांशश्च कुरुवृत्तं विदुर्बुधाः ॥१२४

समान कान्तिवाले हैं; ऐसा केवलज्ञानियोंके द्वारा देखा गया है ॥११५॥ वे पर्वत नाभिगिरि इस नामसे प्रसिद्ध हैं। रोहित् और रोहितास्या आदि नदियां इन पर्वतोंसे आधा योजन इधर रहकर तथा दो (सीता और सीतोदा) नदियां मंदर पर्वतसे आधा योजन इधर रहकर प्रदक्षिण रूपसे चली जाती हैं ॥११६॥ इन पर्वतोंके शिखरोंपर स्थित गृहोंमें क्रमशः स्वाति, चारण, पद्म और प्रभास नामक व्यन्तर देव रहते हैं ॥११७॥ भरतादिक क्षेत्र, गंगादिक नदियां तथा हिमवान् आदि पर्वत; ये सब धातकीखण्ड द्वीपमें और पुष्करार्ध द्वीपमें जम्बूद्वीपकी अपेक्षा संख्यामें दूने दूने हैं ॥११८॥

संख्यात द्वीपोंको लांघकर दूसरा एक जम्बूद्वीप है। वहांपर जिन व्यन्तर देवोंका यहां अभी वर्णन किया गया है उनके पुर हैं ॥११९॥

विदेहक्षेत्रोंका विस्तार तेतीस हजार छह सौ चौरासी योजन और चार कला ($३३६८४\frac{४}{१९}$) प्रमाण है ॥१२०॥ नील पर्वत और मेरु पर्वतके मध्यमें उत्तरकुरु स्थित हैं। मेरु और निषध पर्वतोंके मध्यमें देवकुरुओंका स्मरण किया गया है ॥१२१॥ पूर्वनिर्दिष्ट विदेहके विस्तारमेंसे मंदर पर्वतके विस्तारको घटा कर आधा करनेपर कुरुक्षेत्रोंका विस्तार होता है, जो कि सर्वज्ञ देवोंके द्वारा प्रत्यक्ष देखा गया है ॥१२२॥ कुरुक्षेत्रोंका उक्त विस्तार ग्यारह हजार आठ सौ व्यालीस योजन और दो कला ($११८४२\frac{२}{१९}$) प्रमाण है ॥१२३॥ इकत्तर हजार एक सौ तेतालीस योजन और चार कला ($७११४३\frac{४}{१९}$) तथा एक कलाका नौवां अंश ($\frac{१}{१९ \times ९}$) इतना

---

१ आ प ०श्चापि । २ प कुले ।

यो ७११४३ । $\frac{4}{19}$ । $\frac{1}{2}$ ।

त्रिपञ्चाशत्सहस्राणि ज्या षष्टिश्च चतुःशती । अष्टादशाधिका चापं कलाश्च द्वादशाधिकाः ॥१२५

५३००० । ६०४१८ । $\frac{12}{19}$ ।

मेरोः पूर्वोत्तरस्यां वै सीतापूर्वतटात्परम्[1] । आसन्नं नीलशैलस्य स्थलं जम्ब्वाः प्रकीर्तितम् ॥१२६

अर्धयोजनमुद्विद्धा उद्वेधाष्टमरुंध्रिका[2] । वेदिका रत्नसंकीर्णा स्थलस्योपरि सर्वतः ॥१२७

। $\frac{1}{16}$ ।

स्थले सहस्रार्धपृथौ[3] मध्येऽष्टबहले पुनः । अन्ते द्विकोशबहले जाम्बूनदमये शुभे ॥१२८

द्वादशाष्टौ च चत्वारि मूल[4]मध्योर्ध्वविस्तृता । पीठिकाष्टोच्छ्रिता तस्या द्वादशाम्बुजवेदिकाः॥१२९

द्वियोजनोच्छ्रितस्कन्धा मूले गव्यूतिविस्तृता । अष्टयोजनशाखा सा त्ववगाढार्धयोजनम् ॥१३०

। क्रो १ ।

अश्मगर्भस्थिरस्कन्धा वज्रशाखा मनोरमा । भ्राजते राजितैः पत्रैरङ्कुरैर्मणिजातिभिः ॥१३१

फलैर्मृदङ्गसंकाशैर्जम्ब्वः[5] स्तूपसमाकृतिः । पृथिवीपरिणामा सा जीवावक्रान्तिजातिका (?) ॥१३२

कुरुक्षेत्रका वृत्तविस्तार है ॥१२४॥ कुरुक्षेत्रकी जीवाका प्रमाण तिरेपन हजार (५३०००) योजन तथा उसके धनुषका प्रमाण साठ हजार चार सौ अठारह योजन और बारह कला (६०४१८$\frac{12}{19}$) प्रमाण है ॥१२५॥

मेरु पर्वतके पूर्व-उत्तर (ईशान) कोणमें सीता नदीके पूर्व तटपर नील पर्वतके पासमें जंबू वृक्षका स्थल बतलाया गया है ॥१२६॥ इस स्थलके ऊपर सब ओर आधा योजन ऊंची और ऊंचाईके आठवें भाग ($\frac{1}{16}$यो.) प्रमाण विस्तारवाली रत्नोंसे व्याप्त एक वेदिका है॥१२७॥ पांच सौ योजन विस्तारवाले और मध्यमें आठ योजन तथा अन्तमें दो कोस बाहल्यसे संयुक्त उस सुवर्णमय उत्तम स्थलके ऊपर मूलमें, मध्यमें और ऊपर यथाक्रमसे बारह, आठ और चार योजन विस्तृत तथा आठ योजन ऊंची जो पीठिका है उसके बारह पद्मवेदिकायें हैं॥१२८–१२९॥ इस स्थलके ऊपर जो जंबू वृक्ष स्थित है उसका स्कंध (तना) दो योजन ऊंचा, मूलमें एक कोस विस्तृत और आधा योजन अवगाहसे संयुक्त है। उसकी आठ योजन दीर्घ चार शाखायें हैं ॥१३०॥ हरित् मणिमय स्थिर स्कन्धवाला एवं वज्रमय शाखाओंसे मनोहर वह वृक्ष विविध मणिभेदोंसे शोभायमान पत्रों एवं अंकुरोंसे सुशोभित है ॥१३१॥ मृदंग जैसे फलोंसे स्तूपके समान आकृतिको धारण करनेवाला वह जंबू वृक्ष पृथिवीके परिणामस्वरूप ......(?)॥१३२॥

---

१ प पूर्वोत्तारात्परं । २ ब उद्वेदाष्ट । ३ ब ०र्ध पृथौ । ४ ब मूले । ५ प जम्बूस्तूप ।

उत्तरस्यां तु शाखायामर्हदायतनं शुभम् । तिसृष्वन्यासु वेश्मानि याद्रा[1] नादराख्ययोः ॥१३३
तस्या जम्ब्वा अधस्तात्तु त्रिशतं विस्तृतानि हि । उच्छ्रितानि शतास्यार्धं भवनान्युक्तदेवयोः॥१३४
आरभ्य बाह्यतः शून्यं प्रथमे च द्वितीयके । तृतीयेऽपि च देवानामष्टाधिकशतद्रुमाः ॥१३५
चतुर्थे प्राक् च देवीनां चतुर्वृक्षाश्च पञ्चमे । वनं वाप्यश्चतुष्कोण[2]वृत्ताद्याः षष्ठके नभः ॥१३६
प्रत्येकं च चतुर्दिक्षु सप्तमे तनुरक्षिणां । सहस्राणां च चत्वारि वृक्षास्तिष्ठन्ति मञ्जुलाः ॥१३७
। मिलित्वा १६००० ।
सामानिकसुराणां स्युरष्टमे पिण्डिता द्रुमाः । ईशाने चोत्तरे वाते सहस्राणां चतुष्टयम् ॥१३८
नवमे दशमे चैकादशे वह्नौ च दक्षिणे । नैऋत्यां त्रिपरिषदामन्तर्मध्यान्तर्वर्तिनाम् ॥१३९
द्वात्रिंशच्च सहस्राणां चत्वारिंशत्तथा पुनः । चत्वारिंशत्तथाष्टाग्रा जम्बूवृक्षा यथाक्रमम् ॥१४०
सेनामहत्तराणां च द्वादशे सप्त पश्चिमे । पद्मस्य परिवारेभ्यः पञ्चाग्रा मुख्यसंयुता ॥१४१
। मुख्यसहित[3]परिवारवृक्षाः १४०१२० ।

उसकी उत्तर दिशागत शाखाके ऊपर उत्तम जिनभवन तथा अन्य तीन शाखाओंके ऊपर आदर और अनादर नामक व्यन्तर देवोंके भवन हैं ॥१३३॥ उस जंबू वृक्षके नीचे तीन सौ योजन विस्तृत और पचास योजन ऊंचे उक्त दोनों देवोंके भवन हैं ॥१३४॥

उपर्युक्त बारह पद्मवेदिकाओंमें बाह्य वेदिकाकी ओरसे प्रारम्भ करके प्रथम और द्वितीय अन्तरालमें शून्य और तृतीय अन्तरालमें देवोंके एक सौ आठ वृक्ष हैं॥१३५॥ चतुर्थ अन्तरालमें पूर्व दिशामें देवियोंके चार वृक्ष, पंचम अन्तरालमें वन व चतुष्कोण एवं गोल आदि वापियां तथा छठे अन्तरालमें शून्य है ॥१३६॥ सातवें अन्तरालमें चारों दिशाओंमेंसे प्रत्येक दिशामें तनुरक्षक देवोंके सुन्दर चार हजार वृक्ष स्थित हैं ॥१३७॥ आठवें अन्तरालमें ईशान, उत्तर और वायु दिशाओंमें सामानिक देवोंके सब मिलकर चार हजार वृक्ष हैं ॥१३८॥ नौवें, दशवें और ग्यारहवें अन्तरालमें अग्नि, दक्षिण और नैऋत्य दिशाओंमें अभ्यन्तर, मध्यम और बाह्य पारिषद देवोंके यथाक्रमसे बत्तीस हजार, चालीस हजार और अड़तालीस हजार जम्बूवृक्ष हैं ॥१३९–१४०॥ बारहवें अन्तरालमें पश्चिम दिशामें सेनामहत्तरोंके सात वृक्ष हैं। पद्मके परिवार पद्मोंकी अपेक्षा ये जम्बूवृक्ष एक मुख्य तथा चार अग्रदेवियोंके इस प्रकार पांच वृक्षोंसे अधिक हैं, अर्थात् वे इन मुख्य वृक्षोंसे सहित परिवार वृक्ष १४०१२० हैं ॥१४१॥

---

१ प ब वेश्मनि पादरा० । २ ब कोण० । ३ आ सपरिवार° ।

दक्षिणापरतो मेरोः सीतोदापश्चिमे तटे । आसन्नं निषधस्यैव स्थलं रूप्यमयं शुभम् ॥१४२

तत्र शाल्मलिराख्याता जम्बूसदृशवर्णना । तस्या दक्षिणशाखायां सिद्धायतनमुत्तमम् ॥१४३

शेषासु दिक्षु वेश्मानि त्रीणि तत्र सुरावपि । वेणुश्च वेणुधारी च देवकुर्वधिवासिनौ ॥ १४४

नीलतो दक्षिणस्यां तु सहस्रे कूटयुग्मकम् । सीतायाः प्राक्तटे चित्रं विचित्रमपरे तटे ॥ १४५

। १००० ।

निषधस्योत्तरस्यां च सीतोदायास्तटद्वये । पुरस्ताद्यमकं कूटं मेघकूटं तु पश्चिमम् ॥१४६

सहस्रं विस्तृतं मूले मध्ये तत्तुर्यहीनकम् । शिखरेऽर्धसहस्रं तु सहस्रं शुद्धमुच्छ्रितम् ॥१४७

। १००० । ७५० । ५०० ।

प्रमाणेनैवमेकैकं कूटमाहुर्महर्षयः । कूटसंज्ञासुरास्तत्र मोदन्ते सुखिनः सदा[1] ॥१४८

सार्धे सहस्रे नीलाद् द्वे[2] नीलनामा ह्रदस्ततः । कुरुनामा च चन्द्रश्च तस्मादैरावतः परम् ॥१४९

। २५०० ।

माल्यवान् दक्षिणो[णे] नद्यां सहस्रार्धान्तराश्च ते । पद्मह्रदसमा मानैरायता दक्षिणोत्तरम् ॥१५०

। ५०० ।

मेरुके दक्षिण-पश्चिममें सीतोदाके पश्चिम तटपर निषध पर्वतके समीपमें उत्तम रजतमय स्थल है ॥१४२॥ वहांपर शाल्मलि वृक्षका अवस्थान बतलाया गया है। उसका वर्णन जंबू वृक्षके समान है। उसकी दक्षिण शाखापर उत्तम सिद्धायतन है ॥१४३॥ शेष दिशागत शाखाओं-पर तीन भवन हैं। उनमें देवकुरु अधिवासी वेणु और वेणुधारी देव रहते हैं ॥१४४॥ नील पर्वतसे दक्षिणकी ओर हजार (१०००) योजन जाकर सीता महानदीके पूर्व तटपर चित्र और पश्चिम तटपर विचित्र नामक दो कूट हैं ॥१४५॥ निषध पर्वतकी उत्तर दिशामें भी सीतोदा महानदीके दोनों तटोंमेंसे पूर्व तटपर यमककूट और पश्चिम तटपर मेघकूट स्थित है ॥१४६॥ इन कूटोंका विस्तार मूलमें एक हजार (१०००) योजन, मध्यमें उससे चतुर्थ भाग हीन अर्थात् साढ़े सात सौ (७५०) योजन और शिखरपर अर्ध सहस्र (५००) योजन प्रमाण है। ऊंचाई उनकी शुद्ध एक हजार योजन मात्र है ॥१४७॥ इस प्रकार महर्षि जन उक्त कूटोंमेंसे प्रत्येक कूटका प्रमाण बतलाते हैं। उनके ऊपर सदा सुखी रहनेवाले कूटनामधारी देव आनंद-पूर्वक रहते हैं ॥१४८॥

नील पर्वतके दक्षिणमें सार्ध दो हजार अर्थात् अढ़ाई हजार (२५००) योजन जाकर नील, कुरु, चन्द्र, उसके आगे ऐरावत और माल्यवान् ये पांच द्रह सीता नदीके मध्यमें हैं। ये प्रमाणमें पद्मद्रहके समान होते हुए दक्षिण-उत्तर आयत हैं। इनके मध्यमें पांच सौ (५००)

---

१ आ प अतोऽग्रे 'निषधस्योत्तरस्यां च' इत्यादि श्लोकः (१४६) पुनर्लिखितोऽस्ति। २ आ प नीला द्वे।

निषधादुत्तरस्यां च नद्यां तु[1] निषधो ह्रदः । कुरुनामा च सूर्यश्च सुलसो विद्युदेव च ॥ १५१
रत्नचित्रतटा वज्रमूलाश्च विपुला ह्रदाः । वसन्ति तेषु नागानां कुमार्यः पद्मवेश्मसु ॥ १५२
अर्धयोजनमुद्विद्धं योजनोच्छ्रयविस्तृतम् । पद्मं गव्यूतिविपुला कर्णिका तावदुच्छ्रिता ॥ १५३
चत्वारिंशच्छतं चैव सहस्राणामुदाहृतम् । शतं पञ्चदशाग्रं च परिवारोऽम्बुजस्य[2] सः ॥ १५४
। १४०११५ ।
तटद्वये ह्रदानां च प्रत्येकं दशसंख्यकाः । काञ्चनाख्याचलाः सन्ति ते ह्रदाभिमुखस्थिताः ॥ १५५
उक्तं च – [ति. प. ४ – २०४९]
एक्केक्कस्स दहस्स य[3] पुव्वदिसाये य अवरदिब्भागे । दह दह कंचणसेला[4] जोयणसयमेत्तउच्छेहा ॥ १
। १०० ।
शतं मूलेषु विपुला मध्ये पञ्चकृतेर्विना । त्वग्रे पञ्चाशतं रुन्द्राः शतोच्छ्रायाश्च ते समाः ॥ १५६
। [१००] । ७५ । ५० । १०० ।
आक्रीडावासकेष्वेषां[5] शिखरेषु शुकप्रभाः । देवा काञ्चनका नाम वसन्ति मुदिताः सदा ॥ १५७
उक्तं च – [त्रि. सा. ६६०; ति. प. ४–२१२८]

योजनका अन्तर है ॥ १४९–१५० ॥ निषध पर्वतके उत्तरमें सीतोदा नदीके मध्यमें निषध, कुरु, सूर्य, सुलस और विद्युत् नामके पांच द्रह हैं ॥ १५१ ॥ इन विशाल द्रहोंके तट रत्नोंसे विचित्र हैं । मूल भाग इनका वज्रमय है । उनके भीतर पद्मभवनोंमें नागकुमारियां रहती हैं ॥ १५२ ॥ जलसे पद्मकी ऊंचाई आधा योजन है । वह एक योजन ऊंचा और उतना ही विस्तृत है । उसकी कर्णिकाका विस्तार एक कोस तथा ऊंचाई भी उतनी ही है ॥ १५३ ॥ उस पद्मके परिवारका प्रमाण एक लाख चालीस हजार एक सौ पन्द्रह (१४०११५) कहा गया है ॥ १५४ ॥ द्रहोंके दोनों तटोंमेंसे प्रत्येक तटपर दस दस कांचन पर्वत हैं जो उक्त द्रहोंके अभिमुख स्थित हैं ॥ १५५ ॥ कहा भी है —

प्रत्येक द्रहके पूर्व दिग्भाग और पश्चिम दिग्भागमें एक सौ (१००) योजन मात्र ऊंचे दस दस कांचन पर्वत हैं ॥ १ ॥

वे पर्वत मूलमें सौ (१००) योजन, मध्यमें पांचके वर्ग स्वरूप पच्चीससे रहित अर्थात् पचत्तर (७५) योजन और अग्रभागमें पचास (५०) योजन विस्तृत तथा सौ (१००) योजन ऊंचे हैं । यह प्रमाण समान रूपसे उन सभी पर्वतोंका हैं ॥ १५६ ॥ क्रीड़ाके आवासरूप इन पर्वतोंके शिखरोंपर तोताके समान कान्तिवाले कांचन देव निवास करते हैं जो सदा प्रमुदित रहते हैं ॥ १५७ ॥ कहा भी है—

---

१ प नद्यास्तु । २ ब ०रांबुजस्य । ३ आ प दहस्स ह य । ४ ब सोला । ५ प °ष्वेप्वां ।

दहदो गंतूणग्गे सहस्सदुग णउदि दोण्णि बे य कला। णदिदारजुदा वेदी दक्खिणउत्तरगभद्दसालस्स॥२
। २०९२ ।
पुव्वावरभागेसुं सा गयदंताचलाण संलग्गा । इगिजोयणमुत्तुंगा जोयणअद्धस्स वित्थारा ॥ ३ ॥
सीताया उत्तरे तीरे कूटं पद्मोत्तरं मतम् । दक्षिणं नीलवत्कूटं पुरस्तान्मेरुपर्वतात् ॥ १५८
सीतोदापूर्वतीरस्थं स्वस्तिकं कूटमिष्यते । नाम्नाञ्जनगिरिः पश्चान्मेरोर्दक्षिणतश्च ते ॥ १५९
कुमुदं दक्षिणे तीरे पलाशं पुनरुत्तरे । सीतोदाया महानद्या अपरस्यां तु मेरुतः ॥ १६०
पश्चात्पुनश्च सीताया वतंसं कूटमिष्यते । पुरस्ताद्रोचनं नाम मेरोरुत्तरतो द्वयम् ॥ १६१
भद्रसालवने तानि समानानि काञ्चनैः । दिशागजेन्द्रनामानो देवास्तेषु वसन्ति च ॥ १६२
अपरोत्तरतो मेरोः काञ्चनो गन्धमादनः । तस्मात्पूर्वोत्तरस्यां च वैडूर्यो माल्यवान् गिरिः॥ १६३
पूर्वदक्षिणतो मेरोः सौमनस्यो हि राजतः । विद्युत्प्रभस्तापनीयो दक्षिणापरतस्ततः ॥ १६४
चतुःशतोच्छ्रया नीले निषधे च समागमे । एते पञ्चशतोच्छ्राया मेरुमाश्रित्य पर्वताः ॥ १६५
। ४०० । ५०० ।
उच्छ्रयस्य चतुर्भागमुभयान्तेऽवगाहनम् । ते पञ्चशतविस्तारा देवोत्तरकुरुश्रिताः ॥ १६६

द्रहोंके आगे दो हजार बानबै (२०९२) योजन और दो कला जाकर नदीद्वारसे संयुक्त दक्षिण-उत्तर भद्रशाल वनकी वेदी अवस्थित है ॥ २ ॥ पूर्व-पश्चिम भागोंमें गजदंत पर्वतोंसे लगी हुई वह वेदी एक योजन ऊंची और आध योजन विस्तृत है ॥ ३ ॥

सीता नदीके उत्तर किनारेपर पद्मोत्तर कूट (पद्मकूट) और उसके दक्षिण किनारेपर नीलवान् कूट स्थित है । ये दोनों कूट मेरु पर्वतके पूर्वमें स्थित हैं ॥ १५८ ॥ सीतोदा नदीके पूर्व तटपर स्थित स्वस्तिक कूट माना जाता है। अंजन नामक पर्वत उसके पश्चिम तटपर स्थित है । ये दोनों दिग्गज पर्वत मेरु पर्वतके दक्षिणमें हैं ॥१५९॥ सीतोदा महानदीके दक्षिण तटपर कुमुद और उसके उत्तर तटपर पलाश पर्वत है। ये दोनों पर्वत मेरुके पश्चिममें हैं॥ १६०॥ सीता नदीके पश्चिम तटपर अवतंस कूट और उसके पूर्व तटपर रोचन नामक कूट स्थित है। ये दोनों कूट मेरुके उत्तरमें हैं ॥ १६१ ॥ भद्रशाल वनमें स्थित उन पर्वतोंके विस्तार आदिका प्रमाण कांचन पर्वतोंके समान है । उनके ऊपर दिग्गजेन्द्र नामक देव निवास करते हैं॥ १६२॥

मेरु पर्वतके पश्चिम-उत्तर (वायव्य) कोणमें सुवर्णमय गन्धमादन पर्वत तथा उसके पूर्वोत्तर (ईशान) कोणमें वैडूर्यमणिमय माल्यवान् पर्वत अवस्थित है ॥ १६३ ॥ मेरुके पूर्व-दक्षिण (आग्नेय) कोणमें रजतमय सौमनस्य पर्वत तथा उसके दक्षिण-पश्चिम (नैर्ऋत्य) कोणमें सुवर्णमय विद्युत्प्रभ पर्वत स्थित है ॥ १६४ ॥ ये पर्वत जहां निषध और नील पर्वतसे संबद्ध हैं वहां उनकी ऊंचाई चार सौ (४००) योजन है। किन्तु मेरुके पासमें उनकी यह ऊंचाई क्रमशः वृद्धिगत होकर पांच सौ (५००) योजन प्रमाण हो गई है ॥ १६५ ॥ उनका अवगाह दोनों ओर ऊंचाईके चतुर्थ भाग प्रमाण है। देवकुरु और उत्तरकुरुके आश्रित इन

त्रिंशत्सहस्राण्यायामो द्वे शते नवसंयुते । षट्कलाश्च समाख्यातावचतुर्णामपि मानतः ॥ १६७

३०२०९ । $\frac{६}{१९}$ ।

सिद्धायतनकूटं च गन्धमादन-कौरवे । गन्धमालिनिकूटं च लोहिताक्षमतः परम् ॥ १६८

स्फटिकानन्दकूटे च मेरोः प्रभृति तानि तु । अवगाहनतुल्यः स्यात्कूटोच्छ्रायो ऽन्त्ययोर्द्वयोः ॥१६९

सिद्धं च माल्यवन्नाम्ना कूटं चोत्तरकौरवम् । कच्छं सागरकं चैव रजतं पूर्णभद्रकम् ॥ १७०

सीता हरिसहं चेति माल्यवत्स्वपि लक्षयेत् । उक्त एवोच्छ्रयो ऽत्रापि नवस्वपि विभागतः ॥१७१

सिद्धं सौमनसं कूटं देवकुर्वाख्यमुत्तमम् । मङ्गलं विमलं चातः काञ्चनं च वशिष्टकम्[1] ॥ १७२

सिद्धं विद्युत्प्रभं कूटं देवकौरवपद्मकम् । तपनं स्वस्तिकं चैव शतज्वलमतः परम् ॥ १७३

पर्वतोंका विस्तार पांच सौ (५००) योजन मात्र है ॥१६६॥ इन चारों ही पर्वतोंकी लंबाईका प्रमाण तीस हजार दो सौ नौ योजन और छह कला (३०२०९$\frac{६}{१९}$) प्रमाण कहा गया है ॥ १६७ ॥ सिद्धायतनकूट, गन्धमादन, कुरु (उत्तरकुरु), गन्धमालिनी, लोहिताक्ष, स्फटिक और आनन्द-कूट; ये सात कूट मेरु पर्वतसे लेकर गन्धमादन गजदन्त पर्वतके ऊपर स्थित हैं । इनमें प्रथम और अन्तिम इन दो कूटोंकी ऊंचाईका प्रमाण दोनों ओरके अन्तिम अवगाह (१००, १२५) के वरावर है ॥ १६८–१६९ ॥

विशेषार्थ––गजदन्त पर्वतोंकी ऊंचाई मेरु पर्वतके पासमें ५०० योजन है । आगे वह क्रमसे हीन होती हुई निषध एवं नील पर्वतके समीपमें ४०० यो. मात्र रह गई है । इस ऊंचाईके अनुसार ही इनके ऊपर स्थित उन कूटोंकी भी ऊंचाई है । तदनुसार प्रथम कूटकी ऊंचाई १२५ यो. (पर्वतकी ऊंचाईके चतुर्थ भाग प्रमाण) और अन्तिम कूटकी ऊंचाई १०० यो. मात्र है । वीचके कूटोंकी ऊंचाई हीनाधिक है । उसके जाननेके लिये यह रीति काममें लायी जाती है– पर्वतके दोनों ओरकी अन्तिम ऊंचाईके प्रमाणको परस्पर घटानेपर जो शेष रहे उसमें एक कम गच्छ (९ व ७) का भाग दे । इस प्रकारसे जो लब्ध हो वह हानिके चयका प्रमाण होता है । इसको एक कम अभीष्ट कूटकी संख्यासे गुणित करके प्राप्त राशिको मुखमें मिला देनेपर विवक्षित कूटकी ऊंचाईका प्रमाण होता है । जैसे आठवें कूटकी ऊंचाईका प्रमाण—
(१२५–१००) ÷ (९–१) = ३$\frac{१}{८}$ हानिचय; ३$\frac{१}{८}$ × (८–१) + १०० = १२१$\frac{७}{८}$ योजन ।

सिद्ध, माल्यवान्, उत्तरकुरु, कच्छ, सागर, रजत, पूर्णभद्र, सीता और हरिसह कूट; ये नौ कूट माल्यवान् गजदन्त पर्वतके ऊपर स्थित जानना चाहिये । इन नौ कूटोंकी ऊंचाईका विभाग पूर्वोक्त क्रमसे यहां भी जानना चाहिये ॥ १७०–१७१ ॥ सिद्ध, सौमनस, देवकुरु, मंगल, विमल, कांचन और अवशिष्ट; ये सात कूट सौमनस गजदन्तके ऊपर अवस्थित हैं ॥१७२॥ सिद्ध, विद्युत्प्रभ, देवकुरु, पद्म, तपन, स्वस्तिक, शतज्वल, सीतोदाकूट और हरिसम नामक कूट;

---

१ आ प विशिष्ठकम् ।

सीतोदाकूटमपरं कूटं हरिसहाख्यकम् । विद्युत्प्रभेषु सर्वेषु त्वेवमेतानि[1] नामभिः ॥ १७४
उभयान्तस्थकूटेषु तेषां देव्यो ह्यनन्तराः । दिक्कुमार्यश्च मध्येषु वसन्त्याक्रीडवेश्मसु ॥ १७५
भोगंकरा भोगवती सुभोगा भोगमालिनी । वत्समित्रा सुमित्रा च वारिषेणा बलेति ताः ॥ १७६

उक्तं च द्वयम् – [ति. प. ४,२१३६–३७.]

मेरुगिरिपुव्वदक्खिणपच्छिमये उत्तरम्मि[2] पत्तेक्कं । सीदासीदोदाये पंच दहा केइ इच्छंति ॥४
ताणं उवदेसेण य एक्केक्कदहस्स दोसु तीरेसु । पण पण कंचणसेला पत्तेक्कं होंति णियमेण ॥५

चित्रकूटः पद्मकूटो नलिनश्चैकशैलकः । शैलाः पूर्वविदेहेषु सीतानीलान्तरायता ॥ १७७
त्रिकूटो निषधं प्राप्तस्तथा वैश्रवणाञ्जनौ । आत्माञ्जनश्च पूर्वाद्याः सीतां प्राप्य प्रतिष्ठिताः[3] ॥ १७८
श्रद्धावान् विजटावाँश्च आशीविषसुखावहौ । अपरेषु विदेहेषु सीतोदानिषधाश्रिताः ॥ १७९
नीलसीतोदयोर्मध्ये चन्द्रमालो गिरि[:]स्थितः । सूर्यमालो नागमालो देवमालश्च नामभिः ॥ १८०
नदीतटेषु तूद्विद्धाः शतानि खलु पञ्च ते । गजदन्तसमाशेषवर्णनाः परिकीर्तिताः ॥ १८१

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

इस प्रकार ये नौ कूट विद्युत्प्रभ गजदन्तके ऊपर अवस्थित हैं ॥ १७३–१७४॥ उनके दोनों ओर-के अन्तिम कूटोंपर अनन्तर कहीं जानेवाली व्यन्तर देवियां तथा मध्यमें स्थित कूटोंपर स्थित क्रीड़ाग्रहोंमें दिक्कुमारियां निवास करती हैं । इन उपर्युक्त देवियोंके नाम ये हैं– भोगंकरा, भोग-वती, सुभोगा, भोगमालिनी, वत्समित्रा, सुमित्रा, वारिषेणा और बला ॥१७५–१७६॥ यहां दो गाथायें कही गई हैं––

मेरु पर्वतके पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इनमेंसे प्रत्येक दिशामें सीता और सीतोदा नदियोंके आश्रित पांच द्रह हैं, ऐसा कितने ही आचार्य मानते हैं । उनके उपदेशके अनुसार प्रत्येक द्रहके दोनों किनारोंपर नियमसे पांच पांच कांचन पर्वत स्थित हैं ॥४–५ ॥

चित्रकूट, पद्मकूट, नलिनकूट और एकशैल वे गजदन्त पर्वत पूर्वविदेहोंमें सीता महानदी और नील पर्वतके बीचमें लंबायमान हैं । निषध पर्वतको प्राप्त त्रिकूट, वैश्रवण, अंजन और आत्मांजन; ये गजदन्त पर्वत पूर्वादिक्रमसे सीता महानदीको प्राप्त होकर प्रतिष्ठित हैं । अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त आठ गतदन्त पर्वत प्रदक्षिणक्रमसे पूर्व विदेहक्षेत्रोंमें अवस्थित हैं ॥ १७७–१७८॥ श्रद्धावान्, विजटावान्, आशीविष और सुखावह; ये गजदन्त पर्वत सीतोदा महानदी और निषध पर्वतके आश्रित होकर अपर विदेहक्षेत्रोंमें अवस्थित हैं । नील पर्वत और सीतोदाके मध्यमें चन्द्रमाल पर्वत स्थित है । इसी प्रकारसे सूर्यमाल, नागमाल और देवमाल नामक गजदन्त पर्वत भी वहां अवस्थित हैं ॥ १७९–१८० ॥ इनकी ऊंचाई नदीतटके ऊपर पांच सौ योजन प्रमाण है । उनका समस्त वर्णन गन्धमादनादि गजदन्त पर्वतोंके समान बतलाया

---

१ ब त्ववमेतानि । २ प उत्तरम्भि । ३ ब सीतां प्रतिष्ठिताः ।
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

षोडशैव सहस्राणि यष्टकोनशतानि षट् । द्वे कले चायता एते चतुःकूटास्तथैकशः ॥ १८२
। १९[६]५९२ । $\frac{२}{१९}$ ।
पर्वताश्रितकूटेषु दिशाकन्या वसन्ति हि । नद्याश्रितेषु कूटेषु अर्हदायतनानि च ॥ १८३
मध्यमेष्वथ कूटेषु व्यन्तराक्रीडनालयाः । अनुपर्वतमायामाः कूटानां गदितो बुधैः ॥ १८४
द्वाविंशतिसहस्राणि भद्रशालवनं स्मृतम् । मेरोः पूर्वापरं सार्धशते[1] द्वे दक्षिणोत्तरम् ॥ १८५
गव्यूतिमवगाढाश्च गव्यूतिद्वयविस्तृताः । वेदिका योजनोत्सेधा वनात्पूर्वापरस्थिताः ॥१८६
नदी ग्राहवती नीलात्प्रच्युता ह्रदवत्यपि । सीतां पङ्कवती चेति वक्षारान्तरसंस्थिताः ॥१८७
पूर्वात्तप्तजला नाम्ना[2] तस्या मत्तजला परा । नद्युन्मत्तजला चेति सीतां निषधपर्वतात् ॥ १८८
क्षारोदा[3] निषधादेव सीतोदा च विनिर्गता । स्रोतोन्तर्वाहिनी चेति सीतोदां प्रविशन्ति ताः ॥१८९
अपरेषु विदेहेषु वपराद् गन्धमालिनी । फेनमालिनिका नीलादूर्मिमालिन्यपि स्नुताः ॥ १९०
एता विभङ्गनद्याख्या रोहित्सदृशवर्णनाः । दिशाकन्या वसन्त्यासां संगमे तोरणालये ॥ १९१
विष्कम्भो मुखे १२$\frac{१}{२}$ । प्रवेशे १२५ ।

गया है ॥ १८१ ॥ ये पर्वत सोलह हजार व आठ कम छह सौ अर्थात् सोलह हजार पांच सौ बानवै योजन और दो कला (१६५९२$\frac{२}{१९}$) प्रमाण लंबे हैं । इनमेंसे प्रत्येकके ऊपर चार कूट अवस्थित हैं ॥ १८२ ॥ इनमेंसे जो कूट पर्वतके आश्रित हैं उनके ऊपर दिक्कन्यायें निवास करती हैं, तथा जो कूट नदीके आश्रित हैं उनके ऊपर जिनभवन स्थित हैं ॥ १८३ ॥ मध्यके कूटोंपर व्यन्तर देवोंके क्रीड़ागृह हैं। इनका आयाम गणधरादिकोंके द्वारा पर्वतके आयामके अनुसार कहा गया है ॥ १८४ ॥

भद्रशाल वनका विस्तार मेरुके पूर्व-पश्चिममें बाईस हजार (२२०००) योजन और उसके दक्षिण-उत्तरमें अढ़ाई सौ योजन प्रमाण है॥ १८५॥ भद्रशाल वनके पूर्व और पश्चिममें जो वेदिकायें स्थित हैं उनका अवगाह एक कोस, विस्तार दो कोस, तथा ऊंचाई एक योजन प्रमाण है ॥ १८६ ॥

ग्राहवती, ह्रदवती और पंकवती ये विभंगा नदियां नील पर्वतसे निकलकर सीता महानदीको प्राप्त हुई हैं। इनका अवस्थान वक्षारोंके मध्यमें है ॥१८७॥पूर्वकी ओरसे तप्तजला नामक दूसरी मत्तजला और तीसरी उन्मत्तजला ये तीन विभंगा नदियां निषध पर्वतसे निकलकर सीत महानदीको प्राप्त हुई हैं ॥ १८८ ॥ क्षारोदा, सीतोदा और स्रोतोवाहिनी ये तीन विभंगा नदियां निषध पर्वतसे ही निकलकर सीतोदा महानदीमें प्रवेश करती हैं ॥१८९॥ गन्धमालिनी,फेनमालिनी, और ऊर्मिमालिनी नामक ये तीन विभंगा नदियां पश्चिमकी ओरसे अपर विदेहोंमें स्थित होती हुई नील पर्वतसे निकलकर सीतोदा महानदीको प्राप्त हुई हैं ॥१९०॥ये उपर्युक्त बारह नदियां विभंगा

---

१ प सार्धं शते । २ आ प जलान्नाम्ना । ३ प क्षीरोदा ।

कच्छा सुकच्छा महाकच्छा चतुर्थी कच्छकावती । आवर्ता लाङ्गलावर्ता पुष्कला पुष्कलावती ॥ १९२
अपराद्या इमे ज्ञेया विजयाश्चक्रवर्तिनाम् । नीलसीते च संप्राप्ताः प्रादक्षिण्येन भाषिताः[1] ॥ १९३
वत्साथ सुवत्सा महावत्सा चतुर्थी वत्सकावती । रम्या सुरम्या रमणीयाष्टमी मङ्गलावती ॥ १९४
पद्मा सुपद्मा महापद्मा चतुर्थी पद्मकावती । शङ्खा च नलिना चैव कुमुदासरिते ऽपि च ॥ १९५
वप्रा सुवप्रा महावप्रा चतुर्थी वप्रकावती । गन्धा खलु सुगन्धा च गन्धिला गन्धमालिनी ॥ १९६
सीतानिषधयोर्मध्ये वत्साद्याः परिकीर्तिताः । पद्माद्या निषधासन्ना वप्राद्या नीलमाश्रिताः ॥ १९७
द्वे सहस्रे शते द्वे च देशोनाश्च त्रयोदश । पूर्वापरेण विष्कम्भो दैर्घ्यं वक्षारसंमितम् ॥ १९८

। २२१२ । $\frac{७}{८}$ ।

द्वात्रिंशद्विजयार्धाश्च तेषां मध्येषु तत्समाः । भारतेन समा मानैर्नवकूटविभूषिताः ॥ १९९
एकशः पञ्चपञ्चाशच्छ्रेण्योः स्युर्नगराणि च । नित्यं विद्याधराश्चैषु परयोर्द्वीपयोस्तथा ॥ २००

नदीके नामसे प्रसिद्ध हैं । इनका वर्णन रोहित् नदीके समान है । इनके संगमस्थानमें स्थित तोरणोंके ऊपर जो प्रासाद स्थित हैं उनमें दिवकन्यायें निवास करती हैं ॥१९१॥ इनका विस्तार मुखमें १२$\frac{१}{२}$ और प्रवेशमें १२५ योजन है ।

कच्छा, सुकच्छा, महाकच्छा, कच्छकावती, आवर्ता, लांगलावर्ता, पुष्कला और पुष्कलावती; ये पश्चिमको आदि लेकर प्रदक्षिणक्रमसे स्थित चक्रवर्तियोंके विजय नील पर्वत और सीता नदीको प्राप्त हैं, ऐसा निर्दिष्ट किया गया है ॥ १९२-१९३ ॥ वत्सा, सुवत्सा, महावत्सा, चतुर्थ वत्सकावती, रम्या, सुरम्या, आठवीं रमणीया, मंगलावती, पद्मा, सुपद्मा, महापद्मा, पद्मकावती, शंखा, नलिना, कुमुदा, सरिता, वप्रा, सुवप्रा, महावप्रा, वप्रकावती, गन्धा, सुगन्धा, गन्धिला और गन्धमालिनी; इनमें वत्सा आदि विजय सीता नदी और निषध पर्वतके मध्यमें कहे गये हैं । पद्मा आदिक देश निषध पर्वतके समीपमें तथा वप्रा आदिक देश नील पर्वतके आश्रित हैं ॥ १९४-१९७ ॥ इनके पूर्वापर विस्तारका प्रमाण कुछ कम दो हजार दो सौ तेरह (२२१२$\frac{७}{८}$) योजन है । लंबाई उनकी वक्षार पर्वतोंके बराबर (१६५९२$\frac{२}{१९}$ यो.) है ॥ १९८ ॥

उन क्षेत्रोंके मध्य भागमें क्षेत्रविस्तारके समान लंबे (२२१२$\frac{२}{१९}$) बत्तीस विजयार्ध पर्वत स्थित हैं । नौ कूटोंसे विभूषित ये विजयार्ध पर्वत प्रमाणमें भरतक्षेत्रस्थ विजयार्धके समान हैं ॥ १९९ ॥ इनमेंसे प्रत्येकके ऊपर दो श्रेणियोंमें पचवन पचवन नगरियां हैं जहां नित्य ही विद्याधरोंका निवास है । इसी प्रकार आगेके दो द्वीपों (धातकीखण्ड और पुष्करार्ध) में भी समझना चाहिये ॥ २०० ॥

---

१ प भाषितः ।

क्षेमा क्षेमपुरी नाम्नाऽरिष्टारिष्टपुरी तथा । खड्गा पुनश्च मञ्जूषा त्वोषधी पुण्डरीकिणी ॥२०१
राजधान्य इमा ज्ञेयाः सीताया उत्तरे तटे । दक्षिणे तु सुसीमा च कुण्डला चापराजिता ॥ २०२
प्रभंकरा चतुर्थी स्यात्पञ्चम्यङ्कावती पुरी । पद्मावती शुभेत्यन्या चाष्टमी रत्नसंचया ॥ २०३
अश्वसिंहमहापुर्यो विजया च पुरी पुनः । अरजा विरजाऽशोका वीतशोकेति चाष्टमी ॥२०४
विजया वैजयन्ती च जयन्त्यन्यापराजिता । चक्रा खड्गा त्वयोध्या च अवध्या[1] चोत्तरे तटे॥२०५
दक्षिणोत्तरतो ह्येता नगर्यो द्वादशायताः । नवयोजनविस्तीर्णा हैमप्राकारसंवृताः ॥ २०६
युक्ता[2] द्वारसहस्रेण तदर्धैरपि चाल्पकैः । सप्तभिश्च शतैर्क्षुद्रै रत्नचित्रकवाटकैः ॥ २०७
सहस्रं च चतुष्काणां रथ्या द्वादशसंगुणाः । एतासामक्षयाश्चैता नगर्यो नान्यनिर्मिताः[3] ॥२०८
गङ्गा सिन्धुश्च विजये प्रसूते नीलपर्वतात् । विजयार्धगुहालीते सीतां प्रविशतश्च[4] ते ॥२०९
योजनाष्टकमुद्विद्धे गुहे द्वादशविस्तृते । विजयार्धसमायामे द्वे द्वे च प्रतिपर्वतम् ॥ २१०

। ५० ।

एवं षोडश ता नद्यो भारत्या गङ्गया समाः । रक्ता रक्तवतीत्येवं निषधात्षोडशागताः ॥ २११

क्षेमा, क्षेमपुरी, अरिष्टा, अरिष्टपुरी, खड्गा, मंजूषा, ओषधी और पुण्डरीकिणी; ये सीता नदीके उत्तर तटपर स्थित राजधानियां जानना चाहिये । उसके दक्षिण तटके ऊपर सुसीमा, कुण्डला, अपराजिता, प्रभंकरा, अंकावती, पद्मावती, शुभा और रत्नसंचया पुरी ये आठ नगरियां स्थित हैं ॥ २०१–२०३ ॥ अश्वपुरी, सिंहपुरी, महापुरी, विजयापुरी, अरजा, विरजा, अशोका और वीतशोका ये राजधानियां सीतोदाके दक्षिण तटपर स्थित हैं ॥ २०४ ॥ विजया, वैजयन्ती, जयन्ती, अपरजिता, चक्रा, खड्गा, अयोध्या और अवध्या ये राजधानियां सीतोदाके उत्तर तटपर स्थित हैं ॥ २०५ ॥

ये नगरियां दक्षिण-उत्तरमें बारह योजन आयत और [पूर्व-पश्चिममें] नौ योजन विस्तीर्ण तथा सुवर्णमय प्राकारसे वेष्टित हैं ॥२०६॥ उक्त नगरियां एक हजार गोपुरद्वारोंसे, इनसे आधे अर्थात् पांच सौ अल्प द्वारोंसे तथा रत्नोंसे विचित्र कपाटोंवाले सात सौ क्षुद्र-द्वारोंसे युक्त हैं । इन नगरियोंमें एक हजार चतुष्पथ और बारह हजार रथमार्ग हैं । ये अविनश्वर नगरियां अन्य किसीके द्वारा निर्मित नहीं है—अकृत्रिम हैं ॥ २०७–२०८ ॥

प्रत्येक विजयमें गंगा और सिंधु ये दो नदियां नील पर्वतसे उत्पन्न होकर विजयार्ध पर्वतकी गुफाओंमेंसे जाती हुई सीता महानदीमें प्रविष्ट होती हैं ॥ २०९ ॥ प्रत्येक विजयार्ध पर्वतमें आठ योजन ऊंची, बारह योजन विस्तृत तथा विजयार्धके बराबर (५० यो.) लंबी दो दो गुफायें स्थित हैं ॥ २१० ॥ इस प्रकार वे सोलह गंगा-सिन्धु नदियां भारत वर्षकी गंगा नदीके समान हैं । इसी प्रकार रक्ता और रक्तवती नामकी सोलह नदियां निषध पर्वतसे निकली हैं ॥२११॥

१ ब अवद्या । २ प युक्त्वा । ३ ब ०निमिताः । ४ प प्राविशतश्च ।

अपरेषु विदेहेषु ताभ्यामेव विनिर्गता । तावन्त्य एव तत्संज्ञाः सीतोदां तु विशन्ति ताः ॥२१२
समाख्याताश्च संज्ञाभिरेता ईरन्ति निम्नगाः । चतुर्दश सहस्राणि नद्यास्ताभिः सहैकशः ॥ २१३
सचतुष्का सहस्राणामशीतिः कुरुनिम्नगाः । एकैकत्र द्वयोर्नद्योस्तदर्धं च तटे तटे ॥ २१४[1]

। ८४०० ।

चतुर्दश च लक्षाणामष्टाग्रा सप्ततिस्तथा । विदेहद्वयसंभूताः सर्वा नद्यः प्रकीर्तिताः ॥ २१५
सप्तादश च लक्षाणामयुतानि नवापि च । द्विसहस्रं नवत्यग्रं जम्बूद्वीपोद्भवापगाः ॥ २१६

। १७९२०९० ।

वैडूर्यवृषभाख्यास्तु पर्वताः काञ्चनैः समाः । ससप्ततिशतं ते च वसन्त्येषु वृषामराः ॥ २१७

। १७० ।

अपर विदेहोंमें उन्हीं दोनों (नील और निषध) पर्वतोंसे निकली हुई गंगा-सिन्धु और रक्ता-रक्तवती नामोंवाली उतनी (सोलह) ही वे नदियां सीतोदा महानदीमें प्रवेश करती हैं ॥२१२॥ ये नदियां उन नामोंसे प्रसिद्ध हैं। उनमेंसे एक एकके साथ संगत होकर चौदह हजार (१४०००) नदियां गमन करती हैं ॥ २१३ ॥ चार सहित अस्सी अर्थात् चौरासी हजार (८४०००) कुरुक्षेत्रस्थ नदियां उक्त सीता-सीतोदा नदियोंमें प्रत्येककी सहायक हैं। उनमेंसे एक एक तटपर आधी (४२०००) नदियां हैं ॥ २१४ ॥ दोनों विदेहक्षेत्रोंमें उत्पन्न हुई सब नदियां चौदह लाख अठहत्तर (१४०००७८) कही गई हैं। यथा—१ सीता + १ सीतोदा + इनकी सहायक कुरुक्षेत्रस्थ नदियां १६८००० (८४००० × २) + विभंगा नदी १२ + इनकी सहायक नदियां ३३६००० (२८०००×१२)+बत्तीस विजयोंकी गंगा–सिंधु और रक्ता–रक्तोदा नामकी ६४ + इनकी सहायक नदियां ८९६००० (१४०००×६४) = १४०००७८ सब विदेहक्षेत्रस्थ नदियां ॥ २१५ ॥

जम्बूद्वीपमें उत्पन्न हुई समस्त नदियां सत्तरह लाख, नौ अयुत (१०००० × ९) दो हजार अर्थात् बानबै हजार नब्बै (१७९२०९०) हैं। यथा— भरतक्षेत्रकी गंगा–सिन्धु २ + इनकी सहायक नदियां २८००० + हैमवत क्षेत्रकी रोहित्-रोहितास्या २ + इनकी सहायक ५६००० + हरिवर्षकी हरित्–हरिकान्ता २ + इनकी सहायक ११२००० + श्लोक २१५ में निर्दिष्ट विदेह क्षेत्रकी १४०००७८+रम्यक क्षेत्रकी नारी-नरकान्ता २+इनकी सहायक ११२००० + हैरण्यवत क्षेत्रकी सुवर्णकूला–रूप्यकूला २ + इनकी सहायक ५६०००+ऐरावत क्षेत्रकी रक्ता–रक्तोदा २ + इनकी सहायक २८००० = १७९२०९० ॥ २१६ ॥

कांचन पर्वतोंके समान जो वैडूर्यमणिमय वृषभ नामक पर्वत हैं वे एक सौ सत्तर हैं—

---

१ प 'नंद्या' ।

पूर्वापरविदेहान्ते संश्रित्य लवणोदधिम् । देवारण्यानि चत्वारि नद्योस्तटचतुष्टये ॥ २१८
विस्तृतिर्द्विसहस्रं च नवशत्येकविंशतिः । अष्टादश कलाश्चैषां वेदिका वेदिकासमाः ॥ २१९

। २९२१ । $\frac{१८}{१९}$ ।

विदेहानां स्थितो मध्ये कुरुद्वयसमीपगः । नवतिं च सहस्राणां नव चोद्गत्य मन्दरः ॥ २२०

। ९९००० ।

तस्यागाधं सहस्रं च विष्कम्भोऽयुतमत्र तु । नवतिश्च दशान्ये स्युर्योजनैकादशांशकाः ॥ २२१

। १००० । १००९० । $\frac{१०}{११}$ ।

एकत्रिंशत्सहस्राणां शतानां नवकं दश । योजनानि परिक्षेपो द्वौ चात्रैकादशांशकौ ॥ २२२

। ३१९१० । $\frac{२}{११}$ ।

एकत्रिंशत्सहस्राणि षट्छतं विंशति-द्विकम् । योजनानां त्रिगव्यूतिर्द्वे शते द्वादशापि च ॥ २२३
दण्डा हस्तत्रिकं भूयोऽप्यङ्गुलानि त्रयोदश । भद्रसालपरिक्षेपो विष्कम्भोऽयुतमत्र तु ॥ २२४

। ३१६२२ को ३ दं २१२ ह ३ अं १३ । १०००० ।

ऊर्ध्वं पञ्चशतं गत्वा नन्दनं नामतो[1] वनम् । तत्पञ्चशतविस्तारं परितो मन्दरं स्थितम् ॥ २२५

भरत-ऐरावत १–१, बत्तीस विदेहविजयस्थ ३२, समस्त अढ़ाई द्वीप सम्बन्धी ३४ × ५ = १७० । इनके ऊपर वृषभ नामक देव रहते हैं ॥ २१७ ॥

पूर्व और अपर विदेह क्षेत्रोंमें सीता–सीतोदा नदियोंके चार तटोंपर लवणोदधिके आश्रित चार देवारण्य स्थित हैं ॥ २१८ ॥ इनका विस्तार दो हजार नौ सौ इक्कीस योजन और अठारह कला (२९२१$\frac{१८}{१९}$) प्रमाण है । इनकी वेदिका [भद्रशाल वनकी] वेदिकाके समान (१ योजन ऊंची, २ कोस विस्तृत और १ कोस अवगाहवाली) है ॥ २१९ ॥

विदेहोंके मध्यमें दोनों कुरुक्षेत्रोंके समीपमें निन्यानबै हजार (९९०००) योजन ऊंचा मन्दर पर्वत स्थित है ॥ २२० ॥ उसकी नींव एक हजार (१०००) योजन और विस्तार [तलभागमें] दस हजार नब्बै योजन व एक योजनके ग्यारह भागोंमेंसे दस भाग (१००९०$\frac{१०}{११}$) प्रमाण है ॥ २२१ ॥ इसकी परिधिका प्रमाण इकतीस हजार नौ सौ दस योजन और एक योजनके ग्यारह भागोंमेंसे दो भाग (३१९१०$\frac{२}{११}$ यो.) है ॥२२२॥ भद्रसाल वनमें अर्थात् पृथिवीके ऊपर उपर्युक्त मेरुकी परिधि इकतीस हजार छह सौ बाईस योजन, तीन कोस, दो सौ बारह धनुष, तीन हाथ और तेरह अंगुल (३१६२२ यो., ३ को., २१२ धनुष, ३ हाथ, १३ अंगुल) प्रमाण है । यहां मेरुका विस्तार दस हजार योजन मात्र है ॥ २२३–२२४ ॥

मेरु पर्वतके ऊपर पांच सौ (५००) योजन जाकर नन्दन वन स्थित है ।

---

१ प नन्दनो वामतो ।

नव चात्र सहस्राणि युतानि नवभिः शतैः । चतुष्कं च शतस्यार्ध भागा षट्कं च विस्तृतम् ॥ २२६

। ९९५४ । $\frac{६}{११}$ ।

एकत्रिंशत्सहस्राणि पुनश्चात्र चतुःशतम् । एकोनाशीतिसंयुक्तं परिधिर्बाह्यको गिरेः ॥ २२७

पूर्व एव सहस्रोनो विष्कम्भोऽभ्यन्तरो भवेत् । वने च नन्दने मेरोः परिक्षेपमतः शृणु ॥ २२८

। ८९५४ । $\frac{६}{११}$ ।

विंशतिश्च पुनश्चाष्टौ सहस्राणि शतत्रयम् । षोडशाग्रं पुनर्विन्ध्या[द्या]दष्टावेकादशांशकाः ॥ २२९

२८३१६ । $\frac{८}{११}$ ।

उसका विस्तार पांच सौ योजन (५००) प्रमाण है । वह मंदर पर्वतके चारों ओर अवस्थित है ॥ २२५ ॥ यहां मेरुका विस्तार नौ हजार नौ सौ चौवन (सौ के आधे पचास और चार $\frac{१००}{२} + ४$) योजन और छह भाग (९९५४$\frac{६}{११}$) प्रमाण है ॥ २२६ ॥

विशेषार्थ— मेरुका विस्तार भूमिके ऊपर भद्रशाल वनमें १०००० यो. प्रमाण है। यही विस्तार ९९००० योजन ऊपर जाकर क्रमशः हीन होता हुआ १००० यो. मात्र रह गया है । अतएव 'भूमिमेंसे मुखको कम करके शेषको ऊंचाईसे भाजित करनेपर हानि-वृद्धिका प्रमाण होता है' इस नियमके अनुसार यहां हानि-वृद्धिका प्रमाण इस प्रकार प्राप्त होता है— भूमि १०००० – मुख १००० = ९०००; ऊंचाई ९९०००; ९००० ÷ ९९००० = $\frac{१}{११}$ यो. । इतनी मेरुके विस्तारमें एक एक योजनकी ऊंचाईपर भूमिकी ओरसे हानि और मुखकी ओरसे वृद्धि होती गई है । अब नन्दन वन चूंकि ५०० यो. की ऊंचाईपर स्थित है अत एव यहां हानिका प्रमाण $\frac{१}{११} \times ५०० = \frac{५००}{११} = ४५\frac{५}{११}$ यो. होगा। इसको भूमि विस्तारमेंसे घटा देनेपर उपर्युक्त विस्तार-प्रमाण प्राप्त हो जाता है। जैसे— १०००० – ४५$\frac{५}{११}$ = ९९५४$\frac{६}{११}$ यो. । यही विस्तारप्रमाण मुखकी ओरसे इस प्रकार प्राप्त होगा– ऊपरकी ओरसे नन्दन वन चूंकि ९८५०० यो. नीचे आकर स्थित है, अतः विस्तार वृद्धिका प्रमाण $\frac{९८५००}{११}$ = ८९५४$\frac{६}{११}$ यो. होगा । इसे मुखमें जोड देनेसे भी वही विस्तारप्रमाण प्राप्त होता है। यथा— १००० + ८९५४$\frac{६}{११}$ = ९९५४$\frac{६}{११}$ यो. । इसी नियमके अनुसार अन्यत्र भी अभीप्सित स्थानमें उसका विस्तारप्रमाण जाना जा सकता है ।

यहां नन्दन वनके समीप मेरुकी बाह्य (नन्दन वनके विस्तारसहित) परिधिका प्रमाण इकतीस हजार चार सौ उन्यासी (३१४७९) योजन प्रमाण है ॥ २२७ ॥ नन्दन वनके भीतर मेरुका अभ्यन्तर विंस्तार एक हजार (५०० × २) योजनोंसे रहित पूर्व (९९५४$\frac{६}{११}$) विस्तारके बराबर है— ९९५४$\frac{६}{११}$ – १००० = ८९५४$\frac{६}{११}$ यो. । अब आगे नन्दन वनके भीतर मेरुकी अभ्यन्तर परिधिका कथन करते हैं, उसे सुनिये ॥ २२८ ॥ वह बीस और आठ अर्थात् अट्ठाईस हजार तीन सौ सोलह योजन और एक योजनके ग्यारह भागोंमेंसे आठ भाग (२८३१६$\frac{८}{११}$) प्रमाण जानना चाहिये ॥ २२९ ॥

द्विषष्टिं च सहस्राणां गत्वा पञ्चशतं तथा । वनं सौमनसं नाम नन्दनेन समं भवेत् ॥ २३०
चत्वार्यत्र सहस्राणि शते द्वे च द्विसप्ततिः । अष्टावेकादशांशाश्च[1] विस्तारो बाहिरो[2] गिरेः ॥२३१

[। ४२७२ । ८/११]

त्रयोदश सहस्राणि शतानामपि पञ्चकम् । एकादश ततः षट् च भागाः परिधिरस्य च ॥ २३२

[१३५११] । ६/११ ।

तद्बाह्यगिरिविष्कम्भः सहस्रेण विवर्जितः । अभ्यन्तरः स एव स्यादिति संख्याविदां मतः ॥२३३

। ३२७२ । ८/११ ।

त्रिशत्येकोनपञ्चाशत् सहस्राणि दशैव च । त्रय एकादशांशाश्च परिक्षेपोऽल्पहीनकाः ॥ २३४

[१०३४९] । ३/११ ।

षट्त्रिंशतं सहस्राणां गत्वातः पाण्डुकं वनम् । मेरोर्मूर्धनि विस्तीर्णं सहस्रार्धं षडूनकम् ॥ २३५
शतं त्रीणि सहस्राणि द्विषष्टिर्योजनानि च । परिक्षेपोऽस्य विज्ञेयो मूर्ध्नि वैडूर्यचूलिका ॥ २३६
द्वादशाष्टौ च चत्वारि मूलमध्याग्रविस्तृता । चत्वारिंशतमुद्विद्धा[3] गिरिराजस्य चूलिका ॥ २३७

नन्दन वनसे बासठ हजार पांच सौ (६२५००) योजन ऊपर जाकर सौमनस नामक वन स्थित है जो विस्तारमें नन्दन वनके ही समान है ॥ २३० ॥ यहां मेरु पर्वतका बाह्य विस्तार चार हजार दो सौ बहत्तर योजन और एक योजनके ग्यारह भागोंमेंसे आठ भाग ($४२७२\frac{८}{११}$) प्रमाण है ॥ २३१ ॥ इसकी परिधि तेरह हजार पांच सौ ग्यारह योजन और एक योजनके ग्यारह भागोंमेंसे छह भाग ($१३५११\frac{६}{११}$) प्रमाण है ॥ २३२ ॥ यहां मेरु पर्वतका जो बाह्य विस्तार है वही एक हजार योजनों (५०० × २) से कम होकर उसका अभ्यन्तर विस्तार होता है – $४२७२\frac{८}{११} - १००० = ३२७२\frac{८}{११}$ यो. ॥२३३॥ इसकी परिधिका प्रमाण दस हजार तीन सौ उनंचास योजन और एक योजनके ग्यारह भागोंमेंसे तीन भाग ($१०३४९\frac{३}{११}$) प्रमाण है ॥ २३४॥

इस सौमनस वनसे छत्तीस हजार (३६०००) योजन ऊपर जाकर मेरुके शिखरपर पाण्डुक वन स्थित है। इसका विस्तार एक हजारके आधे अर्थात् पांच सौ योजनमें छह योजन कम (४९४) है ॥ २३५ ॥

विशेषार्थ— पाण्डुक वनके समीपमें मेरुका विस्तार एक हजार योजन प्रमाण है। उसके ठीक मध्यमें मेरु पर्वतकी चूलिका स्थित है। उसका विस्तार बारह योजन है। अत एव मेरु पर्वतके उक्त विस्तारमेंसे बारह योजन कम करके शेषमें दोका भाग देनेपर पाण्डुक वनका उक्त विस्तार होता है। यथा – $(\frac{१००० - १२}{२}) = ४९४$ यो. $= (५०० - ६)$ ।

इसकी परिधिका प्रमाण तीन हजार एक सौ बासठ योजन जानना चाहिये। इसके मस्तकपर वैडूर्यमणिमय चूलिका अवस्थित है ॥ २३६ ॥ यह मेरु गिरीन्द्रकी चूलिका मूलमें

१ आ प दशांश्च । २ ब वहितो । ३ प 'शतमु'।

सप्तत्रिंशत् परिक्षेपो मध्ये पञ्चकृतिस्तथा । साधिका द्वादशाग्रे च चूलिकाया विदुर्बुधाः ॥ २३८
। २५ ।
एकादशसहस्राणि समरुन्द्रः सुदर्शनः । नन्दनाख्याद्वनादूर्ध्वं[1] तथा सौमनसादपि ॥ २३९
मुखभूम्योर्विशेषस्तु पुनरुत्सेधभाजितः । भूमुखाभ्यां क्रमाद्धानिश्चयश्च भवति ध्रुवम् ॥ २४०
एकेनैकादशांशेन[2] गुणितेष्टे मुखे युते । भूम्यां वा शोधिते[3] व्यासो मेरोरिष्टप्रदेशके ॥ २४१
एकेन पञ्चमांशेन गुणितेष्टे मुखे युते । भूम्यां शोधिते[3] व्यासो चूलिकेष्टप्रदेशके ॥ २४२

बारह, मध्यमें आठ और ऊपर चार योजन विस्तृत है । ऊंचाई उसकी चालीस योजन मात्र है ॥ २३७ ॥ विद्वानोंके द्वारा उस चूलिकाकी परिधिका प्रमाण पाण्डुक वनके समीपमें सैंतीस (३७) योजन, मध्यमें पांचके वर्ग प्रमाण अर्थात् पच्चीस (५ × ५ = २५) योजन और ऊपर बारह (१२) योजनसे कुछ अधिक बतलाया गया है ॥ २३८ ॥ यह सुदर्शन मेरु नन्दन वनसे तथा सौमनस वनसे भी ऊपर ग्यारह हजार (११०००) योजनप्रमाण समान विस्तारवाला है ॥ २३९ ॥

भूमिमेंसे मुखको कम करके शेषको ऊंचाईसे भाजित करनेपर जो लब्ध हो वह निश्चयसे भूमिकी ओरसे हानिका तथा मुखकी ओरसे वृद्धिका प्रमाण होता है ॥ २४० ॥ एक बटे ग्यारह ($\frac{1}{11}$) से अभीष्ट ऊंचाईके प्रमाणको गुणित करनेपर जो प्राप्त हो उसे मुखमें मिला देने अथवा भूमिमेंसे कम करनेपर इष्ट स्थानमें मेरुका विस्तार जाना जाता है ॥२४१॥

उदाहरण– भूमि १०००० यो., मुख १००० यो., ऊंचाई ९९००० यो. । अत एव $\frac{10000 - 1000}{99000} = \frac{1}{11}$ यो.; यह हानि–वृद्धिका प्रमाण हुआ । अब यदि हम उदाहरणस्वरूप सौमनस वनके समीपमें मेरुके विस्तारको जानना चाहते हैं तो वह उपर्युक्त विधानके अनुसार इस प्रकार प्राप्त हो जाता है– भूमिसे सौमनस वनकी ऊंचाई ५०० + ६२५०० = ६३००० योजन है । अत एव पूर्व विधिके अनुसार हानिका प्रमाण जो $\frac{1}{11}$ प्राप्त हुआ है उसको इस ऊंचाईके प्रमाणसे गुणित करनेपर $\frac{1}{11} \times 63000 = \frac{63000}{11} = 5727\frac{3}{11}$ यो. प्राप्त होते हैं। इनको भूमिके प्रमाणमेंसे कम कर देनेपर सौमनस वनके समीप मेरुका विस्तार प्राप्त हो जाता है । यथा– $10000 - 5727\frac{3}{11} = 4272\frac{8}{11}$ यो. । इस प्रमाणको यदि मुखकी ओरसे लाना चाहते हैं तो वह इस प्रकारसे प्राप्त होगा– ऊपरकी ओरसे सौमनस वन ३६००० यो. नीचा है । अत एव वृद्धिका प्रमाण $\frac{1}{11} \times 36000 = \frac{36000}{11} = 3272\frac{8}{11}$ यो. हुआ । इसको मुखमें मिला देनेसे भी वही प्रमाण प्राप्त होता है । यथा– $1000 + 3272\frac{8}{11} = 4272\frac{8}{11}$ यो. ।

एक पंचमांशसे चूलिकाकी अभीष्ट ऊंचाईको गुणित करनेपर जो प्राप्त हो उसको मुखमें मिला देने अथवा भूमिमेंसे कम कर देनेपर अभीष्ट स्थानमें चूलिकाके विस्तारका प्रमाण प्राप्त होता है ॥ २४२ ॥

---

१ प ०ख्यार्वनादूर्ध्वं । २ प ०नेका० । ३ ब शोदिते ।

एकादशप्रदेशेषु एकस्मान्मूलतो भवेत् । हानिरङ्गुलकिष्काद्यादेवं स्यादिति निश्चितम् ॥ २४३
प्रथमो हरितालश्च ततो वैडूर्यसंनिभः । सर्वरत्नमयश्चान्य ऊर्ध्वं वज्रमयस्ततः ॥ २४४
परिधिः पद्मवर्णश्च षष्ठो लोहितवर्णकः । मेरोरिमे परिक्षेपभेदा भूम्या भवन्ति ते ॥ २४५
षोडशैव सहस्राणि सहस्रार्धं च विस्तृताः । प्रत्येकं षट्परिक्षेपाः सप्तमः पादपैः स्मृतः ॥ २४६
सप्तमस्य परिक्षेपभेदा एकादशोदिताः । भद्रसालवनं चान्यन्मानुषोत्तरकं वनम् ॥ २४७
देवानामथ नागानां भूतानां रमणानि च । वनान्येतानि पञ्च स्युर्भद्रसालवने स्फुटम् ॥ २४८
नन्दनं च वनं चोपनन्दनं नन्दने वने । सौमनसवनं चोपसौमनसमिति द्वयम् ॥ २४९
सौमनसवने स्याच्च पाण्डुकं चोपपाण्डुकम् । पाण्डुकाख्यवने स्यातामिति बाह्याद् भवन्ति ते ॥ २५०

उदाहरण– चूलिकाका भूविस्तार १२ यो., मुखविस्तार ४ यो. और ऊंचाई ४० यो. है । अत एव $\frac{१२-४}{४०} = \frac{१}{५}$ यो., यह हानि-वृद्धिका प्रमाण हुआ । अब यदि हम २० योजनकी ऊंचाईपर चूलिकाके विस्तारको जानना चाहते हैं तो वह इस प्रकार प्राप्त हो जाता है—– $\frac{१}{५} \times २० = \frac{२०}{५} = ४$ यो., इसे भूमिमेंसे कम कर देनेपर $१२ - ४ = ८$ यो. प्राप्त होते हैं । यही २० यो. की ऊंचाईपर चूलिकाका विस्तारप्रमाण है । चूंकि यह विस्तार चूलिकाके मध्यका है अत एव ऊपरकी ओरसे नीचाई भी २० यो. ही होती है । इसलिये वृद्धिका प्रमाण भी पूर्वोक्त ४ यो. ही रहेगा । इसे मुखमें मिला देनेसे भी वही प्रमाण प्राप्त होता है —– $४ + ४ = ८$ यो. ।

यहां विस्तारमें मूलतः एक प्रदेशसे लेकर ग्यारह प्रदेशोंपर एक प्रदेशकी हानि हुई है । इसी प्रकारसे मूलतः ग्यारह अंगुलोंपर एक अंगुलकी तथा ग्यारह किष्कुओंपर एक किष्कु आदिकी भी हानि होती गई है, यह निश्चित है ॥ २४३ ॥

मेरु पर्वतकी छह परिधियोंमेंसे प्रथम परिधि हरितालमयी, दूसरी वैडूर्यमणि जैसी, तीसरी सर्वरत्नमयी, चौथी वज्रमयी, पांचवीं पद्मवर्ण और छठी लोहितवर्ण है । मेरुके जो ये परिधिभेद हैं वे भूमिसे होते हैं ॥ २४४–२४५ ॥

इन छह परिधियोंमें प्रत्येक परिधिका विस्तार सोलह हजार और एक हजारके आधे योजन अर्थात् साढ़े सोलह हजार (१६५००) योजन प्रमाण है । सातवीं परिधि वृक्षोंसे की गई है ॥ २४६ ॥ सातवीं परिधिके ग्यारह भेद कहे गये हैं– १ भद्रसाल वन २ मानुपोत्तर वन ३ देवरमण ४ नागरमण और ५ भूतरमण, ये पांच वन स्पष्टतया भद्रसाल वनमें हैं । ६ नन्दनवन और ७ उपनन्दन वन ये दो वन नन्दन वनमें हैं । ८ सौमनस वन और ९ उपसौमनस वन ये दो वन सौमनस वनमें हैं । तथा १० पाण्डुक और ११ उपपाण्डुक वन ये दो वन पाण्डुक नामक वनमें हैं । वे सब बाह्य भागसे हैं ॥ २४७–२५० ॥

मेरुर्वज्रमयो मूले[1] सहस्रं योजनानि सः । एकषष्टिसहस्राणि सर्वरत्नमयस्ततः ।। २५१
अष्टात्रिंशत्सहस्राणि ततो हेममयोऽपि च । भवेदिति विनिर्दिष्टं परमागमकोविदैः ।। २५२
माण[ना]ख्यं चारणाख्यं च गन्धर्वं भवनं तथा । चित्राख्यं भवनं चैव[2] नन्दने दिक्चतुष्टये।।२५३
त्रिंशद्योजनविस्तारः पुनः पञ्चाशदुच्छ्रयः । नवतिश्च परिक्षेपो वृत्तस्य भवनस्य च ।। २५४
प्रथमे भवने सोमो यमश्चारणसंज्ञके । गन्धर्वे वरुणो देवः कुबेरश्चित्रनामके ।। २५५
देव्यः कोटित्रयं सार्धमेकैकस्य समीपगाः । लोकपाला इमे ताभिः रमन्ते दिक्षु सर्वदा ।। २५६

। ३५०००००० ।

वज्रं वज्रप्रभं नाम्नो सुवर्णाख्यं च तत्प्रभम् । वने सौमनसे सन्ति भवनान्येतानि पूर्वतः ।। २५७
मानं नन्दनसंस्थानादर्धं च तदिहेष्यते । लोकपाला इमे चात्र तावतीपरिवारिताः[3] ।। २५८

। वि १५ उ २५ प ४५ ।

लोहितं चाञ्जनं तेषां हारिद्रमथ[4] पाण्डुरम् । पाण्डुके चार्धमानानि तावत्कन्यानि लक्षयेत्।।२५९

। वि ७ । $\frac{1}{2}$ । उ १२ । $\frac{1}{2}$ । प २२ । $\frac{1}{2}$ ।

वह मेरु पर्वत मूल भाग (नीव)में एक हजार (१०००) योजन वज्रमय, उसके ऊपर इकसठ हजार (६१०००) योजन सर्वरत्नमय, तथा उसके ऊपर अड़तीस हजार (३८०००) योजन सुवर्णमय है; ऐसा परमागमके पारगामियों द्वारा निर्दिष्ट किया गया है— १००० + ६१००० + ३८००० = १००००० यो. ।। २५१–५२ ।।

नन्दन वनके भीतर चारों दिशाओंमें मान, चारण, गन्धर्व और चित्र नामक चार भवन स्थित हैं ।। २५३ ।। इन गोलाकार भवनोंमेंसे प्रत्येकका विस्तार तीस योजन, ऊंचाई पचास योजन और परिधि (स्थूल) नब्वै योजन प्रमाण है ।। २५४ ।। इनमेंसे प्रथम भवनमें सोम, दूसरे चारण नामक भवनमें यम, गन्धर्व भवनमें वरुण देव और चित्र नामक भवनमें कुबेर लोकपाल रहता है ।। २५५ ।। इनमेंसे एक एकके समीपमें रहनेवाली साढ़े तीन करोड़ (३५००००००) देवियां होती हैं । पूर्वादिक दिशाओंमें स्थित ये लोकपाल उनके साथ सर्वदा रमण करते हैं ।। २५६ ।।

वज्र, वज्रप्रभ, सुवर्ण और सुवर्णप्रभ नामक ये चार भवन पूर्वादिक क्रमसे सौमनस वनमें विद्यमान हैं ।।२५७।। नंदन वनमें स्थित भवनोंकी अपेक्षा इन भवनोंका प्रमाण आधा (विस्तार १५ यो., ऊंचाई २५ यो., परिधि ४५ यो.) माना जाता है । यहां भी ये लोकपाल उतनी ही देवियोंसे परिवेष्टित रहते हैं ।। २५८ ।। लोहित, अंजन, हारिद्र और पाण्डुर ये चार भवन पाण्डुक वनमें स्थित हैं । उनका प्रमाण सौमनस वनके भवनोंकी अपेक्षा आधा है— विस्तार ७$\frac{1}{2}$, ऊंचाई १२$\frac{1}{2}$, परिधि २२$\frac{1}{2}$ यो. । देवकन्यायें उतनी ही जानना चाहिये ।। २५९ ।।

---

१ प मूले । २ आ ब चैवं । ३ आ प तावंतोपरिवारिताः । ४ आ हरिद्रमथ ।

स्वयंप्रभविमानेशः सोमः पूर्वदिशाधिपः । स्थानकेषु विमानानां षट्कानां षट्सु भोजकः ॥२६०

। ६६६६६६ । उक्तं च [ति. प. ८, २९७]—

छल्लक्खा छावट्ठी सहस्सया छस्सयाणि छासट्ठी[1] ।

सक्कस्स दिगिंदाणं विमाणसंखा य पत्तेक्कं ॥ ४ ॥

वस्त्रैराभरणैर्गन्धैः पुष्पैर्वाहनविस्त[ष्ट]रैः । रक्तवर्णैर्युतः सर्वैः सार्धपल्यद्विकस्थितिः ॥ २६१

वरारिष्टविमानेशो यमो दक्षिणदिक्पतिः । पूर्ववत्कृष्णनेपथ्यः सार्धपल्यद्विकस्थितिः ॥ २६२

जलप्रभविमानेशो वरुणश्चापरापतिः । सोमवत्पीतनेपथ्यो न्यूनपल्यत्रिकस्थितिः ॥ २६३

वल्गुप्रभविमानेशः कुबेरश्चोत्तरापतिः । सोमवच्छुक्लनेपथ्यो न्यूनपल्यत्रिकस्थितिः ॥ २६४

नन्दने बलभद्राख्ये मेरोरुत्तरपूर्वतः । कूटे तन्नामको देवो मानैः काञ्चनकैः समे ॥ २६५

नन्दनं मन्दरं चैव निषधं हिमवत्पुनः । रजतं रुचकं चापि ततः सागरचित्रकम् ॥ २६६

वज्राख्यमष्टमं कूटं द्वे द्वे स्यातां चतुर्दिशम् । नन्दने दिक्कुमारीणां सहस्रार्धोद्गतानि च ॥२६७

स्वयंप्रभ विमानका अधिपति और पूर्वदिशाका स्वामी सोम नामक लोकपाल छह स्थानोंमें स्थित छह अंकों प्रमाण अर्थात् छह लाख छयासठ हजार छह सौ छयासठ (६६६६६६) विमानोंका उपभोक्ता है ॥ २६० ॥ कहा भी है—

सौधर्म इन्द्रके लोकपालोंमेंसे प्रत्येक लोकपालके विमानोंकी संख्या छह लाख छयासठ हजार छह सौ छयासठ है ॥ ४ ॥

यह सोम नामक लोकपाल लाल वर्णवाले सब वस्त्र, आभरण, गन्ध, पुष्प, वाहन और विस्त[ष्ट]रों (आसनों) से संयुक्त होता है । आयु उसकी अढ़ाई पल्योपम प्रमाण होती है ॥ २६१ ॥ उत्तम अरिष्ट विमानका स्वामी यम नामक लोकपाल दक्षिण दिशाका अधिपति होता है । पूर्वके समान उसकी वेषभूषा कृष्णवर्ण और आयु अढ़ाई पल्योपम प्रमाण होती है ॥ २६२ ॥ जलप्रभ विमानका अधीश्वर वरुण नामक लोकपाल पश्चिम दिशाका स्वामी होता है । सोम लोकपालके समान उसकी वेषभूषा पीतवर्ण और आयु कुछ कम तीन पल्योपम प्रमाण होती है ॥ २६३ ॥ वल्गुप्रभ विमानका अधिपति कुबेर नामक लोकपाल उत्तर दिशाका स्वामी होता है । सोम लोकपालके समान उसकी वेषभूषा शुक्लवर्ण और आयु कुछ कम तीन पल्योपम प्रमाण होती है ॥ २६४ ॥

नन्दन वनमें मेरुके उत्तर-पूर्व (ईशान) में बलभद्र नामक कूट स्थित है । इसका प्रमाण कांचन पर्वतोंके समान है । उसके ऊपर कूट जैसे नामवाला (बलभद्र) देव रहता है ॥ २६५ ॥

नन्दन, मंदर, निषध, हिमवान्, रजत, रुचक, सागरचित्र और आठवां वज्र नामक कूट; इस प्रकार ये दो दो कूट नन्दन वनके भीतर चारों दिशाओंमें दिक्कुमारियोंके स्थित हैं । इनकी ऊंचाई एक हजारके आधे अर्थात् पांच सौ (५००) योजन प्रमाण है । विस्तार उनका

१ आ ब छावट्ठी ।

मूले तूच्छ्रयरुन्द्राणि मध्ये पञ्चघनाद्विना । पञ्चाशद् द्वे शते चाग्रे कूटमानानि तेष्विमाः ॥२६८

। ५०० । ३७५ । २५० ।

मेघंकरा मेघवती सुमेघा मेघमालनी । तोयंधरा[1] विचित्रा च पुष्पमालाप्यनिन्दिता ॥ २६९

वापीत्युत्पलगुल्मा च नलिना चोत्पलेति च । उत्पलोज्ज्वलसंज्ञा च मेरोस्ताः पूर्वदक्षिणे ॥२७०

मयूरहंसक्रौञ्चाद्यैर्यन्त्रैर्नित्यमलंकृताः[2] । मणितोरणसंयुक्ता रत्नसोपानपङक्तयः ॥ २७१

तासां पञ्चाशदायामस्तदर्धमपि विस्तृतिः । दशावगाढः प्रासादस्तासां मध्ये शचीपतेः ॥ २७२

एकत्रिंशत्सगव्यूतिर्द्विषष्टिः सार्धयोजना । आयामविस्तृती तुङ्गस्तस्य गाधोऽर्धयोजनम् ॥ २७३

आ ३१ को १ । वि ३१ को १ । उ ६२ को २ । अ को २ ।

उक्तं च द्वयं त्रिलोकप्रज्ञप्तौ [४, १९४९–५०]—

पोक्खरणीणं मज्झे सक्कस्स हवे विहारपासादो । पणघणकोसुत्तुंगो तद्दलरुंदो णिरुवमाणो ॥ ५

१२५ । ६२ । $\frac{1}{2}$ ।

एक्कं कोसं गाढो सो णिलओ विविहकेदुरमणिज्जो । तस्सायामपमाणे उवएसो णत्थि अम्हाणं ॥६

सिंहासनं तु तन्मध्ये शक्रस्यामिततेजसः । चत्वारि लोकपालानामासनानि चतुर्दिशम् ॥ २७४

मूलमें ऊंचाई समान (५०० यो.), मध्यमें पांचके घन अर्थात् एक सौ पच्चीस (५ × ५ × ५ = १२५) योजनोंके विना ऊंचाईके बराबर (५०० – १२५ = ३७५ यो.) तथा ऊपर दो सौ पचास (२५०) योजन प्रमाण है। उनके ऊपर ये देवियां रहती हैं— मेघंकरा, मेघवती, सुमेघा, मेघमालिनी, तोयंधरा, विचित्रा, पुष्पमाला और अनिन्दिता ॥ २६६–२६९ ॥

वहां मेरुके पूर्व-दक्षिण (आग्नेय) भागमें उत्पलगुल्मा, नलिना, उत्पला और उत्पलोज्वला नामकी चार वापियां स्थित है ॥ २७० ॥ वे मयूर, हंस और क्रौंच आदि यंत्रोंसे सदा सुशोभित; मणिमय तोरणोंसे संयुक्त, तथा रत्नमय सोपानों (सीढियों) की पंक्तियोंसे सहित हैं ॥ २७१ ॥ उनका आयाम पचास (५०) योजन, विस्तार इससे आधा (२५ यो.) और गहराई दस (१०) योजन प्रमाण है। उनके मध्यमें इन्द्रका भवन अवस्थित है ॥ २७२ ॥ इस प्रासादका आयाम और विस्तार एक कोस सहित इकतीस (३१$\frac{1}{4}$) योजन, ऊंचाई साढ़े बासठ (६२$\frac{1}{2}$) योजन, और गहराई आधा योजन (२ कोस) मात्र है॥ २७३ ॥ त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें कहा भी है —

वापियोंके मध्यमें सौधर्म इन्द्रका विहारप्रासाद स्थित है। उस अनुपम प्रासादकी ऊंचाई पांचके घन अर्थात् एक सौ पच्चीस (५ × ५ × ५ = १२५) कोस और विस्तार इससे आधा (६२$\frac{1}{2}$ कोस) है ॥ ५ ॥ अनेक प्रकारकी ध्वजाओंसे रमणीय वह प्रासाद एक कोस गहरा है। उसके आयामके प्रमाण विषयक उपदेश हमें उपलब्ध नहीं है ॥ ६ ॥

उक्त प्रासादके मध्यमें अपरिमित तेजके धारक सौधर्म इन्द्रका सिंहासन है। उसके

---

१ ब तोयंदरा । २ प क्रोंचाद्यै° ।

पूर्वोत्तरस्यां तस्यैव चापरोत्तरतस्तथा । सामानिकानां देवानां रम्यभद्रासनानि च ॥ २७५

४२००० । ४२००० ।

अष्टानामग्रदेवीनां पुरो भद्रासनानि च । आसन्नपरिषत्तस्य सासना पूर्वदक्षिणे ॥ २७६

८ । १२००० ।

मध्यमा दक्षिणस्यां च बाह्या चापरदक्षिणे । त्रयस्त्रिंशच्च तत्रैव पश्चात् सैन्यमहत्तराः ॥२७७

१४००० । १६००० । ३३ ।

चतसृष्वात्मरक्षाणां दिक्षु भद्रासनानि च । उपास्यमानस्तैरिन्द्र आस्ते पूर्वमुखः सुखम् ।। २७८

८४००० । ८४००० । ८४००० । ८४००० ।

उक्तं च त्रिलोकप्रज्ञप्तौ [४, १९५१–६१]—

सीहासणमइरम्मं सोहम्मिंदस्स भवणमज्झम्मि । तस्स य चउसु दिसासुं चउपीढा लोयवालाणं ॥७

सोहम्मिंदासणदो दक्खिणभायम्मि कणयणिम्मिविदं । सिंहासणं विराजदि मणिगणखचिदं पडिंदस्स॥

सिंहासणस्स पुरदो अट्ठाणं होंति अग्गमहिसीणं । बत्तीससहस्साणि वियाण[1] पवराइ पीढाइं[2] ॥९

८ । ३२००० ।

चारों ओर लोकपाल देवोंके चार आसन स्थित हैं ॥ २७४ ॥ उसीकी पूर्वोत्तर (ईशान) दिशा तथा पश्चिमोत्तर (वायव्य) दिशामें सामानिक देवोंके रमणीय भद्रासन अवस्थित हैं — ईशानमें ४२०००, वायव्यमें ४२००० ॥ २७५ ॥ आठ (८) अग्र देवियोंके भद्रासन इन्द्रके आसनके सामने हैं । उसके पूर्व-दक्षिण (आग्नेय) भागमें आसनसहित अभ्यन्तर परिषदके देव (१२०००) बैठते हैं ॥२७६॥ उसकी दक्षिण दिशामें मध्यम परिषद् (१४०००) के तथा पश्चिम-दक्षिण (नैर्ऋत्य) कोणमें बाह्य परिषद् (१६०००) के देव बैठते हैं, उसी दिशा भागमें त्रायस्त्रिंश (३३) देव विराजते हैं । सेनामहत्तर देव इन्द्रके सिंहासनके पीछे स्थित रहते हैं ॥ २७७ ॥ आत्मरक्ष देवोंके भद्रासन चारों दिशाओंमें (पूर्वमें ८४०००, दक्षिणमें ८४०००, पश्चिममें ८४०००, उत्तरमें ८४०००) स्थित होते हैं । उन सब देवोंसे सेवमान सौधर्म इन्द्र उपर्युक्त सिंहासनके ऊपर पूर्वाभिमुख होकर सुखपूर्वक स्थित रहता है ॥ २७८ ॥ त्रिलोक-प्रज्ञप्तिमें कहा भी है —

उस भवनके मध्यमें अतिशय रमणीय सौधर्म इन्द्रका सिंहासन स्थित है । उसकी चारों दिशाओंमें चार आसन लोकपाल देवोंके हैं ॥ ७ ॥ सौधर्म इन्द्रके आसनसे दक्षिण भागमें सुवर्णसे निर्मित और मणिसमूहसे खचित प्रतीन्द्रका सिंहासन विराजमान है ॥ ८ ॥ मध्य सिंहासनके आगे आठ (८) अग्र महिषियोंके बत्तीस हजार (३२०००) उत्तम आसन जानना

---

१ प्रतिपु 'पियाण' । २ प्रतिपु 'पीडाइं' ।

पवणीसाण दिसासुं पासे सिंहासणस्स चुलसीदी। लक्खाणि वरपीढा[1] हवंति सामाणिय-
। ८४००००० । सुराणं ॥ १०

तस्सग्गिदिसाभागे बारसलक्खाणि पढमपरिसाए । पीढाणि होंति कंचणरइदाणिं रयण-
। १२००००० । खचिदाइं ॥ ११

दक्खिणदिसाविभागे मज्झिमपरिसामराण पीढाणिं। रम्माइं रायंते[2] चोद्दसलक्खप्पमाणाणि ॥ १२
। १४००००० ।

णइरिदिदिसाविभाए बाहिरपरिसामराण पीढाणिं । कंचणरयणमयाणिं सोलसलक्खाणि
। १६००००० । चिट्ठंति ॥ १३

तत्थ य दिसाविभाए तेत्तीससुराण होंति तेत्तीसा । वरपीढाणि णिरंतरपुरंतमणि-
किरणणियराणि ॥ १४

सिंहासणस्स पच्छिमभागे चिट्ठंति सत्तपीढाणिं । छक्कं महत्तराणं महत्तरीए हवे एक्कं ॥ १५
। ६ । १ ।

सिंहासणस्स चउसु वि दिसासु चिट्ठंति अंगरक्खाणं । चउरासीदिसहस्सा पीढाणि विचित्त-
। ८४००० । रूवाणि ॥ १६

सिंहासणम्मि[3] तस्सि पुव्वमुहे पइसिदूण[4] सोहम्मो। विविहविणोदेण जुदो पेच्छइ सेवागदे देवे॥ १७

भृङ्गा भृङ्गनिभा चान्या कज्जला कज्जलप्रभा। दक्षिणापरतस्त्वेताः पुष्करिण्यस्तथाविधाः ॥ २७९

चाहिये ॥ ९ ॥ मध्य सिंहासनके पासमें वायव्य और ईशान दिशाओंमें सामानिक देवोंके चौरासी लाख (८४०००००) उत्तम आसन होते हैं ॥ १० ॥ उसके आग्नेय दिशाभागमें प्रथम परिषद्के सुवर्णसे रचित और रत्नोंसे खचित बारह लाख (१२०००००) आसन होते हैं ॥ ११ ॥ उसके दक्षिण दिशा विभागमें मध्यम पारिषद देवोंके रमणीय चौदह लाख (१४०००००) प्रमाण आसन विराजमान हैं ॥ १२ ॥ नैर्ऋत्य दिशा विभागमें बाह्य पारिषद देवोंके सुवर्ण एवं रत्नमय सोलह लाख (१६०००००) आसन स्थित हैं ॥ १३ ॥ उसी दिशाविभागमें त्रायस्त्रिंश देवोंके निरंतर प्रकाशमान मणियोंके किरणसमूहसे व्याप्त तेतीस (३३) उत्तम आसन स्थित हैं ॥ १४ ॥ मध्य सिंहासनके पश्चिम दिशाभागमें सात (७) आसन अवस्थित हैं । इनमें छह (६) आसन तो छह सेनामहत्तरोंके और एक (१) महत्तरीका है ॥ १५ ॥ मध्य सिंहासनकी चारों ही दिशाओंमें अंगरक्षक देवोंके विचित्र रूपवाले चौरासी हजार (८४०००) आसन स्थित हैं ॥ १६ ॥ उस पूर्वाभिमुख सिंहासनपर बैठकर सौधर्म इन्द्र अनेक प्रकारके विनोदके साथ सेवामें आये हुए देवोंको देखता है ॥ १७ ॥

भृंगा, भृंगनिभा, कज्जला और कज्जलप्रभा ये उसी प्रकारकी चार वापिकायें दक्षिण-

---

१ आ प पीडा । २ ति. प. कंचणरयणमयाणिं । ३ आ °सणविमि, प °सणविपि । ३ आ प पुंमुहे वइ°, ब पुम्मुहे वइ° ।

श्रीकान्ता श्रीयुता चन्द्रा ततः श्रीमहितेति च । श्रीपूर्वनिलया चैव ईशानस्यापरोत्तरे ॥ २८०
नलिनोत्तरपूर्वस्यां तथा नलिनगुल्मिका। कुमुदाथ कुमुदाभा चैवं सौमनसेऽपि च ॥ २८१
चूलिकोत्तरपूर्वस्यां पाण्डुका विमला शिला। पाण्डुकम्वलनामा च रक्तान्या रक्तकम्बला ॥ २८२
विदिक्षु क्रमशो हैमी राजती तापनीयिका। लोहिताक्षमयी चैता अर्धचन्द्रोपमाः शिलाः ॥ २८३
अष्टोच्छ्रयाः शतं दीर्घा रुन्द्रा पञ्चाशतं[1] च ताः। शिले पाण्डुकरक्ताख्ये दीर्घे पूर्वापरेण च ॥२८४
द्वे पाण्डुकम्वलाख्या च रक्तकम्वलसंज्ञिका। दक्षिणोत्तरदीर्घे ताश्चास्थिरस्थिरभूमुखाः ॥ २८५
धनुःपञ्चशतं दीर्घं मूले तावच्च विस्तृतम्। अग्रे तदर्धविस्तारं एकशोऽत्रासनत्रयम् ॥ २८६
शक्रस्य दक्षिणं तेषु वीशानस्योत्तरं स्मृतम्। मध्यमं जिनदेवानां तानि पूर्वमुखानि च ॥ २८७
भारताः पाण्डुकायां तु रक्तायामौत्तरा जिनाः। पाण्डुकम्वलसंज्ञायां पश्चाद्वैदेहका जिनाः ॥२८८
पूर्ववैदेहकाश्चापि रक्तकम्वलनामनि। इन्द्रैर्बाल्येऽभिषिच्यन्ते तेषु सिंहासनेषु तु ॥ २८९

पश्चिम (नैर्ऋत्य) कोणमें अवस्थित है ॥ २७९ ॥ श्रीकान्ता, श्रीचन्द्रा, श्रीमहिता और श्रीनिलया ये ईशान इन्द्रकी चार वापिकायें पश्चिम-उत्तर (वायव्य) दिशाभागमें स्थित हैं ॥ २८० ॥ नलिना, नलिनगुल्मिका, कुमुदा और कुमुदाभा ये चार वापिकायें उत्तर-पूर्व (ईशान) कोणमें स्थित हैं। इसी प्रकारसे ये वापिकायें सौमनस वनमें भी अवस्थित हैं ॥ २८१ ॥

चूलिकाके उत्तर-पूर्व (ईशान) भागमें निर्मल पाण्डुका शिला स्थित है। पाण्डुकम्वला, रक्ता और रक्तकम्वला नामकी ये तीन शिलायें इसी क्रमसे त्रिदिशाओं (आग्नेय, नैर्ऋत्य एवं वायव्य) में स्थित हैं। इनमें पाण्डुका शिला सुवर्णमय, पाण्डुकम्वला रजतमय, रक्ता तपनीय-मय और रक्तकम्वला लोहिताक्षमयी है। ये सव शिलायें आकारमें अर्धचन्द्रके समान हैं ॥ २८२–८३ ॥ वे शिलायें आठ (८) योजन ऊंची, सौ (१००) योजन आयत और पचास (५०) योजन विस्तृत हैं। इनमें पाण्डुका और रक्ता नामकी दो शिलायें पूर्व-पश्चिम आयत तथा पाण्डुकम्वला और रक्तकम्वला नामकी दो शिलायें दक्षिण-उत्तर आयत हैं। वे शिलायें अस्थिर भूमि और स्थिर मुखवाली हैं ॥ २८४-८५ ॥ इनमेंसे प्रत्येक शिलाके ऊपर तीन तीन आसन स्थित हैं। इनकी दीर्घता (ऊंचाई) पांच सौ (५००) धनुष और मूलमें विस्तार भी उतना (५०० धनुष) ही है। उपरिम विस्तार उनका इससे आधा (२५० धनुष) है ॥ २८६ ॥ उनमें दक्षिण सिंहासन सौधर्म इन्द्रका, उत्तर ईशान इन्द्रका, और मध्यम जिनदेवों (तीर्थंकरों) का है। वे आसन पूर्वमुख अवस्थित हैं ॥ २८७ ॥ पाण्डुका शिलाके ऊपर भरत क्षेत्रमें उत्पन्न हुए तीर्थंकरोंका, रक्ता शिलाके ऊपर औत्तर अर्थात् ऐरावत क्षेत्रमें उत्पन्न तीर्थंकरोंका, पाण्डुकम्वला नामक शिलाके ऊपर अपरविदेहवर्ती तीर्थंकरोंका, तथा रक्तकम्वला नामक शिलाके ऊपर पूर्व विदेहवर्ती तीर्थंकरोंका अभिषेक वाल्यावस्थामें उन सिंहासनोंके ऊपर इन्द्रों द्वारा किया जाता है ॥ २८८–८९ ॥

१ प पंचशतं।

दैर्घ्यं योजनपञ्चाशद्विस्तारस्तस्य चार्धकम् । सप्तत्रिंशद्द्विभागश्च चैत्यस्योच्छ्रय इष्यते ॥ २९०
३७ । १/२ ।
चतुर्योजनविस्तारं द्वारमष्टोच्छ्रयं पुनः । तनुद्वारे च तस्यार्धमाने क्रोशावगाढकम् ॥ २९१
सौमनसेषुकारेषु मानुषोत्तरकुण्डले । वक्षारकुलशैलेषु रुचकाद्रौ च मञ्जुले ॥ २९२ ॥ त्रिकम्
अष्टौ दीर्घो द्विविस्तारश्चत्वारि च समुच्छ्रितः । गव्यूतिमवगाढश्च देवच्छन्दो मनोहरः ॥ २९३
रत्नस्तम्भधृतश्चारुसूर्यादिमिथुनोज्ज्वलः । नानापक्षिमृगाणां च युग्मैर्नित्यमलंकृतः ॥ २९४
अष्टोत्तरशतं गर्भगृहाणि जिनमन्दिरे । तत्र स्फटिकरत्नोद्घपीठाणि रुचिराणि तु ॥ २९५
अष्टोत्तरशतं तत्र पर्यङ्कासनमाश्रिताः । जिनार्चा[1] रत्नमय्यः स्युर्धनुःपञ्चशतोन्नताः ॥ २९६
द्वात्रिंशन्नागयक्षाणां मिथुनप्रतियातनाः[2] । चामराङ्कितहस्ताः स्युः प्रत्येकं रत्ननिर्मिताः ॥ २९७
सनत्कुमारसर्वाह्णयक्षयोः प्रतिबिम्बके । श्रीदेवीश्रुतदेव्योश्च प्रतिबिम्बे जिनपार्श्वयोः ॥ २९८
भृङ्गारकलशादर्शा वीजनं ध्वजचामरे । सुप्रतिष्ठातपत्रे चेत्यष्टौ सन्मङ्गलान्यपि ॥ २९९

सौमनस वन, इषुकार पर्वत, मानुषोत्तर पर्वत, कुण्डल गिरि, वक्षार पर्वत, कुलाचल और रमणीय रुचक पर्वत; इनके ऊपर स्थित जिनभवनकी लंबाई पचास (५०) योजन, विस्तार उससे आधा (२५ योजन) तथा ऊंचाई सैंतीस योजन और एक योजनके द्वितीय भाग (३७ १/२ यो.) प्रमाण मानी जाती है । [प्रत्येक जिनभवनमें एक महाद्वार और दो क्षुद्रद्वार होते हैं ।] उसके महाद्वारका विस्तार चार (४) योजन और ऊंचाई आठ (८) योजन प्रमाण होती है । क्षुद्रद्वारोंका प्रमाण महाद्वारकी अपेक्षा आधा होता है । जिनभवनका अवगाढ (नीव) एक कोस मात्र होता है ॥ २९०-९२ ॥

जिनभवनका मनोहर देवच्छंद आठ (८) योजन लंबा, दो (२) योजन विस्तीर्ण, चार (४) योजन ऊंचा तथा एक कोस अवगाहवाला होता है ॥ २९३ ॥ उक्त देवच्छंद रत्नमय खम्भोंके आश्रित, सुन्दर सूर्यादिके युगलोंसे उज्ज्वल, तथा अनेक पक्षियों एवं मृगोंके युगलोंसे नित्य ही अलंकृत होता है ॥ २९४ ॥

जिनमन्दिरमें एक सौ आठ (१०८) गर्भगृह और उनमें स्फटिक एवं रत्नोंसे प्रशस्त रमणीय सिंहासन होते हैं ॥ २९५ ॥ वहां पर्यंक आसनके आश्रित अर्थात् पद्मासनसे स्थित और पांच सौ धनुष ऊंची एक सौ आठ (१०८) रत्नमयी जिनप्रतिमायें विराजमान होती हैं ॥ २९६ ॥ वहां हाथोंमें चामरोंको धारण करनेवाली व प्रत्येक रत्नोंसे निर्मित ऐसी बत्तीस नाग-यक्षोंके युगलोंकी मूर्तियां होती हैं ॥ २९७ ॥ प्रत्येक जिनबिम्बके दोनों पार्श्वभागोंमें सनत्कुमार और सर्वाह्ण यक्षोंके तथा श्रीदेवी और श्रुतदेवीके प्रतिबिम्ब होते हैं ॥ २९८ ॥ भृंगार, कलश, दर्पण, वीजना, ध्वजा, चामर, सुप्रतिष्ठ और छत्र; ये आठ उत्तम मंगलद्रव्य हैं । रत्नोंसे उज्ज्वल वे

१ प जिनार्च्या । २ ब प्रतिमातनाः ।

अष्टोत्तरशतं तानि मङ्गलानि पृथक् पृथक् । रत्नोज्ज्वलानि राजन्ते प्रतिमोभयपार्श्वयोः ॥ ३००
देवच्छन्दाग्रमेदिन्यां[1] मध्ये श्रीजैनमन्दिरम् । द्वात्रिंशत्सहस्राणि कलशाः सौवर्णराजताः[2] ॥ ३०१
पार्श्वयोश्च महाद्वारः प्रत्येकं द्विहतानि[3] च । षट्सहस्राणि राजन्ते घटानां धूपसंभृताम् ॥ ३०२
महाद्वारस्य बाह्ये च पार्श्वयोरुभयोः पृथक् । चत्वारि च सहस्राणि लम्बन्ते रत्नमालिकाः ॥ ३०३
तद्रत्नमालिकामध्ये लम्बन्ते हेममालिकाः । त्रिहताष्टसहस्राणि मिलित्वा कान्तिभासुराः ॥ ३०४
। २४००० ।
कानकाः कलशा हेममालिका धूपसद्घटाः । द्विगुणाष्टसहस्राणि प्रत्येकं मुखमण्डपे ॥ ३०५
मधुरझणझणारावा मुक्तारत्नविनिर्मिताः[4] । सकिंकिणीकास्तन्मध्ये राजन्ते घण्टिकाचयाः ॥ ३०६
क्षुल्लकद्वारयोरग्रे मणिमालादिसर्वकम् । महाद्वारोक्तसर्वेषामर्धमानं प्रचक्षते ॥ ३०७
वसत्याः पृष्ठभागे च मणिमालाष्टसहस्रकम् । त्रिगुणाष्टसहस्राणि लम्बन्ते हेममालिकाः ॥ ३०८
अस्त्यग्रे जिनवासस्य मञ्जुलो मुखमण्डपः[5] । ध्वजादिभिश्च संयुक्तस्तस्मात्प्रेक्षणमण्डपः ॥ ३०९

मंगलद्रव्य प्रतिमाओंके उभय पार्श्वभागोंमें पृथक् पृथक् एक सौ आठ (१०८) विराजमान होते हैं ॥ २९९-३०० ॥

जिनमंदिरके मध्यमें देवच्छंदकी अग्रभूमि (वसति) में सुवर्णमय व रजतमय बत्तीस हजार (३२०००) घट होते हैं ॥३०१ ॥ प्रत्येक महाद्वारके दोनों पार्श्वभागोंमें दोसे गुणित छह हजार अर्थात् बारह हजार (१२०००) धूपसे परिपूर्ण घट (धूपघट) विराजमान होते हैं ॥ ३०२ ॥ महाद्वारके बाहिर दोनों पार्श्वभागोंमें पृथक् पृथक् चार चार हजार रत्नमालायें लटकती रहती हैं ॥ ३०३ ॥ उन रत्नमालाओंके बीचमें कान्तिसे देदीप्यमान सब मिलकर तीनसे गुणित आठ हजार अर्थात् चौबीस हजार (२४०००) सुवर्णमालायें लटकती रहती हैं ॥३०४ ॥

मुखमण्डपमें सुवर्णमय कलश, हेममाला और धूपघट इनमेंसे प्रत्येक द्विगुणित आठ हजार अर्थात् सोलह हजार (१६०००) होते हैं ॥३०५॥ मुखमण्डपके मध्यमें मधुर झनझन ध्वनिसे संयुक्त, मोती व रत्नोंसे निर्मित और क्षुद्र घंटियोंसे सहित ऐसे घंटाओंके समूह विराजमान होते हैं ॥ ३०६ ॥ क्षुद्रद्वारोंके आगे स्थित उपर्युक्त मणिमाला आदिका प्रमाण महाद्वारके विषयमें कही गई उन सबसे आधा आधा कहा जाता है ॥ ३०७ ॥ वसतीके पृष्ठ भागमें आठ हजार (८०००) मणिमालायें और तीनसे गुणित आठ हजार अर्थात् चौबीस हजार (२४०००) सुवर्णमालायें लटकती होती हैं ॥ ३०८ ॥

जिनालयके आगे ध्वजा आदिकोंसे संयुक्त रमणीय मुखमण्डप तथा उसके आगे

---

१ प देवग्रछंदाग्रमेदिन्या । २ प राजिताः । ३ प द्विहितानि । ४ प युक्तारत्न° । ५ आ प मंटपः ।

आस्थानमण्डपस्तस्मात् स्तूपा नव पुरः पुरः। द्वादशाम्बुजवेदीभिर्जिनसिद्धार्चाभिरन्विताः[1] ॥ ३१०
ततो द्वादशवेदीभिर्जिनसिद्धार्चाभिरन्वितौ। चैत्यसिद्धार्थवृक्षौ स्तस्ततोऽपि च महाध्वजाः ॥३११
तत्पुरो जिनवासः स्याच्चतुर्दिक्ष्वपि तस्य च। चतस्रो वापिका मुक्तमत्स्याद्या निर्मलाम्भसः ॥ ३१२
तत्पुरोभयपार्श्वे च वीथ्याः प्रासादयुग्मकम्। तत्पुरस्तोरणं रम्यं तस्मात्प्रासादयोर्द्वयम् ॥ ३१३
सर्वाण्येतानि संवेष्टच हैमी वेदी मनोरमा। राजते केतुभिस्तुङ्गैश्चर्याट्टालकादिभिः ॥ ३१४
तत्पुरश्च चतुर्दिक्षु रत्नस्तम्भाग्रसंस्थिताः। मन्दगन्धवहाधूता राजन्ते दशधा ध्वजाः ॥३१५

सिंहगजवृषभखगपतिशिखिशशिरविहंसकमलचक्राङ्काः।
अष्टोत्तरशतसंख्याः पृथक् पृथक् क्षुल्लकाश्च[2] तत्प्रमिताः ॥ ३१६

चतुर्दिक्षु महाध्वजा ४३२०। क्षुल्लकध्वजा[3] ४६६५६०। समस्तध्वजा ४७०८८०।

प्रेक्षणमण्डप होता है ॥ ३०९ ॥ इस प्रेक्षणमण्डपके आगे आस्थानमण्डप और उसके भी आगे जिन व सिद्धोंकी प्रतिमाओंसे तथा बारह पद्मवेदिकाओंसे संयुक्त नौ स्तूप होते हैं ॥३१०॥ उनके आगे बारह वेदियों एवं जिन व सिद्ध प्रतिमाओंसे संयुक्त चैत्यवृक्ष और सिद्धार्थवृक्ष होते हैं। उनके भी आगे महाध्वजायें होती हैं ॥ ३११ ॥ उनके आगे जिनभवन और उसकी चारों ही दिशाओंमें मत्स्य आदि जलजन्तुओंसे रहित निर्मल जलवाली चार वापिकायें होती हैं ॥ ३१२ ॥ उनके आगे वीथीके उभय पार्श्वभागमें प्रासादयुगल, उसके आगे रमणीय तोरण और उसके आगे दो प्रासाद होते हैं ॥ ३१३ ॥

इन सबको वेष्टित करके स्थित मनोहर सुवर्णमय वेदी उन्नत ध्वजाओं, चर्या (मार्गों) व अट्टालयोंसे सुशोभित होती है ॥ ३१४ ॥ उसके आगे चारों दिशाओंमें रत्नमय खम्भोंके अग्रभागमें स्थित और मन्द वायुसे कम्पित दस प्रकारकी ध्वजायें विराजमान होती हैं ॥ ३१५ ॥ सिंह, गज, बैल, गरुड, मयूर, चन्द्र, सूर्य, हंस, कमल, और चक्रसे चिह्नित वे ध्वजायें संख्यामें अलग अलग एक सौ आठ (१०८) होती हैं। क्षुद्र ध्वजायें भी पृथक् पृथक् उतनी मात्र (१०८–१०८) होती हैं ॥ ३१६ ॥

सिंहादिसे अंकित उन दस प्रकारकी महाध्वजाओंमेंसे एक दिशागत प्रत्येक ध्वजाकी संख्या १०८ है, अतः एक दिशागत दस प्रकारकी समस्त ध्वजाओंकी १०८ × १० = १०८० हुईं, चारों दिशाओंकी इन ध्वजाओंकी संख्या १०८० × ४ = ४३२० हुई। इनमें एक एक महाध्वजाके आश्रित उपर्युक्त दस प्रकारकी क्षुद्रध्वजाएं भी प्रत्येक १०८–१०८ हैं, अतः एक एक महाध्वजाके आश्रित क्षुद्रध्वजाओंकी संख्या १० × १०८ × १०८ = ११६६४०, चारों दिशाओंमें स्थित क्षुद्रध्वजाओंकी समस्त संख्या ११६६४० × ४ = ४६६५६०; महाध्वजा ४३२० + क्षुद्रध्वजा ४६६५६० = ४७०८८०; यह चारों दिशाओंमें समस्त ध्वजाओंकी संख्या हुई।

---

१ प सिद्धार्थाभिरन्विताः। २ आ प क्षुलुकाश्च। ३ आ प क्षुल्लुक°।

ध्वजावनिं च संवेष्टच हैमी वेदी विराजते। योजनप्रमितोत्तुङ्गा क्रोशार्धव्याससंयुता ॥ ३१७
ततोऽशोकवनं रम्यं सप्तच्छदवनं तथा। चम्पकाख्यवनं चारु चूताभिख्यं वनं महत् ॥ ३१८
ते[1] प्रागारभ्य तिष्ठन्ति प्रादक्षिण्येन तानि च। वनप्रणिधिमध्ये च मानस्तम्भो विभाति च ॥ ३१९
संवेष्टच तद्वनं रम्यो रत्नसालो विराजते। चतुर्गोपुरसंयुक्तश्चर्याट्टालादिसंयुतः ॥ ३२०
योजनानां शतं दीर्घं तदर्धं चापि विस्तृतम्। पञ्चसप्ततिमुद्विद्धमर्धयोजनगाधकम् ॥ ३२१
द्वारमस्याष्टविस्तारं षोडशोच्छ्रयमुच्यते। तदर्धमाने द्वे चान्ये तनुद्वारे प्रकीर्तिते ॥ ३२२
एवंमानानि चत्वारि भद्रसाले चतुर्दिशम्। नन्दनेऽपि च चत्वारि भाद्रसालैः[2] समानि च ॥३२३
सौमनसार्धमानानि पाण्डुकायतनानि च। अर्हदायतनान्येवं सर्वमेरुषु लक्षयेत् ॥ ३२४
विजयार्धेषु सर्वेषु जम्बूशाल्मलिवृक्षयोः। जिनवासप्रमाणानि भारतेन समानि च ॥ ३२५
कूटानां पर्वतानां च भवनानां महीरुहाम्। वापीनामपि सर्वासां वेदिका स्थलवद्भवेत् ॥ ३२६

ध्वजाभूमिको वेष्टित करके सुवर्णमय वेदिका विराजती है। इसकी ऊंचाई एक योजन और विस्तार आध कोस प्रमाण होता है ॥ ३१७ ॥ वेदिकाके आगे रमणीय अशोकवन, सप्तच्छदवन, सुन्दर चम्पक नामक वन तथा आम्र नामक वन; ये चार विशाल वन होते है ॥ ३१८ ॥ वे वन पूर्व दिशाको प्रारम्भ करके प्रदक्षिणक्रमसे स्थित होते हैं। वनके ठीक मध्यमें मानस्तम्भ सुशोभित होता है ॥ ३१९ ॥ उस वनको वेष्टित करके रमणीय रत्नमय प्राकार विराजमान होता है। वह प्राकार चार गोपुरद्वारोंसे संयुक्त तथा चर्यालय एवं अट्टालय आदिकोंसे संयुक्त होता है ॥ ३२० ॥

सौ (१००) योजन लंवा, उससे आधा (५० यो.) विस्तृत, पचत्तर (७५) योजन ऊंचा, और आध योजन मात्र गहराईसे संयुक्त ऐसा जो उत्कृष्ट जिनभवन होता है उसका मुख्य द्वार आठ योजन विस्तीर्ण और सोलह योजन ऊंचा कहा जाता है। उसके अन्य दो लघु-द्वार मुख्य द्वारकी अपेक्षा आधे प्रमाणवाले कहे गये है। इस प्रकारके प्रमाणवाले चार जिनभवन भद्रसाल वनमें चारों दिशाओंमें सुशोभित हैं। भद्रसाल वनमें स्थित इन जिनभवनोंके ही समान नन्दन वनमें भी चार जिनभवन विराजमान है। सौमनस वनमें स्थित पूर्वोक्त जिनायतनोंकी अपेक्षा आधे प्रमाणवाले पाण्डुक वनके जिनायतन है। इसी प्रकार सव (५) मेरुओंके ऊपर स्थित जिनभवन समझना चाहिये ॥ ३२१–२४ ॥ सब विजयार्धो और जम्बू एवं शाल्मलि वृक्षोंके ऊपर स्थित जिनालयोंके प्रमाण भरतक्षेत्रस्थ विजयार्ध आदिके ऊपर स्थित जिना-लयोंके समान है [आयाम १ कोस, विस्तार आधा ($\frac{1}{2}$) कोस ऊंचाई पौन ($\frac{3}{4}$) कोस; मुख्य द्वारकी ऊंचाई ३२० धनुप और विस्तार १६० धनुप] ॥ ३२५

कूटों, पर्वतों, भवनों, वृक्षों और सव वापियोंके भी स्थलके समान वेदिका हुआ करती है ॥ ३२६

१ आ प 'ते' नास्ति। २ प भद्रसालैः।

मन्दरो गिरिराजश्च मेरुश्च प्रियदर्शनः। रत्नोच्चयो लोकनाभिर्मनोरम्यः सुदर्शनः ॥ ३२७
दिशादिरुत्तमोस्तश्च[1] सूर्यावर्तः स्वयंप्रभः। वतङ्को लोकमध्यश्च सूर्यावरण एव च ॥ ३२८
एवं षोडशभिः शैलः कीर्त्यते नामभिः शुभैः। वज्रमूलो मणिशिखः स्वर्णमध्यो गुणान्वितः ॥ ३२९
द्वादशाष्टौ चतुष्कं च मूलमध्याग्रविस्तृता। जगत्यष्टोच्छ्रया भूमिमवगाढार्धयोजनम् ॥ ३३०

।१२।८।४।

सर्वरत्नमयी मध्ये वैडूर्यशिखरोज्ज्वला। वज्रमूला च सा द्वीपं परिक्षिपति सर्वतः ॥ ३३१
धनुःपञ्चाशतं रुन्द्रा मूलेऽग्रेऽपि च वेदिका। जाम्बूनदमयी मध्ये गव्यूतिद्वयमुद्गता ॥ ३३२
तस्या अभ्यन्तरे बाह्ये वनं हेमशिलातलम्। रम्यं च वापिकाश्चित्राः प्रासादास्तत्र सन्ति च ॥ ३३३
शतं सार्धशतं द्विशतं विस्तृता धनुषां क्रमात्। हीनमध्योत्तमा वाप्यो गाढा स्वं दशमं च ताः ॥ ३३४

१०।१५।२०।

पञ्चाशतं शतं पञ्चसप्तर्ति धनुषां क्रमात्। विस्तृता आयता उच्चाः प्रासादास्तत्र हीनकाः ॥ ३३५
विस्तृता धनुषां षट् च द्वारो द्वादश चोद्गताः। अवगाढाः पुनर्भूमिं शुद्धं दण्डचतुष्टयम् ॥ ३३६

। १२ ।

वह पर्वत १ मन्दर २ गिरिराज ३ मेरु ४ प्रियदर्शन (शिलोच्चय) ५ रत्नोच्चय ६ लोकनाभि ७ मनोरम ८ सुदर्शन ९ दिशादि १० उत्तम ११ अस्त (अच्छ) १२ सूर्यावर्त १३ स्वयंप्रभ १४ वतंक (अवतंस) १५ लोकमध्य और १६ सूर्यावरण; इन सोलह शुभ नामोंसे कहा जाता है। अनेक गुणोंसे संयुक्त इस मेरु पर्वतका मूल भाग वज्रमय, शिखर मणिमय और मध्यभाग सुवर्णमय है ॥ ३२७ – ३२९ ॥

क्रमसे मूलमें बारह (१२) मध्यमें आठ (८) और उपरिम भागमें चार (४) योजन विस्तृत आठ (८) योजन ऊंची तथा आध ($\frac{1}{2}$) योजन भूमिगत अवगाह (नीव) से संयुक्त जो जगती (वेदिका) मध्यमें सर्वरत्नमयी होकर वैडूर्यमणिमय शिखरसे उज्ज्वल एवं वज्रमय मूलभागसे सहित है वह द्वीप (जम्बूद्वीप) को चारों ओरसे वेष्टित करती है ॥ ३३० – ३३१ ॥ उसके मध्यभागमें जो सुवर्णमयी वेदिका है वह मूल व उपरिम भागमें भी पांच सौ (५००) धनुष विस्तृत तथा दो कोस ऊंची है ॥३३२॥ उस वेदिकाके अभ्यन्तर और बाह्य भागमें सुवर्णमय शिलातलसे संयुक्त रमणीय वन, वापिकायें और विचित्र प्रासाद हैं ॥ ३३३ ॥ यहां स्थित वापियोंमें हीन वापियोंका विस्तार सौ (१००) धनुष, मध्यम वापियोंका विस्तार डेढ़ सौ (१५०) धनुष और उत्तम वापियोंका विस्तार दो सौ (२००) धनुष प्रमाण है। उनकी गहराई अपने विस्तारके दसवें भाग (१०, १५, २० धनुष) प्रमाण है ॥ ३३४ ॥

वहां वेदिकाके ऊपर जो हीन (जघन्य) प्रासाद स्थित हैं वे क्रमसे पचास (५०) धनुष विस्तृत, सौ (१००) धनुष आयत और पचत्तर (७५) धनुष ऊंचे हैं ॥ ३३५ ॥ इनके द्वारोंका विस्तार छह (६) धनुष, ऊंचाई बारह (१२) धनुष, और भूमिमें अवगाह शुद्ध चार

---

१ ब °मोऽस्तच्च।

द्विगुणास्त्रिगुणाश्च स्युर्व्यासायामोद्गमैस्ततः[1]। मध्यमा उत्तमाश्चैषां द्विद्विद्वारं सगाधकम् ॥३३७

मध्यमप्रासादस्य वि १०० आ २०० उ १५० द्वारस्य वि १२ आ २४ उ ८

उत्कृष्टप्रासादस्य वि १५० आ ३०० उ २२५ द्वारस्य वि १८ आ ३६ उ १२।

मालावली[ल्ली]सभासंज्ञा कदल्यासनवीक्षणाः। वीणागर्भलताजालाः शिलाचित्रप्रसाधनाः[2]॥३३८

उपस्थानगृहाश्चैव मोहनाख्याश्च सर्वतः। गृहा रत्नमया रम्या वानान्तरसुरोषिताः ॥ ३३९

हंसक्रौञ्चमृगेन्द्राख्यैर्गजैर्मकरनामभिः। प्रवालगरुडाख्यैश्च स्फटिकप्रणतोन्नतैः[3] ॥ ३४०

दीर्घस्वस्तिकवृत्तैश्च पृथुलेन्द्रासनैरपि। गन्धासनैश्च रत्नाद्यैर्युक्ता देवमनोहरैः ॥ ३४१

विजयं वैजयन्तं च जयन्तमपराजितम्। तोरणानि तु संज्ञाभिः पूर्वादिषु चतुर्दिशम् ॥ ३४२

तत्पञ्चशतविस्तारं द्व्यर्धविस्तारमुच्छ्रितम्। प्रासादोऽत्र द्विविस्तारस्तोरणे चतुरुच्छ्रयः ॥ ३४३

[५००] । ७५० ।

उक्तं च त्रिलोकसारे [८९२]–

विजयं च वैजयंतं जयंतमपराजियं च पुव्वादी। दारचउक्काणुदओ[4] अडजोयणमद्धवित्थारो ॥१८

---

(४) धनुष मात्र है ॥ ३३६ ॥ इन हीन प्रासादोंकी अपेक्षा मध्यम प्रासादोंके विस्तार, आयाम और ऊंचाईका प्रमाण दूना; तथा उत्तम प्रासादोंके विस्तार, आयाम और ऊंचाईका प्रमाण उनसे तिगुना है। उनके गहराई सहित जो दो दो द्वार हैं वे जघन्य प्रासादोंके द्वारोंसे प्रमाणमें दूने दूने हैं ॥ ३३७ ॥ मध्यम प्रासादका विस्तार १००, आयाम २००, उत्सेध १५०, द्वारका विस्तार १२, ऊंचाई २४, अवगाढ ८। उत्कृष्ट प्रासादका भी विस्तार १५०, आयाम ३००, उत्सेध २२५, द्वारका भी विस्तार १८, ऊंचाई ३६, अवगाढ १२ धनुष।

मालागृह, वल्लीगृह, सभागृह नामक, कदलीगृह, आसनगृह, प्रेक्षणगृह, वीणागृह, गर्भगृह, लतागृह, जालगृह (?), शिलागृह (?), चित्रगृह, प्रसाधनगृह, उपस्थानगृह और मोहनगृह; ये सब ओर स्थित रमणीय रत्नमय गृह व्यन्तर देवोंसे अधिष्ठित हैं ॥ ३३८–३९ ॥ वे प्रासाद देवोंके मनको हरनेवाले हंस, क्रौंच व सिंह नामक आसनोंसे; गज जैसे आसनोंसे, मगर जैसे आसनोंसे, प्रवाल एवं गरुड नामक आसनोंसे, स्फटिक मणिमय उन्नत आसनोंसे; दीर्घ, स्वस्तिक व गोल आकारवाले आसनोंसे; विशाल इन्द्रासनोंसे, तथा रत्नादिनिर्मित गन्धासनोंसे भी संयुक्त हैं ॥ ३४०–४१ ॥

पूर्वादि चारों दिशाओंमें क्रमशः विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित इन संज्ञाओंसे युक्त चार तोरणद्वार स्थित हैं ॥३४२॥ इनमेंसे प्रत्येक तोरणद्वार पांच सौ (५००) योजन विस्तृत और विस्तारसे डेढ़गुना अर्थात् साढ़े सात सौ ($५०० \times \frac{३}{२} = ७५०$) योजन ऊंचा है। उसके ऊपर जो प्रासाद स्थित है उसका विस्तार दो योजन और ऊंचाई चार योजन मात्र है। ॥ ३४३ ॥ त्रिलोकसारमें भी कहा है—

विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित ये चार द्वार पूर्वादिक दिशाक्रमसे अवस्थित हैं। इन चारों द्वारोंकी ऊंचाई आठ योजन और विस्तार उससे आधा अर्थात् चार योजन है ॥१८॥

---

१ आ प °द्गमस्ततः। २ ब प्रसादनाः। ३ प प्रतोन्नतैः। ४ आ °णुदवो, प °णदवो।

उक्तं च त्रिलोकप्रज्ञप्तौ [४–७३] पाठान्तरम् –

विजयादिदुवाराणं पंचसया जोयणाणि वित्थारा। पत्तेक्कं उच्छेहो सत्तसयाणि च पण्णासा ॥१९

इति केचिद्वदन्ति। वि ५०० उ ७५०।

तोरणाख्याः सुरास्तेषु द्वीपस्य परिधिर्विना। तोरणैः स चतुर्भक्तस्तोरणान्तरमुच्यते ॥ ३४४

।७८५५। (?)

द्वीपान् व्यतीत्य संख्येयान्[1] जम्बूद्वीपोऽन्य इष्यते। पूर्वस्यां तस्य[2] वज्रायां विजयस्य पुरं वरम्॥३४५

तद् द्वादश सहस्राणि विस्तृतं वेदिकावृतम्। चतुस्तोरणसंयुक्तं सुचिरं सर्वतोऽद्भुतम् ॥ ३४६

त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें भी कहा है —

विजयादिक द्वारोंमेंसे प्रत्येकका विस्तार पांच सौ (५००) योजन और ऊंचाई सात सौ पचास (७५०) योजन प्रमाण है ॥ १९ ॥ इस प्रकार कोई आचार्य कहते हैं।

उन तोरणद्वारोंके ऊपर उनके ही नामवाले अर्थात् विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नामक देव रहते हैं। तोरणद्वारोंसे रहित जम्बूद्वीपकी परिधिको चारसे भाजित करनेपर इन तोरणद्वारोंका अन्तर कहा जाता है ॥ ३४४ ॥

विशेषार्थ– जम्बूद्वीपकी बाह्य परिधिका प्रमाण ३१६२२७ योजनसे कुछ अधिक (३ कोस, १२८ धनुष १३ अंगुल ५ जौ १ यूक १ लिक्षा आदि) है। यदि हम स्थूलतासे (कोस आदिको छोड़कर) ३१६२२७ योजन मात्र परिधिको ग्रहणकर उक्त द्वारान्तरालको निकालते हैं तो वह इस प्रकार प्राप्त होता है—

जं. द्वी. की परिधि ३१६२२७ यो.; लोकविभागके अनुसार प्रत्येक द्वारका विस्तार ५०० यो. है; अतः $\frac{३१६२२७-(५०० \times ४)}{४} = ७८५५६\frac{३}{४}$ यो.; यह जगतीके बाह्य भागमें उपर्युक्त विजयादिक द्वारोंमें एक द्वारसे दूसरे द्वारके बीचका अन्तर प्रमाण हुआ। अभ्यन्तर भागमें जम्बूद्वीपकी परिधिका प्रमाण ३१६१५२ यो. है। अत एव $\frac{३१६१५२-(५०० \times ४)}{४} = ७८५३८$ यो.; यह अभ्यन्तर भागमें उक्त द्वारोंके बीच अन्तरालका प्रमाण हुआ। तिलोयपण्णत्ती (४, ४३) और त्रिलोकसार (८९२) आदिके अनुसार उक्त द्वारोंमें प्रत्येक द्वारका विस्तार मात्र ४ यो. ही है। अतः इस मतके अनुसार उक्त अन्तरप्रमाण इस प्रकार होगा — $\frac{३१६२२७-(४ \times ४)}{४} = ७९०५२\frac{३}{४}$ यो.; यह बाह्य अन्तर हुआ। $\frac{३१६१५२-(४ \times ४)}{४} = ७९०३४$ यो.; यह अभ्यन्तर अन्तर हुआ।

इस जम्बूद्वीपसे संख्यात द्वीपोंको लांघकर एक दूसरा जम्बूद्वीप माना जाता है। उसकी पूर्व दिशामें वज्रा पृथिवीके ऊपर विजय देवका उत्तम पुर है ॥ ३४५ ॥ वह बारह हजार (१२०००) योजन विस्तृत, वेदिकासे वेष्टित, चार तोरणोंसे संयुक्त, अविनश्वर और सब ओरसे आश्चर्यजनक है ॥ ३४६ ॥

---

१ ब संख्येया। २ प °स्यान्तस्य।

उक्तं च त्रिलोकप्रज्ञप्तौ [५–१८१]–

उच्छेहजोयणेणं पुरिओ वारससहस्सरुंदाओ । जिणभवणभूसियाओ उववणवेदीहि जुत्ताओ ॥२०

साष्टभागं त्रिकं चाग्रे मूले तत्तु चतुर्गुणम् । तत्प्राकारस्य विस्तारस्तस्य गाधोऽर्धयोजनम् ॥३४७

यो ३।$\frac{१}{८}$।१२$\frac{१}{२}$।

सप्तत्रिंशत्पुनः सार्धा हैमप्राकार उद्गमः । गोपुराणां चतुर्दिक्षु प्रत्येकं पञ्चविंशतिः ॥ ३४८

समस्तगोपुराणि १०० ।

एकत्रिंशत्सगव्यूतिर्व्यासो गोपुरसद्मनः । उच्छ्रयो द्विगुणस्तस्माद् गाधः स्यादर्धयोजनम् ॥ ३४९

३१ क्रो १ । ६२ क्रो २ ।

भूमिभिः सप्तदशभिः प्रासादा गोपुरेषु तु । सर्वरत्नसमाकीर्णा जाम्बूनदमयाश्च ते ॥ ३५०

तत्प्राकारस्य मध्येऽस्ति रम्यं राजाङ्गणं ततिः । योजनानां द्वादशशतं रुन्द्रं गव्यूतिरस्य तु ॥३५१

सहस्रार्धधनुर्व्यासा गव्यूतिद्वयमुद्गता । चतुर्गोपुरसंयुक्ता वेदिका तस्य सर्वतः ॥ ३५२

राजाङ्गणस्य मध्येऽस्ति प्रासादो रत्नतोरणः । द्विषष्ठियोजनं क्रोशद्वितीयं तस्य चोन्नतिः ॥३५३

तदर्धविस्तृतिर्गाढो द्विक्रोशं द्वारमस्य तु । [1]चतुरष्टयोजनव्यासतुङ्गं वज्रकवाटकम् ॥ ३५४

प्रासादस्य चतुर्दिक्षु प्रासादः पृथगेकशः । प्रासादा जातजातास्ते षट्पर्यन्तचतुर्गुणाः ॥ ३५५

त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें कहा भी है –

जिनभवनोंसे विभूपित और उपवन व वेदीसे संयुक्त उन नगरियोंका विस्तार उत्सेध योजनसे वारह हजार (१२०००) योजन प्रमाण है ॥ २० ॥

उस पुरीके प्राकारका विस्तार उपरिम भागमें आठवें भागसे सहित तीन (३$\frac{१}{८}$) योजन तथा मूलमें उससे चौगुणा अर्थात् साढ़े वारह १२$\frac{१}{२}$ योजन प्रमाण है । गहराई उसकी आध योजन प्रमाण है ॥ ३४७ ॥ इस सुवर्णमय प्राकारकी ऊंचाई साढ़े सैंतीस (३७$\frac{१}{२}$) योजन प्रमाण है । चारों दिशाओंमेंसे प्रत्येक दिशामें इसके पच्चीस (२५) गोपुरद्वार हैं । ये सव गोपुरद्वार चारों दिशाओंमें १०० हैं ॥ ३४८ ॥ गोपुरस्थ प्रासादका विस्तार एक कोस सहित इकतीस (३१$\frac{१}{४}$) योजन, ऊंचाई उससे दूनी (६२$\frac{१}{२}$ यो.) और गहराई आध ($\frac{१}{२}$) योजन प्रमाण है ॥ ३४९ ॥ गोपुरद्वारोंके ऊपर जो सत्तरह भूमियों (खण्डों) से संयुक्त प्रासाद हैं वे सर्वरत्नोंसे व्याप्त एवं सुवर्णमय हैं ॥ ३५० ॥

उस प्राकारके मध्यमें रमणीय राजाङ्गण है जिसका विस्तार वारह सौ (१२००) योजन और वाहल्य आधा कोस मात्र है ॥ ३५१ ॥ उसके सव ओर पांच सौ (५००) धनुप विस्तृत, दो कोस ऊंची और चार गोपुरद्वारोंसे संयुक्त वेदिका है ॥ ३५२ ॥ राजाङ्गणके मध्यमें रत्नमय तोरणसे संयुक्त एक प्रासाद स्थित है । उसकी ऊंचाई वासठ योजन और दो कोस (६२$\frac{१}{२}$यो.), विस्तार उससे आधा (३१$\frac{१}{४}$ यो.) तथा गहराई दो (२) कोस प्रमाण है । उसका वज्रमय कपाटोंसे संयुक्त द्वार चार योजन विस्तृत और आठ योजन ऊंचा है ॥ ३५३-५४ ॥

उस प्रासादकी चारों दिशाओंमें पृथक् पृथक् एक एक अन्य प्रासाद अवस्थित है । इस प्रकार उत्तरोत्तर मण्डलगत वे प्रासाद छह (छठे मण्डल) तक चौगुणे हैं ॥ ३५५ ॥

१ प चतुरस्रयो० ।

प्रासादानां प्रमाणं च मण्डलं च भणाम्यतः । मुख्यप्रासाद एकश्च चत्वारः प्रथममण्डले ॥ ३५६
द्वितीये षोडश प्रोक्ताश्चतुःषष्टिस्तृतीयके । ततश्चतुर्गुणाः प्रोक्ता चतुर्थे पञ्चमे ततः ॥ ३५७
चतुर्गुणाः स्युः प्रासादाः षष्ठे तेभ्यश्चतुर्गुणाः । उत्सेधादिमितो[1] वक्ष्ये प्रासादानां यथाक्रमम् ॥ ३५८
मुख्यप्रासादमानास्ते प्रथमावरणद्वये । व्यासोत्सेधावगाढैस्तु तृतीये च चतुर्थके ॥ ३५९

यो ३१ को १ । यो ६।२ को १।२

तदर्धमानाः प्रासादाः पञ्चमे षष्ठके पुनः । तदर्धमानकाः प्रोक्ताः केवलज्ञानलोचनैः ॥ ३६०
प्रासादानां च सर्वेषां प्रत्येकं वेदिका भवेत् । नानारत्नसमाकीर्णा विचित्रा च मनोरमा ॥ ३६१
मुख्यप्रासादके वेदी प्रथमे[2] मण्डलद्वये । धनुःपञ्चशतव्यासगव्यूतिद्वयमुद्गता ॥ ३६२
तृतीये च चतुर्थे च तदर्धव्यासतुङ्गता । मण्डले पञ्चमे षष्ठे तदर्धोत्सेधरुन्ध्रिका ॥ ३६३
गुणसंकलनरूपेण स्थितानि भवनानि च । चतुःशतयुतं पञ्चसहस्रं चैकषष्ठिकम् ॥ ३६४
प्रासादे विजयस्यात्र सिंहासनमनुत्तरम् । सचामरं च सच्छत्रं तस्मिन् पूर्वमुखोऽमरः ॥ ३६५

आगे इन प्रासादोंके प्रमाण और मण्डलका कथन करते हैं— मुख्य प्रासाद एक है । आगे प्रथम मण्डलमें चार (४), द्वितीयमें सोलह (१६), तृतीयमें चौंसठ (६४), चतुर्थ मण्डलमें इनसे चौगुणे (२५६), पंचम मण्डलमें उनसे चौगुणे (२५६ × ४ = १०२४) तथा छठे मण्डलमें उनसे भी चौगुणे (१०२४ × ४ = ४०९६) प्रासाद हैं । आगे इन प्रासादोंके उत्सेध आदिका कथन यथाक्रमसे करते हैं ॥ ३५६–३५८ ॥

प्रथम दो मण्डलोंमें जो प्रासाद स्थित हैं उनके विस्तारादिका प्रमाण मुख्य प्रासादके समान (विस्तार ३१¼ यो., ऊंचाई यो. ६२½, अवगाह को. २) है । तृतीय और चतुर्थ मण्डलके प्रासाद विस्तार, उत्सेध और अवगाढ़में उपर्युक्त प्रासादोंकी अपेक्षा आधे प्रमाणवाले हैं । इनसे आधे प्रमाणवाले पांचवें और छठे मण्डलके प्रासाद हैं, ऐसा केवलज्ञानियोंके द्वारा निर्दिष्ट किया गया है ॥ ३५९–६० ॥

इन सब प्रासादोंमेंसे प्रत्येक प्रासादके नाना रत्नोंसे व्याप्त एक एक विचित्र मनोहर वेदिका है ॥३६१॥ मुख्य प्रासाद तथा प्रथम दो मण्डलोंके प्रासादोंकी वेदी पांच सौ (५००) धनुष विस्तृत और दो कोस ऊंची है ॥३६२॥ तृतीय और चतुर्थ मण्डलके प्रासादोंकी वेदीका विस्तार व ऊंचाई उससे आधी है । इससे भी आधे विस्तार व ऊंचाईसे संयुक्त पांचवें और छठे मण्डलके प्रासादोंकी वेदी है ॥३६३॥

गुणसंकलन रूपसे अर्थात् उत्तरोत्तर चौगुणे चौगुणे क्रमसे स्थित वे भवन पांच हजार चार सौ इकसठ हैं— १ + ४ + १६ + ६४ + २५६ + १०२४ + ४०९६ = ५४६१ ॥३६४॥

यहाँ विजयदेवके प्रासादमें चामरों और छत्रसे सहित विजयदेवका अनुपम सिंहासन

---

१ प उत्सेदादि । २ आ प मुख्यप्रासादके मानास्ते प्रथमावरणद्वये वेदी प्रथमे ।

उत्तरस्यां सहस्राणि षट् सामानिकसंज्ञिनाम् । विदिशोश्च पुरा षट् स्युरग्रदेव्यो हि सासनाः[1] ॥३६६
आसन्नाण्टौ सहस्राणि परिषत्पूर्वदक्षिणा । दश मध्यसिका वेद्या दक्षिणस्यां तु सा दिशि ॥३६७
द्वादशैव सहस्राणि बाह्या सापरदक्षिणा । आसनेष्वपरस्यां तु सप्त सैन्यमहत्तराः ॥ ३६८
अष्टादश सहस्राणि यात्मरक्षाश्चतुर्दिशम् । तासु दिक्षु च तावन्ति तेषां भद्रासनानि च ॥ ३६९
अष्टादश सहस्राणि देव्यस्तत्परिवारिकाः । विजयः सेव्यमानस्तैः[2] पल्यं जीवति साधिकम् ॥ ३७०
विजयादुत्तरस्यां च सुधर्मा नामतः सभा । सार्धद्वादशदीर्घा सा तदर्धं चापि विस्तृता ॥ ३७१
योजनानि नवोद्विद्धा गाढा गव्यूतिमीरिता । उत्तरस्यां ततश्चापि तावन्मानो जिनालयः ॥ ३७२
अपरोत्तरतस्तस्मादुपपातसभा शुभा । प्रासादात्प्रथमात्पूर्वा त्वभिषेकसभा ततः ॥ ३७३
अलंकारसभा पूर्वा ततो मन्त्रसभा पुरः । सुधर्मासममानाश्च सभा सर्वप्रविस्तरैः ॥ ३७४
पञ्च चैव सहस्राणि चत्वार्येव शतानि च । सप्तषष्टिश्च ते सर्वे प्रासादा विजयालये ॥ ३७५



स्थित है । वह उसके ऊपर पूर्वाभिमुख होकर विराजमान होता है ॥३६५॥ इसके उत्तर तथा दो विदिशाओं (वायव्य और ईशान) में सामानिक संज्ञावाले देवोंके छह हजार (६०००) सिंहासन हैं । मुख्य सिंहासनके पूर्वमें अपने अपने आसन सहित छह अग्र देवियां स्थित रहती हैं ॥३६६॥ उसके पूर्व-दक्षिण (आग्नेय) कोणमें अभ्यन्तर परिषदके आठ हजार (८०००), दक्षिण दिशामें मध्यम परिषदके दस हजार (१००००), और दक्षिण-पश्चिम (नैर्ऋत्य) कोणमें वाह्य परिषदके वारह हजार (१२०००) सिंहासन स्थित हैं । मुख्य सिंहासनकी पश्चिम दिशामें स्थित आसनोंके ऊपर सात सेनामहत्तर विराजते हैं । मुख्य सिंहासनकी चारों दिशाओंमें अठारह हजार (१८०००) आत्मरक्ष देव विराजते हैं, उनके भद्रासन उन्हीं दिशाओंमें उतने (१८०००) ही होते हैं ॥ ३६७–६९ ॥ उसकी पारिवारिक देवियां अठारह हजार (१८०००) होती हैं । उपर्युक्त उन सब देवोंसे उपास्यमान विजय देव साधिक एक पल्य तक जीवित रहता है ॥ ३७० ॥

विजयदेवके प्रासादसे उत्तर दिशामें साढ़े वारह ($12\frac{1}{2}$) योजन लंबी और उससे आधी ($6\frac{1}{4}$ यो.) विस्तृत सुधर्मा नामकी सभा है ॥ ३७१ ॥ उस सुधर्मा सभाकी ऊंचाई नौ योजन और गहराई एक कोस प्रमाण कही गई है । इसके उत्तरमें उतने ही प्रमाणवाला एक जिनालय है ॥ ३७२ ॥ उसके पश्चिमोत्तर (वायव्य) कोणमें उत्तम उपपादसभा है । प्रथम प्रासादके पूर्वमें अभिषेकसभा, उसके पूर्वमें अलंकारसभा, और उसके आगे मंत्रसभा स्थित है । ये सब सभाभवन विस्तारमें सुधर्मा सभाके समान प्रमाणवाले हैं ॥ ३७३–७४ ॥ विजयभवनके आश्रित वे सब प्रासाद संख्यामें पांच हजार चार सौ सड़सठ (५४६७) हैं ॥३७५॥

१ प घासनाः । २ ब विजयस्यैवमानस्तैः ।

राजाङ्गणस्य बाह्ये च परिवारसुधाशिनाम्[1] । स्फुरद्ध्वजपताकाः[2] स्युः प्रासादा मणितोरणाः ॥
तन्नगराद्बहिर्गत्वा पञ्चविंशतियोजनम् । अशोकं सप्तपर्णं च चम्पकं चूतनामकम् ॥ ३७७
पूर्वाद्यानि च चत्वारि वनान्येव तु मानतः । द्वादशैव सहस्राणि योजनानां तदायतिः ॥ ३७८
विस्तारश्च सहस्रार्धं तन्मध्येऽशोकपादपः । जम्बूपीठार्धमाने च जम्बूमानार्धवान् स्थितः ॥३७९
चतस्रः प्रतिमास्तस्य पादपस्य चतुर्दिशम् । रत्नमय्यो जिनेन्द्राणामशोकेनातिपूजिताः ॥ ३८०
तस्मात्पूर्वोत्तरस्यां तु वशोकाख्यसुरस्य च । प्रासादो विजयस्येव मानतोऽशोक सेवितः ॥ ३८१
विजयेन समाः शेषाः वैजयन्तादयस्त्रयः । परिवारालयायुर्भिः स्वदिक्षु नगराण्यपि ॥ ३८२

वर्णा यथा पञ्च सुरेन्द्रचापे यथा रसो वा लवणः समुद्रे ।
औष्ण्यं रवेश्चन्द्रमसश्च शैत्यं तदाकृतिश्चाकृतका भवन्ति ॥३८३
प्रासादशैलद्रुमसागराद्याः [3]वर्णस्वभावाकृतिमानभेदैः ।
अकृत्रिमा वैस्रसिकास्तथैव लोकानुभावान्नियता हि भावाः ॥ ३८४

॥ इति लोकविभागे जम्बूद्वीपविभागो नाम प्रथमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १ ॥

विशेषार्थ— मण्डलाकारसे स्थित प्रासादोंकी संख्या पीछे ५४६१ बतलायी जा चुकी है । इसमें (१) सुधर्मा सभा, (२) जिनालय, (३) उपपादसभा, (४) अभिषेकसभा, (५) अलंकारसभा और (६) मंत्रसभा; इन ६ भवनोंकी संख्याके और मिला देनेपर सब भवनोंका प्रमाण ५४६७ हो जाता है ।

राजांगणके बाह्य भागमें भी परिवार देवोंके ध्वजा-पताकाओंसे प्रकाशमान और मणिमय तोरणोंसे संयुक्त प्रासाद हैं ॥ ३७६ ॥ उस नगरके बाह्यमें पच्चीस (२५) योजन जाकर अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्र नामक चार वन क्रमशः पूर्वादिक दिशाओंमें स्थित हैं । ये प्रमाणसे बारह हजार (१२०००) योजन आयत और पांच सौ (५००) योजन विस्तृत हैं। उसके मध्यमें जम्बूवृक्षकी पीठसे आधे प्रमाणवाली पीठके ऊपर जम्बूवृक्षकी ऊंचाई आदिके प्रमाणसे आधे प्रमाणवाला अशोकवृक्ष स्थित है ॥ ३७७–७९ ॥ उस अशोक वृक्षकी चारों दिशाओंमें अशोक नामक देवसे अतिशय पूजित रत्नमयी चार जिनेन्द्रप्रतिमायें विराजमान हैं ॥ ३८० ॥ अशोक वृक्षकी पूर्वोत्तर (ईशान) दिशामें अशोक नामक देवका प्रासाद है। अशोक देवसे सेवित वह प्रासाद प्रमाणमें विजय देवके प्रासादके समान है ॥ ३८१ ॥

शेष जो वैजयन्त आदि तीन देव हैं वे परिवार, भवन और आयुमें विजय देवके समान हैं । उनके नगर भी अपनी अपनी दिशाओंमें स्थित हैं ॥ ३८२ ॥

जिस प्रकार इन्द्रधनुषमें पांच वर्ण, समुद्रमें खारा रस, सूर्यमें उष्णता और चन्द्रमामें शीतता तथा उनकी आकृति ये सब अकृत्रिम (स्वाभाविक) होते हैं; उसी प्रकार प्रासाद, पर्वत, वृक्ष और समुद्र आदि पदार्थ वर्ण, स्वभाव, आकृति एवं प्रमाण आदि भेदोंसे अकृत्रिम या स्वाभाविक होते हैं । ठीक ही है— लोकके प्रभावसे पदार्थ नियत स्वभाववाले होते हैं ॥ ३८३–८४ ॥

इस प्रकार लोकविभागमें जम्बूद्वीपविभाग नामक प्रथम प्रकरण समाप्त हुआ ॥१॥

---

१ ब सुदाशिनाम् । २ प ध्वजा° । ३ प वर्णास्व° ।

[द्वितीयो विभागः]

क्षुधातृषादिभिर्दोषैर्वर्जितान् जिनपुङ्गवान् । नत्वा वाध्यादिविस्तारं व्याख्यास्यामि समासतः ॥१

द्वीपाद्द्विगुणविस्तारः समुद्रो लवणोदकः । द्वीपमेनं परिक्षिप्य चक्रे नेमिरिव स्थितः ॥ २

दशैवेष सहस्राणि[1] मूलेऽग्रेऽपि पृथुर्मतः । सहस्रमवगाढो गामूर्ध्वं[2] स्यात् षोडशोच्छ्रितः ॥ ३

उक्तं च त्रिलोकप्रज्ञप्तौ [४-२४००]-

चित्तोपरिमतलादो कूडायारेण उवरि वारिणिही । सत्तसयजोयणाइं उदएण णहम्मि[3] चिट्ठेदि ॥१

देशोना नव च त्रीणि एकमेकं तथाऽष्टकम् । पञ्चैकं च परिक्षेपः स्थानकैर्लवणोदधेः ॥ ४

प्रदेशान् पञ्चनवतिं गत्वा देशमधोगतः । एवमङ्गुलहस्तादीन् जगत्या योजनानि च ॥ ५

पञ्चाग्रां नवतिं देशान् गत्वा देशाँश्च षोडश । उच्छ्रितोऽङ्गुलदण्डाद्यानेवमेव समुच्छ्रितः ॥ ६

क्षुधा और तृषा आदि दोषोंसे रहित जिनेन्द्रोंको नमस्कार करके मैं संक्षेपसे सब समुद्रोंमें आदिभूत लवणसमुद्रके विस्तार आदिका वर्णन करूंगा ॥ १ ॥

जम्बूद्वीपकी अपेक्षा दुगुणे विस्तारवाला लवणोदक समुद्र इस द्वीपको घेरकर चक्र (पहिया) में नेमिके समान स्थित है । अर्थात् जैसे नेमि (हाल) चक्रको सब ओरसे वेष्टित करती है वैसे ही लवण समुद्र जम्बूद्वीपको सब ओरसे वेष्टित करके स्थित है ॥२॥ वह मूलमें और ऊपर भी दस ही हजार (१००००) योजन पृथु (विस्तृत) माना गया है। इसकी गहराई पृथिवीके ऊपर एक हजार (१०००) योजन और [सम जलभागसे] ऊपर ऊंचाई सोलह योजन प्रमाण है ॥३॥ त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें कहा भी है-

यह समुद्र चित्रा पृथिवीके उपरिम तलसे ऊपर आकाशमें सात सौ (७००) योजन ऊंचा होकर कूटके आकारसे स्थित है ॥ १ ॥

लवण समुद्रकी परिधि कुछ कम नौ, तीन, एक, एक, आठ, पांच और एक (१५८११३९) इन स्थानकों (अंकों) के क्रमसे पन्द्रह लाख इक्यासी हजार एक सौ उनतालीस योजन प्रमाण है ॥ ४ ॥ लवण समुद्र जगतीसे पंचानबै प्रदेशोंकी हानि करके एक प्रदेश नीचे गया है। इसी प्रकारसे अंगुल, हस्तादिक और योजनोंकी भी हानि समझना चाहिये ॥ ५ ॥ वह पंचानबै प्रदेशोंकी हानि करके सोलह प्रदेश ऊपर गया है । इसी प्रकारसे ही ऊपर अंगुल और धनुष आदिकी भी हानि जानना चाहिये ॥ ६ ॥

विशेषार्थ—लवण समुद्रका विस्तार समभूमिपर २००००० योजन है। यह विस्तार क्रमसे उत्तरोत्तर हीन होकर १००० योजन नीचे जानेपर १०००० यो. मात्र रह गया है। इसी क्रमसे उत्तरोत्तर हीन होकर वह १६००० योजन ऊपर भी जाकर १०००० यो. मात्र रह गया है। इस विस्तारमें किस क्रमसे हानि हुई है, यह यहां निर्दिष्ट किया है। हानि-वृद्धिके प्रमाणको जाननेके

१ प दशैवेन° । २ आ प गादूर्ध्वं । ३ आ प उदयेण ण ण हम्मि ।

एकादश सहस्राणि यमवास्यां गतोच्छ्रयः । ततः पञ्च सहस्राणि पौर्णिमास्यां[1] विवर्धते ॥ ७
पञ्चानां तु सहस्राणां भागः पञ्चदशो हि यः । स भवेत् क्रमशो वृद्धिः शुक्लपक्षे दिने दिने ॥ ८
अधस्तात्खलु संक्षिप्तो द्रोणीवोर्ध्वं विशालकः । भूमौ व्योम्नि विपर्यासः समुद्रो नौसमो द्विधा ॥ ९

लिये साधारणतः यह नियम है— भूमिमेंसे मुखको कम करके शेषमें ऊंचाईका भाग देनेपर जो लब्ध हो उतना भूमिकी ओरसे हानि और मुखकी ओरसे वृद्धिका प्रमाण होता है। यहां भूमिका प्रमाण २०००००, मुखका प्रमाण १०००० और ऊंचाईका प्रमाण १००० यो. है। अतएव उक्त प्रक्रियाके करनेपर प्रकृत हानि-वृद्धिका प्रमाण इस प्रकार आता है– $\frac{२००००० - १००००}{१०००} = \frac{१९०}{१}$ यो., यह दोनों तटोंकी ओरसे होनेवाली हानि-वृद्धिका प्रमाण है। इसे आधा कर देनेपर एक ओरसे होनेवाली हानि-वृद्धिका प्रमाण इतना होता है– $\frac{१९०}{२} = ९५$ यो.। इसका अभिप्राय यह हुआ कि लवणसमुद्रके सम जलतल भागसे १ योजन नीचे जानेपर उसके विस्तारमें क्रमशः एक ओरसे ९५ यो. की हानि हो जाती है। इसी क्रमसे एक प्रदेश नीचे जाकर ९५ प्रदेशोंकी, १ अंगुल नीचे जाकर ९५ अंगुलोंकी, तथा १ हाथ आदि नीचे जाकर ९५ हाथों आदिकी भी हानि समझ लेना चाहिये। इस हानिप्रमाणको लेकर जितने योजन नीचेका विस्तार जानना अभीष्ट हो उतने योजनोंसे उसे गुणित करके जो प्राप्त हो उसे भूमिके प्रमाणमेंसे घटा देनेपर अभीष्ट विस्तारका प्रमाण प्राप्त हो जाता है—

उदाहरण—यदि हमें १२५ यो. नीचे जाकर उक्त विस्तारका प्रमाण जानना अभीष्ट हैं तो वह उक्त प्रक्रियाके अनुसार इस प्रकार आ जाता है— $\frac{९५}{१} \times १२५ = ११८७५$ यो.। जलशिखाके उपरिम विस्तारमें हानि-वृद्धिका प्रमाण इस प्रकार होगा– भूमि २०००००, मुख १००००, ऊंचाई १६०००; $\frac{२००००० - १००००}{१६०००} = \frac{१९०}{१६}$ यो.। एक ओरसे होनेवाली हानि-वृद्धि $\frac{१९०}{३२}$ यो.। इसके आश्रयसे अभीष्ट ऊंचाईके ऊपर पूर्वोक्त क्रमके अनुसार ही विस्तारकी हानिको ले आना चाहिये।

अमावास्याके दिन उक्त जलशिखाकी ऊंचाई ग्यारह हजार (११०००) योजन होती है। पूर्णिमाके दिन वह उससे पांच हजार योजन बढ़ जाती है (११००० + ५००० = १६०००) ॥ ७ ॥ पांच हजारका जो पन्द्रहवां भाग है ($\frac{१६००० - ११०००}{१५} = \frac{५०००}{१५}$) उतनी शुक्ल पक्षमें क्रमशः प्रतिदिन उसकी ऊंचाईमें वृद्धि होती है ॥ ८ ॥ समुद्र भूमिमें नीचे नावके समान संक्षिप्त होकर क्रमसे ऊपर विस्तीर्ण हुआ है। आकाशमें उसकी अवस्था इससे विपरीत है, अर्थात् वह नीचे विस्तीर्ण होकर क्रमसे ऊपर संकुचित हुआ है। इस प्रकारसे वह एक नावके ऊपर विपरीत क्रमसे रखी गई दूसरी नावके समान है ॥ ९ ॥ कहा भी है—

---

१ ब पौर्णमास्यां।

उक्तं च [ ]

संक्षिप्तोऽम्बुधिरूर्ध्वाधश्चित्राप्रणिधौ विशालकः । अधोमुखबहित्रं वा बहित्रोपरिसंस्थितम् ॥ २

मध्ये तस्य समुद्रस्य पूर्वादौ वडवामुखम् । कदम्बकं च पातालमुत्तरं यूपकेसरम् ॥ १०

मूले मुखे च विस्तारः सहस्राणि दशोदितः । गाधमध्यमविस्तारौ मूलाद्दशगुणौ स्मृतौ ॥ ११

बाहल्यं तु सहस्रार्धं कुडचं वज्रमयं च तत् । तान्यरञ्जनतुल्यानि भाषितानि जिनोत्तमैः ॥ १२

पातालानां तृतीये तु ऊर्ध्वे भागे सदा जलम् । मूले वायुर्घनो नित्यं क्रमान्मध्ये जलानिलौ[1] ॥१३

तृतीयभागः ३३३३३ । १/३ ।

पौर्णिमास्यां[2] भवेद्वायुः तस्य पञ्चदशक्रमात् । पूर्यते सलिलैर्भागः कृष्णपक्षे दिने दिने ॥ १४

२२२२ । २/९ ।

विदिक्ष्वपि च चत्वारि समपातालकानि हि । मुखे मूले सहस्रं च मध्ये दशगुणं ततः ॥ १५

सहस्राणि दशागाढं पञ्चाशत्कुडयरुन्द्रता[3] । तेषां तृतीयभागेषु ३३३३।१/३। पूर्ववज्जलमारुतौ ॥१६

प्रतिदिनं जलवायुहानि-वृद्धि २२२ । २/९ ।

समुद्र ऊपर नीचे संक्षिप्त और चित्रा पृथिवीके प्रणिधि भागमें विस्तीर्ण है । इसलिये उसका आकार एक नावके ऊपर स्थित अधोमुख दूसरी नावके समान है ॥ २ ॥

उस समुद्रके मध्य भागमें पूर्वादिक दिशाओंके क्रमसे वड़वामुख, कदम्बक, पाताल, और उत्तरमें यूपकेसर नामक चार पाताल हैं ॥ १० ॥ इन पातालोंका विस्तार मूलमें और मुखमें दस हजार योजन प्रमाण कहा गया है । इनकी गहराई और मध्यविस्तार मूलविस्तारकी अपेक्षा दसगुणा (१०००० × १० = १००००० यो.) माना गया है ॥ ११ ॥ पातालोंकी वज्रमय भित्तिका बाहल्य पांच सौ (५००) योजन प्रमाण है । वे पाताल जिनेन्द्रोंके द्वारा अरंजन (घटविशेष) के समान कहे गये हैं ॥ १२ ॥ पातालोंके उपरिम त्रिभाग (३३३३३ १/३) में सदा जल रहता है । उनके मूल भागमें नित्य घना वायु और मध्यमें क्रमसे जल व वायु दोनों रहते हैं ॥ १३ ॥ उनके मध्यम भागमें पन्द्रह दिनोंके क्रमसे पौर्णमासीके दिन केवल वायु रहता है, वही मध्यम त्रिभाग कृष्ण पक्षमें प्रतिदिन क्रमशः जलसे पूर्ण किया जाता है ॥ १४ ॥ यहां प्रतिदिन होनेवाली जल-वायुकी हानि-वृद्धिका प्रमाण २२२२ २/९ यो. है ।

विदिशाओंमें भी इनके समान चार मध्यम पाताल स्थित हैं । उनका विस्तार मुख और मूल भागमें एक हजार (१०००) योजन तथा मध्यमें उससे दसगुणा (१००००) है ॥ १५ ॥ उनकी गहराई दस हजार (१००००) योजन तथा भित्तिका विस्तार पचास (५०) योजन है । उनके तीन तृतीय भागों (३३३३ १/३ यो.) में पूर्व पातालोंके समान जल, वायु और जल-वायु स्थित है ॥ १६ ॥ प्रतिदिन होनेवाली जल-वायुकी हानि-वृद्धिका प्रमाण २२२ २/९ यो. है ।

१ प जलानिधौ । २ आ पौर्णमास्यां व पूर्णमास्यां । ३ व रुंध्रता ।

अष्टास्वन्तरदिक्ष्वन्यत्ततः क्षुल्लसहस्रकम् । दशभागसमं मानैस्त्रिभागैरपि पूर्ववत् ॥ १७

त्रिभागः ३३३ । । प्रतिदिनं जल-वायुहानि-वृद्धि २२।$\frac{२}{९}$ ।

नगराणां सहस्रं तु द्विचत्वारिंशताहत । [1]वेलंधरभुजंगानामन्तर्भागाभिरक्षिणाम् ॥ १८

नगराणां सहस्रं तु वष्टाविंशतिताडितम् । अग्रोदकं धारयतां नागानामिति वर्ण्यते ॥ १९

नगराणां सहस्रं [तु] द्विसप्ततिसमाहतम् । रक्षितॄणां बहिर्भागं समुद्रस्येति भाष्यते ॥ २०

त्रिलोकसारे उक्तं च द्वयम् [९०३-९०४]

[1]वेलंधरभुजगविमाणाण सहस्साणि बाहिरे सिहरे । अन्ते बाहत्तरि अडवीसं बादालयं लवणे ॥ ३

७२०००।२८०००।४२०००।

विशेषार्थ— मध्यम पातालोंकी गहराईका प्रमाण १०००० यो. है, अतः उसके एक तृतीय भागका प्रमाण हुआ $\frac{१००००}{३}$ = ३३३३$\frac{१}{३}$ यो. । अब यदि मध्यम त्रिभागके भीतर १५ दिनोंमें इतनी (३३३३$\frac{१}{३}$ यो.) जल व वायुकी हानि-वृद्धि होती है तो वह १ दिनमें कितनी होगी, इस प्रकार ३३३३$\frac{१}{३}$ में १५ का भाग देनेपर १ दिनमें होनेवाली हानि-वृद्धिका उपर्युक्त प्रमाण प्राप्त हो जाता है। यथा— ३३३३$\frac{१}{३}$ = $\frac{१००००}{३}$; १५ = $\frac{४५}{३}$; $\frac{१००००}{३}$ ÷ $\frac{४५}{३}$ = २२२$\frac{२}{९}$ यो. । इसी प्रकार उत्तम पातालों और जघन्य पातालोंके मध्यम त्रिभागमें भी प्रतिदिन होनेवाली जल-वायुकी हानि-वृद्धिका प्रमाण ले आना चाहिये ।

उपर्युक्त उत्तम और मध्यम पातालोके मध्यमें आठ अन्तर दिशाओंमें दूसरे एक हजार (१०००) जघन्य पाताल स्थित हैं। इनके विस्तार आदिका प्रमाण मध्यम पातालोंकी अपेक्षा दसवें भाग मात्र है । इनके भीतर भी तीन तीन त्रिभागों और उनमें स्थित जल-वायुके क्रमको पूर्ववत् ही समझना चाहिये ॥ १७ ॥ त्रिभाग ३३३$\frac{१}{३}$ यो., प्रतिदिन जल-वायुकी हानि-वृद्धि २२$\frac{२}{९}$ यो. ।

अभ्यन्तर भागका रक्षण करनेवाले (जंबूद्वीपकी ओर प्रविष्ट होनेवाली वेलाकी रक्षा करनेवाले) वेलंधर नागकुमार देवोंके नगर ब्यालीससे गुणित एक हजार अर्थात् ब्यालीस हजार (४२०००) प्रमाण हैं ॥ १८ ॥ अग्रोदक (जलशिखा) को धारण करनेवाले नागकुमार देवोंके नगर अट्ठाईससे गुणित एक हजार अर्थात् अट्ठाईस हजार (२८०००) कहे जाते हैं ॥ १९ ॥ समुद्रके बाह्य भाग (धातकीखण्ड द्वीपकी ओरकी वेला) की रक्षा करनेवाले नागकुमार देवोंके नगर बहत्तर हजार (७२०००) प्रमाण हैं, ऐसा कहा जाता है ॥ २० ॥ त्रिलोकसारमें इस सम्बन्धमें दो (९०३ – ९०४) गाथायें भी कही गई हैं —

लवण समुद्रके बाह्य भागमें, शिखरपर और अभ्यन्तर भागमें क्रमसे वेलंधर नागकुमार देवोंके बहत्तर हजार (७२०००), अट्ठाईस हजार (२८०००) और ब्यालीस (४२०००)

---

१ ब वेलंदर° ।

दुतडादो सत्तसयं दुकोसअहियं च होइ सिहरादो।
णयराणि हु गयणतले जोयणदसगुणसहस्साणि[1] ॥ ४॥
७०० को २। १०००० ।

द्वीपमेनं द्वितीयं चाऽऽश्रित्य नगराणि तु। मध्येऽपि च समुद्रस्य समुद्रं साधु रक्षताम् ॥ २१
द्वौ द्वौ च पर्वतौ प्रोक्तौ पातालानां च पार्श्वयोः। अन्तराणि च तेषां तु शृणु नामानि चैव तु ॥२२
एकं शतसहस्रं च सहस्राणि च षोडश। योजनस्य यथातत्त्वं पर्वतान्तरमुच्यते ॥ २३
द्विचत्वारिंशतं गत्वा सहस्राणां तटात्परम्। पुरस्तात्सागरे तुल्यौ वडवामुखतो गिरी ॥ २४
उत्तरः कौस्तुभो नाम्ना कौस्तुभासस्तु दक्षिणः। सहस्रमुद्गतौ शुभ्रावर्धकुम्भसमाकृती ॥ २५
राजतौ वज्रमूलौ च नानारत्नमयाग्रकौ। तन्नामानौ सुरावत्र विजयस्येव[2] वर्णना ॥ २६
उदकश्चोदवासश्च दक्षिणस्यां च पर्वतौ। शिवश्च शिवदेवश्च तत्र च व्यन्तरामरौ ॥ २७
शंखोऽथ च महाशंखः शंखवर्णौ च पश्चिमौ। उदकश्चोदवासश्च नामतोऽत्र सुरावपि ॥ २८

विमान स्थित हैं ॥ ३ ॥ ये नगर दोनों तटोंसे सात सौ (७००) योजन जाकर तथा शिखरसे दो कोस अधिक सात सौ (७००३) योजन जाकर आकाशतलमें स्थित हैं। इनका विस्तार दस हजार (१००००) योजन प्रमाण है ॥ ४ ॥

वे नगर इस जंबूद्वीपका तथा द्वितीय (धातकीखण्ड) द्वीपका भी आश्रय करके स्थित हैं। समुद्रके मध्यमें भी वे नगर अवस्थित हैं। इनमें रहनेवाले नागकुमार समुद्रकी भली भांति रक्षा करते हैं ॥ २१ ॥

पातालोंके दोनों पार्श्वभागोंमें जो दो दो पर्वत कहे गये हैं उनके अन्तरों और नामोंको सुनिये ॥ २२ ॥ इन पर्वतोंका अन्तर आगमानुसार एक लाख सोलह हजार (११६०००) योजन प्रमाण कहा जाता है ॥ २३ ॥ तटसे ब्यालीस हजार (४२०००) योजन आगे समुद्रमें जाकर वडवामुख पातालके उत्तर भागमें कौस्तुभ और उसके दक्षिण भागमें कौस्तुभास नामक दो समान विस्तारवाले पर्वत स्थित हैं। ये दोनों रजतमय धवल पर्वत एक हजार (१०००) योजन ऊंचे, अर्ध घटके समान आकारवाले, वज्रमय मूलभागसे संयुक्त तथा नाना रत्नमय अग्रभागसे सुशोभित हैं। इनके ऊपर जो उन्हींके समान नामवाले (कौस्तुभ-कौस्तुभास) दो देव रहते हैं उनका वर्णन विजय देवके समान है ॥ २४-२६ ॥

दक्षिणमें भी उदक और उदवास नामके दो पर्वत स्थित हैं। उनके ऊपर शिव और शिवदेव नामके दो व्यन्तर देव रहते हैं ॥२७॥ शंखके समान वर्णवाले शंख और महाशंख नामके दो पर्वत पश्चिमकी ओर स्थित हैं। इनके ऊपर भी उदक और उदवास नामके दो देव रहते हैं ॥२८॥

---

१ मुद्रितत्रिलोकसारे तु 'गुणसहस्सवासाणि' पाठोऽस्ति। २ प विजयास्येव।

दकश्च दकवासश्चोत्तरस्यां गिरी तयोः। लोहितो लोहिताङकश्च कौस्तुभेन समाश्च ते ॥ २९

उक्तं च त्रिलोकप्रज्ञप्तौ [४, २४५७]–

बादाल सहस्साणि जोयणया जलहिदोतडाहितो।
पविसिय खिदिविवराणं पासेसु होंति अट्ठगिरी[1] ॥ ५ ॥

आयुर्वेश्मपरीवारैर्विजयेन समा इमे। स्वस्यां दिशि च जम्ब्वाख्ये तेषां स्युर्नगराणि च ॥ ३०

उक्तं च त्रिलोकप्रज्ञप्तौ [४, २४७०]–

एदाणं देवाणं णयरीओ अवरजंबुदीवम्मि। होंति णियणियदिसाए अवराजिदणयरसारिच्छा ॥ ६

द्वादशैव सहस्राणि तटाद् गत्वापरोत्तरे। सहस्रं द्वादशाभ्यस्तं विस्तृतः सर्वतः समः ॥ ३१
नामतो गौतमो द्वीपो देवस्तस्य च गौतमः। स च कौस्तुभवद्वेद्यः परिवारायुरादिभिः ॥ ३२
प्राच्यां दिशि समुद्रेऽस्मिन् द्वैप्या एकोरुका नराः। अपाच्यां सविषाणाश्च प्रतीच्यां च सवालकाः ॥
अभाषका उदीच्यां च विदिक्षु शशकर्णकाः[2]। एकोरुकनराणां च वामदक्षिणभागयोः ॥ ३४
क्रमेण हयकर्णाश्च सिंहवक्त्राः कुमानुषाः। पूर्वापरे विषाणिभ्यः शष्कुलीकर्णका नराः ॥ ३५

दक और दकवास नामके दो पर्वत उत्तरमें हैं। उनके ऊपर लोहित और लोहितांक नामके देव रहते हैं जो कौस्तुभ देवके समान है ॥ २९ ॥ त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें कहा भी है—

समुद्रके दोनों तटोंसे ब्यालीस हजार (४२०००) योजन जाकर पातालोंके पार्श्व-भागोंमें आठ पर्वत स्थित हैं ॥ ५ ॥

उपर्युक्त पर्वतोंके ऊपर रहनेवाले ये देव आयु, भवन और परिवारकी अपेक्षा विजय देवके समान हैं। जंबू नामक द्वीपके भीतर अपनी दिशामें उनके नगर भी स्थित हैं ॥ ३० ॥ त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें कहा भी है—

इन देवोंकी नगरियां द्वितीय जंबूद्वीपके भीतर अपनी अपनी दिशामें स्थित हैं। वे नगरियां अपराजित देवकी नगरियोंके समान हैं ॥ ६ ॥

समुद्रतटसे बारह हजार (१२०००) योजन जाकर पश्चिम-उत्तर (वायव्य) कोणमें बारह हजार (१२०००) योजन विस्तृत और सब ओरसे समान गौतम नामका द्वीप स्थित है। उसका अधिपति जो गौतम नामका देव है वह परिवार और आयु आदिसे कौस्तुभ देवके समान है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ३१-३२ ॥ इस समुद्रके भीतर पूर्व दिशामें रहनेवाले अन्तरद्वीपज मनुष्य एक ऊरुवाले, दक्षिण दिशामें रहनेवाले सींगोंसे सहित, पश्चिम दिशामें रहनेवाले सवालक अर्थात् वालोंसे संयुक्त (पूंछवाले), उत्तर दिशामें रहनेवाले गूंगे, तथा विदिशाओंमें रहनेवाले मनुष्य शशकर्ण अर्थात् खरगोशके समान कानवाले होते हैं। इनमें एक ऊरुवाले मनुष्योंके वाम और दक्षिण पार्श्वभागोंमें क्रमसे घोड़के समान कानोंवाले और सिंहके समान मुखवाले कुमानुष रहते हैं। सींगवाले मनुष्योंके

---

१ ब अट्ठ होंति गिरी। २ ब °र्णिकाः।

श्वानास्याः कपिवक्त्राश्च लाङ्गुल्युभयपार्श्वयोः । पार्श्वयोः शष्कुलीकर्णा अभाषाणां च भाषिताः ।।
घूककालमुखाश्चापि हिमवत्पूर्वपश्चिमे । गोमुखा मेषवक्त्राश्च विजयार्धोभयान्तयोः ।। ३७
मेघविद्युन्मुखाः पूर्वापरयोः शिखरिणो गिरेः । दर्पणास्या गजास्याश्च विजयार्धोभयान्तयोः ।।३८
तटात्पञ्चशतं गत्वा दिक्षु चान्तरदिक्षु च । विदिक्षु च सपञ्चाशत् षट्च्छतं गिरिपार्श्वयोः ।। ३९

५०० । ५५० । [६००] ।

अन्तरेष्वन्तरद्वीपाः शतरुन्द्रास्तु दिग्गताः । तत्पादं शैलपार्श्वस्था व्यस्ताः पञ्चाशतं परे ।।४० ।

। २५ ।

सत्येकगमने पञ्चनवत[ति]स्तुङ्ग इष्यते $\frac{१}{९५}$ । षोडशाहत उर्ध्वे सः $\frac{१६}{९५}$ प्रकृते किं भवेदिति ।। ४१
त्रैराशिके द्वयोर्योगे जलस्थद्वीपतुङ्गता । एकयोजनतुङ्गास्ते जलोपरि सवेदिकाः ।। ४२

पूर्वापर पार्श्वभागोंमें शष्कुली जैसे कानोंवाले कुमानुष रहते हैं । पूंछवालोंके उभय पार्श्वभागोंमें श्वानमुख और वानरमुख कुमानुष रहते हैं । तथा गूंगे मनुष्योंके दोनों पार्श्वभागोंमें शष्कुलीकर्ण मनुष्य कहे गये हैं ।। ३३–३६ ।। हिमवान् पर्वतके पूर्वभागमें घूकमुख, उसके पश्चिम भागमें कालमुख तथा विजयार्धके उभय पार्श्वभागोंमें क्रमशः गोमुख और मेषमुख कुमानुष रहते हैं ।। ३७ ।। शिखरी पर्वतके पूर्वापर पार्श्वभागोंमें मेघमुख और विद्युन्मुख तथा विजयार्धके उभय प्रान्तभागोंमें दर्पणमुख और गजवदन कुमानुष रहते हैं ।। ३८ ।।

दिशाओं और अन्तर दिशाओंमें जो कुमानुषद्वीप स्थित हैं वे समुद्रतटसे पांच सौ (५००) योजन आगे जाकर हैं । विदिशाओंमें स्थित वे द्वीप समुद्रतटसे पचास सहित पांच सौ अर्थात् साढ़े पांच सौ (५५०) योजन, तथा पर्वतोंके उभय पार्श्वभागोंमें स्थित वे द्वीप समुद्रतटसे छह सौ (६००) योजन आगे जाकर हैं ।। ३९ ।।

अन्तरालोंमें स्थित अन्तरद्वीपों और दिशागत अन्तरद्वीपोंका विस्तार सौ (१००) योजन, पर्वतीय पार्श्वभागोंमें स्थित द्वीपोंका उनके चतुर्थ भाग प्रमाण अर्थात् पच्चीस (२५) योजन, और दूसरे दिशागत द्वीपोंका विस्तार पचास (५०) योजन मात्र है ।। ४० ।।

यदि एक योजन जानेपर जलकी ऊंचाई नीचे एक योजनके पंचानबैवें भाग ($\frac{१}{९५}$) तथा वही ऊपर इससे सोलहगुणी ($\frac{१६}{९५}$) मानी जाती है तो प्रकृतमें (५००, ५००, ५५० और ६०० योजन जानेपर) वह कितनी होगी; इस प्रकार त्रैराशिक करनेसे प्राप्त दोनों राशियोंका योग करनेपर अभीष्ट जलस्थ द्वीपकी ऊंचाई प्राप्त होती है । वे द्वीप जलके ऊपर एक योजन ऊंचे और वेदिकासे संयुक्त हैं ।। ४१–४२ ।।

विशेषार्थ—लवण समुद्रका विस्तार सम भूभागपर २०००००योजन और नीचे तलभागमें १०००० योजन है । गहराई (जलकी ऊंचाई) उसकी १००० यो. मात्र है । इस प्रकार क्रमशः हानि होकर उसके विस्तारमें दोनों ओरसे १९०००० योजनकी हानि हुई है । इसे आधा करनेपर

शैलाग्राभिमुखा द्वीपाः पार्श्वयोस्ते विषाणिनाम् । अभाषाणां च चत्वारः शशकाः पूर्वपश्चिमाः ॥४३
धातकीखण्डमासन्नास्तथा तावन्त एव च २४ । षडभ्यस्ताष्टकाः स्युस्ते ४८ स्युरष्टादशकुलालयाः ॥

एक ओरकी विस्तारहानिका प्रमाण ९५००० योजन होता है । अब यदि ९५००० यो. की विस्तारहानिमें जलकी ऊंचाई १००० यो. है तो वह १ योजनकी विस्तारहानिमें कितनी होगी, इस प्रकार त्रैराशिक करनेसे १ यो. की विस्तारहानिमें जलकी ऊंचाईका प्रमाण इतना प्राप्त होता है — $\frac{१०००\times १}{९५०००} = \frac{१}{९५}$ यो. । अब चूंकि समुद्रतटसे दिशागत द्वीप ५०० यो., अन्तरदिशागत ५०० यो., विदिशागत ५५० यो. और पर्वतीय पार्श्वभागगत द्वीप ६०० यो. की दूरीपर जाकर स्थित हैं; अतएव $\frac{१}{९५}$ को क्रमशः उपर्युक्त चार राशियोंसे गुणित करनेपर उन द्वीपोंके पास जलकी ऊंचाईका प्रमाण क्रमशः निम्न प्रकार प्राप्त होता है — $\frac{१}{९५}\times ५०० = ५\frac{५}{१९}$ यो. दि. द्वीप और अन्तर दि. द्वीप; $\frac{१}{९५}\times ५५० = ५\frac{१५}{१९}$ यो. विदि. द्वीप; $\frac{१}{९५}\times ६०० = ६\frac{६}{१९}$ यो. पर्वतीय द्वीप । यह सम भूभागसे नीचेकी ऊंचाईका प्रमाण हुआ । ऊपर जलशिखापर उनका जलोत्सेध इस प्रकार है—

सम भूभागसे ऊपर जलशिखाकी ऊंचाई १६००० यो. है । अब जब ९५००० यो. विस्तारकी हानिमें जलकी ऊंचाईका प्रमाण १६००० यो. है तब वह १ यो. विस्तारकी हानिमें कितना होगा, इस प्रकार पूर्वोक्त रीतिसे त्रैराशिक द्वारा वह इतना प्राप्त होता है — $\frac{१६०००\times १}{९५०००} = \frac{१६}{९५}$ यो. । इसको क्रमशः उपर्युक्त द्वीपोंकी दूरीसे गुणित करनेपर उन उन द्वीपोंके पास जलशिखाकी ऊंचाईका प्रमाण निम्न प्रकार प्राप्त होता है— $\frac{१६}{९५}\times ५०० = ८४\frac{४}{१९}$ यो. दिशागत व अन्तरदिशागत; $\frac{१६}{९५}\times ५५० = ९२\frac{१२}{१९}$ यो. विदिशागत; $\frac{१६}{९५}\times ६०० = १०१\frac{१}{१९}$ यो. पर्वतीय पार्श्वस्थ द्वीपोंके पास जलशिखाकी ऊंचाई । अब चूंकि जलके ऊपर भी ये द्वीप १ योजन प्रमाण ऊंचे हैं अत एव क्रमसे अपने अपने द्वीपोंके पासकी नीचे और ऊपरकी सम्मिलित जलकी ऊंचाईमें १ योजनको और मिला देनेपर यथाक्रमसे अपने अपने स्थानमें इन द्वीपोंकी ऊंचाईका प्रमाण निम्न प्रकार प्राप्त होता है— $५\frac{५}{१९} + ८४\frac{४}{१९} + १ = ९०\frac{९}{१९}$ यो.; यह दिशागत और अन्तरदिशागत द्वीपोंकी ऊंचाईका प्रमाण है । $५\frac{१५}{१९} + ९२\frac{१२}{१९} + १ = ९९\frac{८}{१९}$ यो.; यह विदिशागत द्वीपोंकी ऊंचाईका प्रमाण है । $६\frac{६}{१९} + १०१\frac{१}{१९} + १ = १०८\frac{७}{१९}$; यह पर्वतीय पार्श्वभागोंमें स्थित द्वीपोंकी ऊंचाईका प्रमाण है ।

पर्वतोंके अग्रभागोंके अभिमुख जो द्वीप हैं वे विषाणियों तथा अभाषकोंके दोनों पार्श्वभागोंमें हैं । चार शशक द्वीप पूर्व-पश्चिममें हैं (?) ॥ ४३ ॥ जितने अन्तरद्वीप जंबूद्वीपकी ओर लवण समुद्रमें स्थित हैं उतने ही वहां धातकीखण्ड द्वीपके निकट भी स्थित हैं । इस प्रकार दोनों ओरके वे सब द्वीप छहसे गुणित आठ अंक प्रमाण अर्थात् अड़तालीस (४८) हैं । वे सब द्वीप

उक्तं च त्रिलोकप्रज्ञप्तौ [४, २४७८-८८]–

दीवा लवणसमुद्दे अडदाल कुमाणुसाण चउवीसं । अब्भंतरम्मि भागे तेत्तियमेत्ता य बाहिरए ॥ ७

२४।४८।

चत्तारि चउदिसासुं चउविदिसासुं हवंति चत्तारि ।

अंतरदिसासु अट्ठ य अट्ठ य गिरिपणिधिठाणेसुं ॥ ८ ॥

४।४।८।८।

पंचसयजोयणाणि गंतूणं जंबुदीवजगदीदो । चत्तारि होंति दीवा दिसासु विदिसासु तम्मेत्ते ॥ ९

।५००।

पण्णाहियपंचसया गंतूणं होंति अंतरा दीवा । छस्सयजोयणमेत्तं गच्छिय गिरिपणिधिगददीवा ॥

५५०।६००।

एक्कसयं पणवण्णा पण्णा पणुवीस जोयणा कमसो । वित्थारजुदा ताणं एक्केक्का होदि तडवेदी ॥

१०० । ५५ । ५० । २५ ।

ते सव्वे वरदीवा वणसंडेहिं दहेहि रमणिज्जा । फलकुसुमभारभंजिदरसेहिं[1] (?) महुरेहि सलिलेहिं ॥

एक्कोरुगलंगुलिगा[2] वेसणिगा भासगा य णामेहिं । पुव्वादीसु दिसासुं चउदीवाणं कुमाणुसा होंति ॥

सक्कुलिकण्णा कण्णप्पावरणा लंबकण्णससकण्णा । अग्गिदिसादिसु कमसो चउदीवकुमाणुसा एदे ॥

एकोरुक आदि अठारह कुलों (कुमानुषों) के निवासस्थानभूत हैं ॥ ४४ ॥ त्रिलोकप्रज्ञप्ति-में कहा भी है–

लवण समुद्रमें कुमानुषोंके अड़तालीस (४८) द्वीप हैं । इनमें चौवीस (२४) अभ्यन्तर भागमें और उतने ही वे बाह्य भागमें भी हैं ॥ ७ ॥ उनमें चार दिशाओंमें चार, चार विदिशाओंमें चार, अन्तरदिशाओंमें आठ; तथा हिमवान्, शिखरी और दो विजयार्ध इन चार पर्वतोंके पार्श्वभागमें आठ; इस प्रकार सव द्वीप चौवीस हैं ॥ ८ ॥ जंवूद्वीपकी जगतीसे समुद्रमें पांच सौ (५००) योजन जाकर चार द्वीप दिशाओंमें और उतने मात्र (५००) योजन जाकर चार द्वीप विदिशाओंमें स्थित हैं ॥ ९ ॥ अन्तरद्वीप जगतीसे पांच सौ पचास (५५०) योजन जाकर तथा पर्वतोंके प्रणिधि-भागोंमें स्थित द्वीप उससे छह सौ (६००) योजन जाकर हैं ॥ १० ॥ वे द्वीप क्रमसे एक सौ (१००), पचवन (५५), पचास (५०) और पच्चीस (२५) योजन प्रमाण विस्तृत हैं । उनमेंसे प्रत्येक द्वीपके तटवेदी है ॥ ११ ॥ वे सव उत्तम द्वीप फलों और फूलोंके भारसे भंग होनेवाले (?) वनखण्डोंसे तथा मधुर जलयुक्त द्रहोंसे रमणीय हैं ॥ १२ ॥ पूर्वादिक चार दिशाओंमें स्थित चार द्वीपोंके कुमानुष क्रमशः नामसे एकोरुक, लांगूलिक, वैषाणिक और अभाषक होते हैं ॥ १३ ॥ आग्नेय आदि चार विदिशाओंमें स्थित चार द्वीपोंके ये कुमानुष क्रमसे शष्कुलिकर्ण, कर्णप्रावरण,

---

१ व भंजिध° । २ व लंगलिगा ।

सिहस्ससाणहयरिउवराहसद्दूलघूयकपिवदणा। सक्कुलिकण्णेक्कोरुगपहुदीणं अंतरेसु ते कमसो ।।

मच्छमुहा कालमुहा हिमगिरिपणिधीए[1] पुव्वपच्छिमदो ।
मेसमुहगोमुहक्खा दक्खिणवेअड्ढपणिधीए[1] ।। १६।।

पुव्वावरेण सिहरिप्पणिधीए[1] मेघविज्जुमुहणामा। आदंसणहत्थिमुहा उत्तरवेअड्ढपणिधीए[1] १७

मिथुनोत्पत्तिकास्ते च नवचत्वारिंशता दिनैः। नवयौवनसंपन्ना[2] द्विसहस्रधनुःप्रमाः ।। ४५

।४९।

शर्करारसतोऽत्युद्घा भूमिरेकोरुकाशनम्। गुहालयाश्च ते सर्वे पल्यायुष इति स्मृताः ।। ४६

प्रियङ्गुशामका वर्णैः शेषा वृक्षनिवासिनः। तेषां सर्वोपभोगाश्च कल्पवृक्षोद्भवाः[3] सदा ।। ४७

चतुर्थकालाहाराश्च रोगशोकविवर्जिताः। भवनत्रितये चैते जायन्तेऽत्र मृता अपि ।। ४८

जम्बूद्वीपजगत्यैव समुद्रजगती समा। अभ्यन्तरे शिलापट्टं वनं बाह्ये तु वर्णितम् ।। ४९

लवणादिकविष्कम्भश्चतुस्त्रिद्विकताडितः। त्रिलक्षोनः क्रमेण स्युः बाह्यमध्यादिसूचयः ।। ५०

लंबकर्ण और शशकर्ण होते हैं ।। १४ ।। शष्कुलीकर्ण और एकोरुक आदि कुमानुषोंके अन्तरालोमें स्थित वे कुमानुष क्रमसे सिंहमुख, अश्वमुख, श्वानमुख, हयरिपु (सिंहमुख), वराहमुख, शार्दूलमुख, घूकमुख और वानरमुख होते हैं ।। १५ ।। हिमवान् पर्वतकी प्रणिधिमें पूर्व-पश्चिम भागोंमें मत्स्यमुख और कालमुख, दक्षिण विजयार्धकी प्रणिधिमें मेषमुख और गोमुख नामक, शिखरी पर्वतकी प्रणिधिमें पूर्व-पश्चिमकी ओर मेघमुख और विद्युन्मुख तथा उत्तर विजयार्धकी प्रणिधिमें आदर्शन-मुख और हस्तिमुख कुमानुष रहते हैं ।। १६–१७ ।।

इन द्वीपोंमें जो कुमानुष रहते हैं वे युगल रूपसे उत्पन्न होकर उनंचास (४९) दिनमें नवीन यौवनसे सम्पन्न हो जाते हैं। इनके शरीरकी ऊंचाई दो हजार (२०००) धनुष प्रमाण होती है ।। ४५ ।। उनमें एक ऊरुवाले कुमानुप शक्करके समान रससे संयुक्त भूमि (मिट्टी)का भोजन करते और गुफाओंमें रहते हैं। उन सबकी आयु एक पल्य प्रमाण होती है ।। ४६ ।। प्रियंगु पुष्पके समान वर्णवाले शेष कुमानुष वृक्षोंके मूल भागमें रहते हैं। उनके सब उपभोग सदा कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न होते हैं ।। ४७ ।। चतुर्थ कालसे अर्थात् एक दिनके अन्तरसे भोजन करनेवाले तथा रोग-शोकसे रहित ये कुमानुष यहां मृत्युको प्राप्त होकर भवनत्रिक देवोंमें उत्पन्न होते हैं ।।४८।।

समुद्रकी जगती जंबूद्वीपकी जगतीके ही समान है। उसके अभ्यन्तर भागमें शिलापट्ट और बाह्य भागमें वन बतलाया गया है ।। ४९ ।।

लवणोद आदि विवक्षित द्वीप या समुद्रके विस्तारको चार, तीन और दोसे गुणित करके प्राप्त राशिमेंसे तीन लाख कम कर देनेपर क्रमसे उसकी बाह्य, मध्य और आदि सूचीका प्रमाण होता है ।। ५० ।।

---

१ ब पणिदीये। २ प योजनसं॰। ३ प ॰द्भवः ।

ल. बा. ५०००००। म ३०००००। आ १०००००। दा [धा] बा १३०००००। म ९०००००। आ ५०००००। का बा २९०००००। म २१०००००। आ १३०००००। पु बा ६१०००००। म ४५०००००। आ २९०००००।

[1]बाह्यसूचीकृतश्चान्तःसूचीवर्गेण हीनकाः। जम्बूप्रमाणखण्डानि लक्षवर्गेण भाजिताः ॥ ५१

ल २४। दा (धा) १४४। का ६७२। पु २८८०।

विशेषार्थ–– मण्डलाकारसे स्थित द्वीप-समुद्रोंमें विवक्षित द्वीप अथवा समुद्रके एक दिशासे दूसरी दिशा तकके समस्त विस्तारप्रमाणको सूची कहा जाता है। वह आदि, मध्य और बाह्यके भेदसे तीन प्रकारकी है। उपर्युक्त करणसूत्रमें इन्हीं तीन सूचियोंके प्रमाणको लानेकी विधि बतलायी गई है। यथा–– विवक्षित द्वीप या समुद्रके विस्तारको ४ से गुणित करके उनमेंसे ३००००० योजन कम कर देनेपर शेष उसकी बाह्य सूचीका प्रमाण होता है। जैसे–लवण समुद्रका विस्तार २००००० यो. प्रमाण है। इसे ४ से गुणित करनेपर २००००० × ४ = ८००००० प्राप्त होते हैं। इसमेंसे ३००००० घटा देनेपर शेष ८००००० – ३००००० = ५००००० यो. रहते हैं; यह लवण समुद्रकी बाह्य सूची (मध्यगत जंबूद्वीपके विस्तार सहित दोनों ओरके लवण समुद्रका सम्मिलित विस्तार)का प्रमाण हुआ–– २००००० + १००००० + २००००० = ५००००० योजन। लवण समुद्रके उपर्युक्त विस्तारको ३ से गुणित करके उनमेंसे ३००००० कम कर देनेपर उसकी मध्य सूची (लवण समुद्रके एक दिशागत मध्य भागसे दूसरी दिशागत मध्य भाग तक)का प्रमाण होता है। यथा–२००००० × ३ –३००००० = ३००००० यो.। उक्त विस्तारप्रमाणको २ से गुणित करके ३००००० कम कर देनेपर उसकी आदि सूची (उसके एक दिशागत अभ्यन्तर तटसे दूसरी दिशागत अभ्यन्तर तट तक) का प्रमाण होता है। यथा ––२००००० × २ – ३००००० = १००००० यो.। पूर्ववर्ती द्वीप अथवा समुद्रकी जो बाह्य सूचीका प्रमाण है वही उसके आगेके द्वीप अथवा समुद्रकी अभ्यन्तर सूचीका प्रमाण होता है। जैसे लवण समुद्रकी बाह्य सूचीका प्रमाण जो ५००००० यो. है वही उससे आगेके धातकीखण्ड द्वीपकी अभ्यन्तर सूचीका प्रमाण होगा। लवण समुद्रकी बाह्य सूची ५००००० यो., मध्यम सूची ३००००० यो., आदि सूची १००००० यो.। धातकीखण्ड द्वीपकी बा. बा. १३००००० यो., म. ९००००० यो., आ. ५००००० यो.। कालोद समुद्रकी बा. २९००००० यो. म. २१००००० यो., आ. १३००००० यो.। पुष्करद्वीपकी बा. ६१००००० यो., म. ४५००००० यो., आ. २९००००० योजन।

बाह्य सूचीके वर्गको अभ्यन्तर सूचीके वर्गसे हीन करके शेषमें एक लाखके वर्गका भाग देनेपर जो लब्ध हो उतने [विवक्षित द्वीप अथवा समुद्रके] जंबूद्वीपके बराबर खण्ड होते हैं॥ ५१॥

---

१ आ प बाह्यसूती°।

द्वीपार्णवा ये लवणोदकाद्या एकैकशस्तु द्विगुणाः क्रमेण।
पूर्वं परिक्षिप्य समन्ततोऽपि स्थिताः समानाह्वयमण्डलैस्ते ॥५२

॥ इति लोकविभागे लवणसमुद्रविभागो[1] नाम द्वितीयं प्रकरणम् ॥२॥

विशेषार्थ— जंबूद्वीपका जितना क्षेत्रफल है उसके बराबर प्रमाणसे विवक्षित द्वीप अथवा समुद्रके कितने खण्ड हो सकते हैं, इसका परिज्ञान करानेके लिये प्रकृत करणसूत्र प्राप्त हुआ है। उसका अभिप्राय यह है कि विवक्षित द्वीप या समुद्रकी बाह्य सूचीका जो प्रमाण है उसका वर्ग कीजिये और फिर उसमेंसे उसीकी अभ्यन्तर सूचीके वर्गको घटा दीजिये। इस प्रकारसे जो शेष रहे उसमें १००००० के वर्गका भाग देनेपर प्राप्त राशि प्रमाण विवक्षित द्वीप या समुद्रके जंबूद्वीपके बराबर खण्ड होते हैं। यथा — लवण समुद्रकी बाह्य सूची ५००००० यो. और अभ्यन्तर सूची १००००० यो. प्रमाण है, अतः $(५०००००^२ - १०००००^२) \div १०००००^२ = २४$; इस प्रकार जंबूद्वीके प्रमाणसे लवणसमुद्रके २४ खण्ड प्राप्त होते हैं। धा. द्वीप $(१३०००००^२ - ५०००००^२) \div १०००००^२ = १४४$ खण्ड। कालोद $(२९०००००^२ - १३०००००^२) \div १०००००^२ = ६७२$। पुष्कर द्वीप $(६१०००००^२ - २९०००००^२) \div १०००००^२ = २८८०$ खण्ड।

लवणोदक समुद्रको आदि लेकर जो द्वीप और समुद्र हैं उनमेंसे प्रत्येक क्रमसे पूर्व पूर्वकी अपेक्षा दूने दूने विस्तारवाले हैं। वे पूर्वके द्वीप अथवा समुद्रको चारों ओरसे घेरकर समान संज्ञावाले मण्डलोंसे स्थित हैं॥ ५२॥

इस प्रकार लोकविभागमें लवणसमुद्रविभाग नामक द्वितीय प्रकरण समाप्त हुआ॥ २॥

---

१ ब लवणार्णवविभागो।

[तृतीयो विभागः]

नाम्नान्यो धातकीखण्डो द्वितीयो द्वीप उच्यते। मेरोः पूर्वपरावत्र द्वौ मेरू परिकीर्तितौ ॥ १
इष्वाकारौ[1] च शैलौ द्वौ मेरोरुत्तरदक्षिणौ। सहस्रं विस्तृतावेतौ द्वीपव्याससमायतौ ॥ २
अवगाढोच्छ्रयाभ्यां च निषधेन समौ मतौ। सर्वे वर्षधराश्चात्र स्वैः स्वैर्गाधोच्छ्रयैः समाः ॥ ३
क्षेत्रस्याभिमुखं क्षेत्रं शैलानामपि चाद्रयः। इष्वाकारास्तु[2] चत्वारो भरतैरावतान्तरे ॥ ४
हिमवत्प्रभृतीनां च पूर्वो द्विगुण इष्यते। द्वादशानामपि व्यासस्तथा[3] पुष्करसंज्ञके ॥ ५
द्विचतुष्कमथाष्टौ च अष्टौ सप्त च[4] रूपकम्। धातकीखण्डशैलानां व्यासः[5] संक्षेप इष्यते ॥ ६
। १७८८४२।

दूसरा द्वीप नामसे धातकीखण्ड कहा जाता है। यहां मेरु (सुदर्शन) के पूर्व और पश्चिममें दो मेरु कहे गये हैं ॥ १ ॥ यहांपर मेरुके उत्तर और दक्षिणमें दो इष्वाकार पर्वत स्थित हैं। ये एक हजार योजन विस्तृत और द्वीपके विस्तारके बराबर (४ लाख यो.) आयत हैं ॥ २ ॥ ये दोनों इष्वाकार पर्वत अवगाढ़ और ऊंचाईमें निपध पर्वतके समान माने गये हैं। यहांपर सब पर्वत अपने अपने अवगाढ और ऊंचाईमें जंबूद्वीपस्थ पर्वतोंके समान हैं ॥ ३ ॥ धातकीखण्ड द्वीपमें क्षेत्रके अभिमुख (सामने) क्षेत्र और पर्वतोंके अभिमुख पर्वत स्थित हैं। किन्तु चार (दो धातकीखण्ड और दो पुष्करार्ध द्वीपके) इष्वाकार पर्वत भरत और ऐरावत क्षेत्रोंके अन्तरमें स्थित हैं ॥ ४ ॥ हिमवान् आदिक वारह कुलपर्वतोंका विस्तार पूर्व (जंवूद्वीपस्थ हिमवान् आदि) से दूना माना जाता है। उसी प्रकार पुष्करार्ध नामक द्वीपमें भी इन पर्वतोंका विस्तार जंवूद्वीपकी अपेक्षा दूना है ॥ ५ ॥ धातकीखण्डमें स्थित पर्वतोंका विस्तार संक्षेपमें अंकक्रमसे दो, चार, आठ, आठ, सात और एक (१७८८४२) अर्थात् एक लाख अठत्तर हजार आठ सौ व्यालीस यो. माना जाता है ॥ ६ ॥

विशेपार्थ — जंवूद्वीपमें उपर्युक्त हिमवान् आदि पर्वतोंका विस्तार क्रमसे इस प्रकार है— हिम. १०५२$\frac{१२}{१९}$ + म. हि. ४२१०$\frac{१०}{१९}$ + निषध १६८४२$\frac{२}{१९}$ + नील १६८४२$\frac{२}{१९}$ + रुक्मि ४२१०$\frac{१०}{१९}$ + शिखरी १०५२$\frac{१२}{१९}$ = ४४२१०$\frac{१०}{१९}$ यो.। अव चूंकि धातकीखण्डमें इन पर्वतोंका विस्तार जंवूद्वीपकी अपेक्षा दूना दूना है, अतएव उसे दूना करनेसे इतना होता है—४४२१०$\frac{१०}{१९}$ × २ = ८८४२१$\frac{१}{१९}$ यो.। इसके अतिरिक्त धातकीखण्डमें ये पर्वत २-२ हैं, तथा वहां १०००

---

१ प ईष्वाकारी। २ प ईष्वा°। ३ आ प व्यासः तथा। ४ व सप्तक। ५ आ प व्यास°।

आदिमध्यान्तपरिधिष्वद्रिरुद्धक्षितिं पुनः । शोधयित्वावशेषश्च सर्वभूव्यासमेलनम् ॥ ७
अभ्यन्तरपरिधौ पर्वतरहितक्षेत्रं १४०२२९७। मध्यम २६६७२०८। बाह्य ३९३२११९।
भरताभ्यन्तरविष्कम्भश्चतुरेकं षट्कषट्ककम् । योजनानां नवद्व्येकसंशा द्व्येकद्विकस्य[1] च ॥ ८
६६१४। $\frac{१२९}{२१२}$ ।
एकमष्टौ च पञ्च द्वे चैकमङ्कक्रमेण च । षट्त्रिंशद्भागका मध्यो विष्कम्भो भरतस्य च ॥ ९
सप्त द्विकृति पञ्चाष्टावेकमङ्कक्रमेण च । पञ्चपञ्चैकक्कं भागा बाह्यविष्कम्भ इष्यते ॥ १०
त्रिस्थानभरतव्यासाद् वृद्धिर्हैमवतादिषु । चतुर्गुणा विदेहान्तं ततो हानिरनुक्रमात् ॥ ११
है २६४५८[$\frac{९२}{२१२}$] ५०३२४[$\frac{१४४}{२१२}$] ७४१९०[$\frac{१९६}{२१२}$] ह १०५८३३[$\frac{१५६}{२१२}$]२०१२९८[$\frac{१५२}{२१२}$]
२९६७६३[$\frac{१४८}{२१२}$] वि ४२३३३४[$\frac{२००}{२१२}$] ८०५१९४[$\frac{१८४}{२१२}$] ११८७०५४[$\frac{१६८}{२१२}$]

यो. विस्तारवाले २ इष्वाकार पर्वत भी अवस्थित हैं, इसीलिये उपर्युक्त राशिको २ से गुणित करके उसमें २००० योजनको मिला देनेपर उक्त पर्वतरुद्ध क्षेत्रका प्रमाण प्राप्त हो जाता है— ($८८४२१\frac{१}{१९} \times २) + (१००० \times २) = १७८८४२\frac{२}{१९}$ यो.। इसमें यहां $\frac{२}{१९}$ की विपक्षा नहीं की गई है।

धातकीखण्ड द्वीपकी आदि, मध्य और बाह्य परिधियोंमेंसे पर्वतरुद्ध क्षेत्रको कम कर देनेपर शेष सब क्षेत्रोंका सम्मिलित विस्तार होता है ॥ ७ ॥ उसकी अभ्यन्तर परिधिमें पर्वत-रहित क्षेत्र १४०२२९७ यो., मध्यम परिधिमें २६६७२०८ यो. और बाह्य परिधिमें ३९३२११९ यो. (यहां यह पूर्णसंख्या $\frac{१७}{१९}$ को एक अंक मानकर निर्दिष्ट की गई है।)

भरत क्षेत्रका अभ्यन्तर विस्तार अंकक्रमसे चार, एक, छह और छह अर्थात् छह हजार छह सौ चौदह योजन और एक योजनके दो सौ बारह भागोंमेंसे एक सौ उनतीस भाग प्रमाण ($६६१४\frac{१२९}{२१२}$ यो.) है ॥ ८ ॥ भरतका मध्य विस्तार अंकक्रमसे एक, आठ, पांच, दो और एक अर्थात् बारह हजार पांच सौ इक्यासी योजन और योजनके दो सौ बारह भागोंमेंसे छत्तीस भाग प्रमाण ($१२५८१\frac{३६}{२१२}$ यो) है ॥ ९ ॥ भरत क्षेत्रका बाह्य विस्तार अंकक्रमसे सात, दोका वर्ग अर्थात् चार, पांच, आठ और एक अर्थात् अठारह हजार पांच सौ सैंतालीस योजन और एक योजनके दो सौ बारह भागोंमेंसे एक सौ पचवन भाग प्रमाण ($१८५४७\frac{१५५}{२१२}$ यो.) है ॥१०॥ भरत क्षेत्रके उपर्युक्त तीन प्रकार विस्तारकी अपेक्षा हैमवत आदिक क्षेत्रोंके विस्तारमें विदेह क्षेत्र तक चौगुणी वृद्धि हुई है, आगे उसी क्रमसे हानि होती गई है ॥ ११ ॥

विशेषार्थ— धातकीखण्ड द्वीपकी अभ्यन्तर परिधि १५८११३९, मध्यम परिधि २८४६०५०, और बाह्य परिधि ४११०९६१ योजन प्रमाण है। इनमेंसे पर्वतरुद्ध क्षेत्र ($१७८८४२\frac{२}{१९}$ यो.) को घटा देनेपर क्रमशः उन तीन परिधियोंमें क्षेत्ररुद्ध क्षेत्र इतना होता है—

---

१ प ब द्वेकद्विकस्य।

भरतादिभुवामाद्यं रुन्द्रमपनीय बाह्यके। चतुर्लक्षैर्हृते हानिवृद्धी ईप्सितदेशके[1] ॥ १२

गिरयोऽर्धतृतीयस्था[2] द्रुमवक्षारवेदिकाः। अवगाढा विना मेरुं स्वोच्चयस्य चतुर्थकम् ॥ १३

विस्तृतानि हि कुण्डानि स्वावगाहं तु षड्गुणम्। ह्रदनद्योऽवगाहाच्च पञ्चाशद्गुणविस्तृताः ॥ १४

६०।१२०।२४०

उद्गतं स्वावगाहं तु चैत्यं सार्धशताहतम्। जम्ब्वातुल्याः समाख्याता दशाप्यत्र महाद्रुमाः ॥ १५

सर.कुण्डमहानद्यस्तथा पद्मह्रदा अपि। अवगाहैः समाः पूर्वैर्व्यासैर्द्विद्विगुणाः परे ॥ १६

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

अ. प. १४०२२९६$\frac{१७}{१९}$, म. प. २६६७२०७$\frac{१७}{१९}$, बा. प. ३९३२११८$\frac{१७}{१९}$। अब यहां भरतादि क्षेत्रोंके विस्तारप्रमाणकी शलाकायें इस प्रकार हैं-–भरत १ × हैमवत ४ + हरिवर्ष १६ + विदेह ६४ + रम्यक १६ + हैरण्यकवत ४ + ऐरावत १=१०६; यह एक ओरकी शलाओंका प्रमाण हुआ। इसी क्रमसे दूसरी ओरकी भी इतनी ही शलाकाओंको ग्रहण करके पूर्व शलाकाओं-में मिला देनेपर सब शलाकायें १०६ × २ = २१२ होती हैं। अब विवक्षित क्षेत्रके विस्तारको लानेके लिये धातकीखण्डकी पर्वतरुद्ध क्षेत्रसे रहित विवक्षित (अभ्यन्तर आदि) परिधिमें २१२ का भाग देकर लब्धको अभीष्ट क्षेत्रकी शलाकाओंसे गुणित कर देनेपर विवक्षित क्षेत्रका विस्तार आ जाता है। जैसे– $\frac{१४०२२९६\frac{१७}{१९}}{२१२} \times १ = ६६१४\frac{१२९}{२१२}$ यो.; भरतका अभ्यन्तर विस्तार। $\frac{२६६७२०७\frac{१७}{१९}}{२१२} \times १ = १२५८१\frac{३६}{२१२}$ यो.; भरतका मध्य विस्तार। $\frac{३९३२११८\frac{१७}{१९}}{२१२} \times १ =$ १८५४७$\frac{१५५}{२१२}$ यो.; भरतका बाह्य विस्तार। हैमवत २६४५८$\frac{९२}{२१२}$, ५०३२४$\frac{१४४}{२१२}$, ७४१९०$\frac{१९६}{२१२}$ हरि १०५८३३$\frac{१५६}{२१२}$, २०१२९८$\frac{१५२}{२१२}$, २९६७६३$\frac{१४८}{२१२}$। विदेह ४२३३३४$\frac{२००}{२१२}$, ८०५१९४$\frac{१८४}{२१२}$, ११८७०५४$\frac{१६८}{२१२}$।

भरतादिक क्षेत्रोंके बाह्य विस्तारमेंसे अभ्यन्तर विस्तारको कम करके शेषमें चार लाखका भाग देनेपर इच्छित स्थानमें हानि-वृद्धिका प्रमाण प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

अढ़ाई द्वीपमें मेरु पर्वतको छोड़कर शेष जो पर्वत, वृक्ष, वक्षार और वेदिकायें स्थित हैं उनका अवगाह अपनी ऊंचाईके चतुर्थ भाग ($\frac{१}{४}$) प्रमाण है ॥ १३ ॥ कुण्डोंका विस्तार अपने अवगाहसे छह गुणा (जैसे– १० × ६ = ६०, २० × ६ = १२०, ४० × ६ = २४०) तथा द्रह और नदियोंका विस्तार अपने अवगाहसे पचासगुणा है ॥ १४ ॥

चैत्य वृक्षकी ऊंचाई अपने अवगाहसे डेढ़सौगुणी होती है। अढ़ाई द्वीपोंमें स्थित दस ही महावृक्ष जंबूवृक्षके समान कहे गये हैं ॥ १५ ॥ तालाब, कुण्ड, महानदियां तथा पद्मह्रद भी; ये अवगाहकी अपेक्षा पूर्व अर्थात् जंबूद्वीपस्थ तालाब आदिके समान हैं। परन्तु विस्तारमें वे जंबूद्वीपके तालाब आदिसे दूने दूने हैं ॥ १६ ॥

---

१ [तामिर्वृद्धिरीप्सित'] २ प तृतीयस्था।
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

विजयार्धश्च चैत्यानि वृषभा नाभिपर्वताः । चित्रकूटादयश्चैते तदा काञ्चननामकाः ॥ १७
दिशागजेन्द्रकूटानि वक्षारा वेदिकादयः । उच्छ्रयव्यासगाधैस्ते समा द्वीपत्रये मताः ॥१८

उक्तं च द्वयम् [ति. प. ४-२५४७, २७९१]—

मोत्तूणं मेरुगिरिं सव्वणगा कुंडपहुदि दीवदुगे । अवगाढवासपहुदी केई इच्छंति[1] सारिच्छा ॥ १
मुक्का मेरुगिरिंदं कुलगिरिपहुदीणि[2] दीवतिदयम्मि । वित्थारुच्छेहसमा[3] केई एवं परूवेंति ॥ २

अर्धयोजनमुद्विद्धा व्यस्ताः पञ्चधनुःशतम् । सर्वेषामपि कुण्डानां वेदिका रत्नतोरणाः ॥ १९
अशीतिश्च सहस्राणि चत्वारि च समुच्छ्रयः । चतुर्णामपि मेरूणां परयोर्द्वीपयोस्तथा ॥ २०

।८४०००।

सहस्रमवगाढाश्च मेदिनीं सर्वमेरवः । दशैव स्युः सहस्राणि चतुर्णां मूलपार्थवम् ॥ २१

१०००।१००००।

एकयोजनगते मूलाद् व्यासैः क्षुल्लकमेरवः । हीयन्ते षड्दशांशानां भूम्याश्च दशमांशकम् ॥ २२

६/१०।१/१०।

केचित् क्षुल्लकमेरूणामिच्छन्ति तलरुन्द्रकम् । पञ्चनवतिं शतानां च मूलाद्धानिर्दशांशकम् ॥ २३

९५०० ।१/१०।

विजयार्ध, चैत्य वृक्ष, वृषभ पर्वत, नाभि पर्वत, चित्रकूटादिक (यमक पर्वत), कांचन नामक पर्वत, दिग्गजेन्द्र कूट, वक्षार और वेदिका आदि; ये सब ऊंचाई, विस्तार तथा अवगाहकी अपेक्षा तीन द्वीपोंमें समान माने गये हैं ॥ १७–१८ ॥ इस विषयमें दो गाथायें भी कही गई हैं—

मेरु पर्वतको छोड़कर शेष सब पर्वत और कुण्ड आदि अवगाह एवं विस्तार आदिकी अपेक्षा दोनों (जंबू और धातकीखण्ड) द्वीपोंमें समान हैं, ऐसा कितने ही आचार्य स्वीकार करते हैं ॥ १ ॥ मेरु पर्वतको छोड़कर शेष कुलपर्वत आदि तीन (जंबू, धातकीखण्ड और पुष्करार्ध) द्वीपोंमें विस्तार व ऊंचाईकी अपेक्षा समान हैं, ऐसा कितने ही आचार्य प्ररूपण करते हैं ॥ २ ॥

सब ही कुण्डोंके आध योजन ऊंची और पांच सौ (५००) धनुष प्रमाण विस्तृत ऐसी रत्नमय तोरणोंसे सहित वेदिकायें होती हैं ॥ १९ ॥

आगेके दो द्वीपों (धातकीखण्ड और पुष्करार्ध) में चारों ही मेरु पर्वतोंकी ऊंचाई अस्सी और चार अर्थात् चौरासी हजार (८४०००) योजन प्रमाण है ॥२०॥ सब मेरु पर्वत पृथिवीमें एक हजार (१०००) योजन गहरे हैं । मूल भागमें चार मेरु पर्वतोंका विस्तार दस ही हजार (१००००) योजन प्रमाण है ॥२१॥ क्षुद्र मेरु मूल भागसे एक योजन ऊपर जाकर विस्तारमें छह दस भागों (६/१०) से हीन तथा पृथिवीसे एक योजन ऊपर जाकर दसवें भाग (१/१०) से हीन होते गये हैं ॥ २२ ॥ क्षुद्र मेरुओंका तलविस्तार पंचानबै सौ (९५००) योजन प्रमाण होकर उसमें मूलकी अपेक्षा दसवें भाग (१/१०) की हानि हुई है, ऐसा कुछ आचार्य स्वीकार करते हैं ॥ २३ ॥

---

१ आ प केईच्छंति । २ ब कुलपहुदीणि ३ ति प °रुच्छेहसमो ।

एकत्रिंशत्[1] सहस्राणि षट्छतं विंशतिर्द्विकम्[2]। साधिकं च त्रिगव्यूतिं मूले परिधिरुच्यते ॥ २४

। ३१६२२ क्रो ३।

विष्कम्भा नवसहस्राणि चतुःशतयुतानि हि। महीतलेषु मेरूणामुक्ताः सर्वज्ञपुंगवैः ॥ २५

त्रिंशदेव सहस्राणि त्रिशतोनानि मानतः। पञ्चविंशतियुक्तानि परिधिर्धरणीतले ॥ २६

।२९६२५ [२९७२५]।

सहस्रार्धं योजनानि भुवो गत्वा च तिष्ठति। शतपञ्चकविस्तारं नन्दनं वनमेव च ॥ २७

।५००।

सहस्राणि नव त्रीणि शतान्यर्धशतं तथा। सनन्दनस्य विष्कम्भो मेरोर्भवति संख्यया ॥ २८

विशेषार्थ –– क्षुद्र मेरुओंके तलविस्तारके विषयमें दो मत हैं – (१) कितने ही आचार्योंका अभिमत है कि चारों क्षुद्र मेरुओंका विस्तार तल भागमें १०००० यो., पृथिवीपृष्ठपर ९४०० यो. और ऊपर शिखरपर १००० यो. मात्र है। उनका पृथिवीमें अवगाह १००० यो. और ऊपर ऊंचाई ८४००० यो. प्रमाण है। इस मतके अनुसार तलभागसे लेकर पृथिवीपृष्ठ तक एक एक योजन जानेपर $\frac{६}{१०}$ भागोंकी विस्तारमें हानि होती गई है। यथा – (१००००– ९४००) ÷ १००० = $\frac{६}{१०}$ यो.। इसके ऊपर शिखर तक उक्त विस्तारमें एक एक योजन जानेपर मात्र $\frac{१}{१०}$ यो. की हानि हुई है। वह इस प्रकारसे – (९४०० – १०००) ÷ ८४००० = $\frac{१}{१०}$ यो.। (२) दूसरे आचार्योंका अभिमत है कि इन क्षुद्र मेरुओंका विस्तार पृथिवीतलमें ९५०० यो. है। इसके ऊपर वह क्रमशः हीन होकर शिखरपर मात्र १००० यो. ही रह गया है। इस मतके अनुसार पृथिवीतलसे ऊपर एक एक योजन जाकर सर्वत्र समान रूपसे उसके विस्तारमें $\frac{१}{१०}$ यो. की हानि होती गई है। यथा– (९५००–१०००) ÷ (१०००+८४०००) = $\frac{१}{१०}$ यो.।

इन मेरु पर्वतोंकी परिधिका प्रमाण मूलमें इकतीस हजार छह सौ बाईस योजन और तीन कोससे कुछ अधिक कहा जाता है –– $\sqrt{१००००^२ \times १०}$ = ३१६२२$\frac{३}{४}$ योजनसे कुछ अधिक ॥ २४ ॥ सर्वज्ञ देवोंके द्वारा उन मेरु पर्वतोंका विस्तार पृथिवीतलपर नौ हजार चार सौ (९४००) योजन प्रमाण कहा गया है ॥२५॥ पृथिवीतलके ऊपर इन मेरु पर्वतोंकी परिधि तीन सौसे रहित और पच्चीससे सहित तीस हजार अर्थात् उनतीस हजार सात सौ पच्चीस योजन प्रमाण है ॥ २६ ॥ –

$\sqrt{९४००^२ \times १०}$ = २९७२५ यो। अधिकसे

पृथिवीसे इन मेरु पर्वतोंके ऊपर हजारके आधे अर्थात् पांच सौ (५००) योजन जाकर पांच सौ (५००) योजन विस्तृत नन्दन वन स्थित है ॥ २७ ॥ नन्दन वनसे सहित इन मेरुओंका विस्तार नौ हजार तीन सौ और सौके आधे अर्थात् पचास [९४००–($\frac{१}{१०}$×५००)=९३५०]

---

१ प त्रिशत। २ प द्विकम्।

सहस्राणि खलु त्रिंशत्सहस्रार्धार्धू[द्]ते[1] पुनः । परिधिः सप्तषष्ठिश्च मेरोर्नन्दनबाहिरः ॥ २९
अष्टावेव सहस्राणि पञ्चाशत् त्रिशतं पुनः । विष्कम्भो नन्दनस्यान्तो मेरोर्विद्भिरुदाहृतः ॥ ३०
षड्विंशतिसहस्राणि पञ्चाग्रं च चतुःशतम् । नन्दनाभ्यन्तरो मेरोः परिधिः परिकीर्तितः ॥ ३१
ततो गत्वा सहस्राणां पञ्चपञ्चाशतं पुनः । चार्धं पञ्चशतं व्यासं वनं सौमनसं भवेत् ॥ ३२
सौमनसे गिरर्व्यासस्त्रिशताष्टशतं[2] बहिः । परिधिर्द्वादशाभ्यस्तसहस्रं[3] साधिकषोडशम्[4] ॥३३
तस्याभ्यन्तरविष्कम्भः शून्यं शून्याष्टकद्विकम् । संख्याया परिधिश्चान्तश्चतुःपञ्चाष्टकाष्टकम् ॥ ३४

२८०० । ८८५४ ।

ततोऽष्टाविंशतिं गत्वा सहस्राणां च षट्कक-[5] । हीनपञ्चशतव्यासं पाण्डुकाख्यं वनं भवेत् ॥३५

२८००० । ४९४ ।

शतं त्रीणि सहस्राणि द्विषष्टयेकं च गोरुतम् । साधिकं परिधिश्चाग्रे मेरूणामिति कीर्तितः ॥ ३६
समरुन्द्रा नन्दनादूर्ध्वमयुतं क्षुल्लकमेरवः । ततः परं क्रमाद्धानिरेवं सौमनसादपि ॥ ३७

योजन प्रमाण है ॥ २८ ॥ नन्दन वनके समीपमें इन मेरुओंकी बाह्य परिधिका प्रमाण सहस्रार्ध अर्थात् पांच सौसे कम तीस हजार और सड़सठ (२९५६७) योजन है ॥ २९ ॥ विद्वानोंके द्वारा नन्दन वनके भीतर (नन्दन वनसे रहित) मेरुका विस्तार आठ हजार तीन सौ पचास (८३५०) योजन प्रमाण कहा गया है ९३५० − (५०० + ५००) = ८३५० यो. ॥३० ॥ नन्दन वनके भीतर मेरुकी अभ्यन्तर परिधिका प्रमाण छब्बीस हजार चार सौ पांच (२६४०५) योजन निर्दिष्ट किया गया है ॥ ३१ ॥

नन्दन वनसे पचपन हजार पांच सौ (५५५००) योजन ऊपर जाकर पांच सौ (५००) योजन विस्तृत सौमनस वन स्थित है ॥ ३२ ॥ सौमनस वनके समीपमें मेरु पर्वतका बाह्य विस्तार अड़तीस सौ (३८००) योजन और उसकी परिधि बारह हजार सोलह (१२०१६) योजनसे कुछ अधिक है ॥ ३३ ॥ उसका अभ्यन्तर विस्तार अंकक्रमसे शून्य, शून्य, आठ और दो अर्थात् दो हजार आठ सौ (२८००) योजन तथा उसकी अभ्यन्तर परिधि चार, पांच, आठ और आठ इन अंकोंके क्रमसे जो संख्या (८८५४) प्राप्त हो उतने योजन प्रमाण है ॥३४॥

सौमनस वनसे अट्ठाईस हजार (२८०००) योजन ऊपर जाकर छह (चूलिकाका अर्ध विस्तार) से कम पांच सौ (४९४) योजन विस्तृत पाण्डुक वन है ॥ ३५ ॥ शिखरपर मेरुओंकी परिधि तीन हजार एक सौ बासठ योजन और एक कोस (३१६२$\frac{1}{4}$यो.) से कुछ अधिक कही गई है ॥ ३६ ॥ क्षुद्र मेरु नन्दन वनसे ऊपर दस हजार (१००००) योजन तक समान विस्तारवाले तथा इसके ऊपर क्रमशः हीन विस्तारवाले हैं। विस्तारका यह क्रम सौमनस वनके ऊपर भी जानना चाहिये ॥ ३७ ॥

---

१ व °सहस्रार्धधृते । २ ब त्रिसहस्राष्टशतं । ३ आ प परिधिद्वादशा° । ४ प षोडशः । ५ आ प षट्ककं ।

भद्रसालवनं भौ[भू]मौ मेखलायां च नन्दनम् । ततः सौमनसं चैव शिखरे पाण्डुकं वनम् ॥ ३८
शिला[1] पुष्करिणी कूटं भवनान्यपि चूलिका । समानि सर्वमेरूणां चैत्यानीति विनिश्चितम् ॥ ३९
एकं षण्णवकं शून्यमेकमेकं कृतिद्व[द्वि]योः । स्थानकैः परिधिर्बाह्यो भवेद्धातकिषण्डके ॥ ४०

। ४११०९६१ ।

धातकीखण्डमावृत्य स्थितः कालोदकार्णवः । पुरतः पुष्करद्वीपस्तस्मात्तत्परिवारकः ॥ ४१
पञ्च शून्यं च षट् शून्यं सप्तैकं नव च क्रमात् । कालोदकसमुद्रस्य बाह्यः परिधिरुच्यते ॥ ४२

। ९१७०६०५ ।

कालोदकसमुद्राद्याः समाग्रच्छिन्नतीरकाः । सहस्रमवगाढाश्च वेदिकाद्वयसंवृताः ॥ ४३
कालोदकसमुद्रस्य पूर्वे झषमुखा नराः । दक्षिणे हयकर्णाः स्युः पश्चिमे पक्षिवक्त्रकाः ॥ ४४
उत्तरे गजकर्णाश्च क्रोडकर्णा विदिग्गताः । इन्द्रैशानान्तराद्यासु अष्टास्वन्तरदिक्षु च ॥ ४५
गवोष्ट्रकर्णा मार्जारबिडालास्या भवन्ति च । कर्णप्रावरणाश्छागमार्जारोतुमुखाः क्रमात् ॥ ४६
विजयार्धाग्रतः[2] शिशुमारास्या मकरास्यकाः । कालोदकसमुद्रस्य पूर्वापरयोः स्थिताः ॥ ४७

उपर्युक्त चार वनोंमें भद्रशाल वन भूमिपर, नन्दन तथा सौमनस वन मेखलाके ऊपर, तथा पाण्डुक वन शिखरपर अवस्थित है ॥ ३८ ॥ सब मेरुओंकी शिलायें, वापिकायें, कूट, भवन, चूलिका और जिनभवन; ये सब विस्तारादिमें निश्चयसे समान हैं ॥ ३९ ॥

धातकीखण्ड द्वीपकी बाह्य परिधि एक, छह, नौ, शून्य, एक, एक तथा दोका वर्ग (४) इन अंकोंके अनुसार इकतालीस लाख दस हजार नौ सौ इकसठ (४११०९६१) योजन प्रमाण है ॥ ४० ॥

धातकीखण्ड द्वीपको घेरकर कालोदक समुद्र स्थित है । उसके आगे उसको वेष्टित करनेवाला पुष्करद्वीप अवस्थित है ॥ ४१ ॥ कालोदक समुद्रकी बाह्य परिधिका प्रमाण अंकक्रमसे पांच, शून्य, छह, शून्य, सात, एक और नौ (९१७०६०५) अर्थात् इक्यानवै लाख सत्तर हजार छह सौ पांच योजन प्रमाण कहा जाता है ॥ ४२ ॥ कालोदक समुद्रको आदि लेकर आगेके सब समुद्र टांकीसे उकेरे गयेके समान तीरवाले, हजार योजन गहरे, और दो वेदिकाओंसे वेष्टित हैं ॥ ४३ ॥

कालोदक समुद्रके पूर्वमें रहनेवाले कुमानुष मत्स्यमुख, दक्षिणमें अश्वकर्ण, पश्चिममें पक्षिमुख और उत्तरमें गजकर्ण हैं । विदिशाओंमें स्थित वे कुमानुष शूकरकर्ण हैं । पूर्व और ईशानके अन्तर्भाग आदि रूप आठ अन्तर्दिशाओंमें स्थित उक्त कुमानुष आकारमें क्रमशः इस प्रकार हैं — गोकर्ण, उष्ट्रकर्ण, मार्जारमुख, विडाल (मार्जार) मुख, कर्णप्रावरण, छाग (बकरा) मुख, मार्जारमुख और मार्जारमुख ॥४४–४६॥ कालोदक समुद्रके पूर्वापर भागोंमें स्थित विजयार्ध पर्वतके आगे स्थित अन्तरद्वीपोंमें रहनेवाले कुमानुष शिशुमारमुख व मकरमुख हैं ॥ ४७ ॥

---

१ ब शिलाः । २ । आ प ॰र्धागतः ।

वृकास्या व्याघ्रवक्त्राश्च तथा हिमवदग्रतः । ऋक्षास्याश्च शृगालास्याः स्थिताः शृङ्गिनगाग्रतः ॥
द्वीपिकास्याश्च भृङ्गारमुखा रूप्यनगाग्रतः । बाह्यतोऽभ्यन्तरायाश्च जगत्या अन्तराश्रिताः ॥ ४९
दिगन्तरदिशाद्वीपाः सार्धपञ्चशतं तटात् । सौकरा षट्छतानीत्वा इतरे सार्धषट्छतम् ॥ ५०
५५० । ६०० । [६५०]
दिग्गता द्विशतव्यासाः शतव्यासा विदिग्गताः । शेषाः पञ्चशतं व्यस्ता द्वीपाः कालोदके स्थिताः॥५१
वर्णाहारगृहायुर्भिः समा गत्या च लावणैः । द्वीपानामवगाहस्तु जलान्तः स्यात्सहस्रकम् ॥ ५२
उक्तं च जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ [११-५४]—
कोसेक्कसमुत्तुंगा पलिदोवमआउगा समुद्दिट्ठा । आमलयपमाहारा चउत्थभत्तेण पारन्ति ॥ ३
चतुर्विंशतिरन्तस्थास्तावन्तश्च बहिःस्थिताः । एते तु लवणोदस्थैः सह षण्णवतिः[1] स्मृताः ॥ ५३
तृतीयः पुष्करद्वीपः पुष्कराख्यद्रुमध्वजः[2] । पृथुः शतसहस्राणि षोडशेति निर्दशितः ॥ ५४
। १६०००००।
चत्वारिंशच्च पञ्चापि नियुतानि प्रमाणतः । मानुषक्षेत्रविस्तारः सार्धद्वीपद्वयं च तत् ॥ ५५
। ४५०००००।

हिमवान् पर्वतके आगे वृकमुख और व्याघ्रमुख तथा शृंगी (शिखरी) पर्वतके आगे ऋक्ष (रीछ)-मुख और शृगालमुख कुमानुष स्थित हैं ॥ ४८ ॥ विजयार्ध पर्वतके आगे बाह्य और अभ्यन्तर जगतीके अन्तरालमें द्वीपिकमुख और भृंगारमुख कुमानुष स्थित हैं ॥ ४९ ॥

दिशागत और अन्तरदिशागत द्वीप समुद्रतटसे पांच सौ पचास (५५०) योजन, सौकर द्वीप छह सौ (६००) योजन और इतर (विदिशागत) द्वीप साढ़े छह सौ (६५०) योजन जाकर स्थित हैं ॥ ५० ॥ कालोदक समुद्रमें स्थित इन द्वीपोंमें दिशागत दो सौ (२००) योजन, विदिशागत सौ (१००) योजन और शेष द्वीप पांच सौ (५००) योजन विस्तृत हैं ॥ ५१ ॥ इन द्वीपोंमें रहनेवाले कुमानुष वर्ण, आहार, गृह, आयु और गतिसे भी लवण समुद्रमें स्थित द्वीपोंमें रहनेवाले कुमानुषोंके समान हैं । उन द्वीपोंका अवगाह जलके भीतर एक हजार योजन मात्र है ॥ ५२ ॥ जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिमें कहा भी है —

अन्तरद्वीपोंमें रहनेवाले वे कुमानुष एक कोस ऊंचे, पल्योपम प्रमाण आयुवाले, तथा आंवलेके बरावर आहारके ग्राहक होकर चतुर्थभक्त (एक दिनके अन्तर)से भोजन करते हैं ॥३॥

कालोदक समुद्रके भीतर चौबीस (२४) द्वीप अभ्यन्तर भागमें स्थित हैं तथा उतने (२४) ही उसके बाह्य भागमें भी स्थित हैं। लवणोद समुद्रमें स्थित अन्तरद्वीपोंके साथ ये सब द्वीप छ्यानवै (९६) माने गये हैं॥ ५३ ॥

पुष्कर नामक वृक्षसे चिह्नित तीसरा पुष्करद्वीप है । इसका विस्तार सोलह लाख (१६०००००) योजन प्रमाण बतलाया गया है ॥ ५४ ॥ मनुष्यलोकका विस्तार चालीस और पांच अर्थात् पैंतालीस लाख (४५०००००) योजन प्रमाण है । वह मनुष्यलोक अढ़ाई द्वीपस्वरूप

---

१ आ प षण्णवति । २ आ प ध्रुमध्वजः ।

सप्त द्विकं चतुष्कं च शून्यं शून्यं च सप्तकम् । एकमेकं च मध्यः स्यात्परिधिः पुष्करार्धके ॥ ५६
। ११७००४२७ ।

पुष्करार्धस्य[1] बाह्ये च परिधिर्नवचतुष्टयम् । द्विकं शून्यं त्रिकं द्वे च चतुष्कं चैकमिष्यते ॥ ५७
। १४२३०२४९ ।

चतुःसहस्रं द्विशतं दशकं दश चांशकाः । एकान्नविंशतेर्व्यासः पुष्करे हिमवद्गिरेः ॥ ५८
४२१० । $\frac{१०}{१९}$ ।

चतुर्गुणा च वृद्धिश्चा[2] निषधाद्धानिश्च नीलतः । द्वीपार्धव्यासदीर्घाश्च शैलाः शेषश्च पूर्ववत् ॥५९

चत्वार्यष्टौ च षट्कं च पञ्चकं पञ्चकं त्रिकम् । पर्वतैरवरुद्धं च क्षेत्रं स्यात्पुष्करार्धके ॥ ६०
। ३५५६८४ ।

आदिमध्यान्तपरिधिष्वद्रिरुद्धक्षितिं पुनः । शोधयित्वावशेषश्च सर्वभूव्याससेलनम् ॥ ६१

अभ्यन्तरपरिधौ पर्वतरहितक्षेत्रं ८८१४९२१ । मध्यम ११३४४७४० । बाह्य १३८७४५६५ ।

भरताभ्यन्तरविष्कम्भो नवसप्तेष्वेकवार्धयः । त्रिसप्ततिशतं भागा द्वादश द्विशतस्य च ॥ ६२
। ४१५७९ । $\frac{१७३}{२१२}$

है ॥ ५५ ॥ सात, दो, चार, शून्य, शून्य, सात, एक और एक; इतने अंकोंके क्रमसे जो संख्या (११७००४२७) हो उतने योजन प्रमाण पुष्करार्ध द्वीपकी मध्य परिधि है ॥ ५६ ॥ अंकक्रमसे नौ, चार, दो, शून्य, तीन, दो, चार और एक (१४२३०२४९) इतने योजन प्रमाण पुष्करार्ध द्वीपकी बाह्य परिधि मानी जाती है ॥ ५७ ॥

पुष्करार्ध द्वीपमें हिमवान् पर्वतका विस्तार चार हजार दो सौ दस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें दस भाग (४२१०$\frac{१०}{१९}$ यो.) प्रमाण है ॥ ५८ ॥ आगेके पर्वत निषध पर्वत पर्यंत उत्तरोत्तर चौगुणे विस्तारवाले हैं। फिर नील पर्वतसे आगे इसी क्रमसे उनके विस्तारमें हानि होती गई है। इन पर्वतोंकी लंबाई पुष्करार्ध द्वीपके विस्तार (८ लाख यो.) के बराबर है। शेष वर्णन पहिलेके समान है ॥ ५९ ॥

अंकक्रमसे चार, आठ, छह, पांच, पांच और तीन (३५५६८४) इतने योजन प्रमाण क्षेत्र पुष्करार्ध द्वीपमें पर्वतोंसे अवरुद्ध है ॥ ६० ॥ पुष्करार्ध द्वीपकी आदि, मध्य और अन्त परिधियोंके प्रमाणमेंसे पर्वतरुद्ध क्षेत्रके कम कर देनेपर शेष सब क्षेत्रोंका सम्मिलित विस्तार होता है ॥ ६१ ॥ अभ्यन्तर परिधिमें पर्वतरहित क्षेत्र ८८१४९२१ यो., मध्यम परिधिमें ११३४४७४० यो. और बाह्य परिधिमें वह १३८७४५६५ यो. है। भरतक्षेत्रका अभ्यन्तर विस्तार नौ, सात, इषु (पांच), एक और समुद्र अर्थात् चार इन अंकोंके क्रमसे जो संख्या उपलब्ध हो उतने योजन और एक योजनके दो सौ बारह भागोंमें एक सौ तिहत्तर भाग (४१५७९$\frac{१७३}{२१२}$ यो.)

---

१ आ प पुष्कपुष्क°। २ प वृद्धिश्च।

मध्यव्यासो द्विकं चैकं पञ्चकं त्रीणि पञ्चकम् । नवनवशतं[1] भागा द्वादश द्विशतस्य च ॥ ६३

। ५३५१२ । $\frac{१९९}{२१२}$ ।

षट् चतुष्कं चतुष्कं च पञ्चकं षट्कमंशकाः । त्रयोदशबहिर्व्यासो द्वादश द्विशतस्य च ॥ ६४

६५४४६ । $\frac{१३}{२१२}$ ।

त्रिस्थानभरतव्यासाद् वृद्धिर्हैमवतादिषु । चतुर्गुणा विदेहान्तं ततो हानिरनुक्रमात् ॥ ६५

है १६६३१९ । $\frac{५६}{२१२}$ । २१४०५१ । $\frac{१६०}{२१२}$ । २६१७८४ । $\frac{५२}{२१२}$ । ह ६६५२७७ । $\frac{१२}{२१२}$
८५६२०७ $\frac{४}{२१२}$ । १०४७१३६ । $\frac{२०८}{२१२}$ । वि २६६११०८ । $\frac{४८}{२१२}$ । ३४२४८२८ । $\frac{१६}{२१२}$ ।
४१८८५४७ । $\frac{२१६}{२१२}$ (?) ।

पुष्करद्वीपमध्यस्थः प्राकारपरिमण्डलः[2] । मानुषोत्तरनामा तु सौवर्णः पर्वतोत्तमः ॥ ६६

[3]शतं सप्तदशाभ्यस्तमेकविंशमथोच्छ्रितः । अन्तश्छिन्नतटो बाह्यं पार्श्वं तस्य क्रमोन्नतम् ॥ ६७

। १७२१ ।

प्रमाण है – पुष्करार्धकी अभ्यन्तर परिधि ९१७०६०५, पर्वतरुद्ध क्षेत्र ३५५६८४; (९१७०६०५ – ३५५६८४ ÷ २१२ × १) = ४१५७९ $\frac{६३}{२१२}$ यो. ॥ ६२ ॥ उसका मध्य विस्तार अंकक्रमसे दो, एक, पांच, तीन और पांच (५३५१२) इतने योजन और एक योजनके दो सौ बारह भागोंमें नौ, नौ और सौ अर्थात् एक सौ निन्यानवै भाग प्रमाण है— पु. द्वी. मध्य परिधि ११७००४२७ यो.; (११७००४२७ – ३५५६८४) ÷ (२१२ × १) = ५३५१२ $\frac{१९९}{२१२}$ यो. ॥ ६३ ॥ उसका बाह्य विस्तार अंक क्रमसे छह, चार, चार, पांच और छह (६५४४६) इतने योजन और एक योजनके दो सौ बारह भागोंमेंसे तेरह भाग प्रमाण है– पु. द्वी. बाह्य परिधि १४२३०२४९; (१४२३०२४९ – ३५५६८४) ÷ २१२ × १ = ६५४४६ $\frac{१३}{२१२}$ यो. ॥ ६४ ॥

उपर्युक्त प्रकारसे जो भरतक्षेत्रका तीन स्थानोंमें विस्तार बतलाया गया है उससे विदेह पर्यंत हैमवत आदि क्षेत्रोंमें उत्तरोत्तर चौगुणी वृद्धि हुई है । विदेहसे आगेके क्षेत्रोंके विस्तारमें उसी क्रमसे हानि होती गई है ॥ ६५ ॥ हैमवत क्षेत्रका अ. विस्तार १६६३१९ $\frac{५६}{२१२}$ म. वि. २१४०५१ $\frac{१६०}{२१२}$, बा. वि. २६१७८४ $\frac{५२}{२१२}$ । हरिवर्ष अ. वि. ६६५२७७ $\frac{१२}{२१२}$, म. वि. ८५६२०७ $\frac{४}{२१२}$, बा. वि. १०४७१३६ $\frac{२०८}{२१२}$ । विदेह अ. वि. २६६११०८ $\frac{४८}{२१२}$, म. वि. ३४२४८२८ $\frac{१६}{२१२}$, बा. वि. ४१८८५४७ $\frac{१९६}{२१२}$ ।

पुष्कर द्वीपके बीचमें जो मानुषोत्तर नामक सुवर्णमय उत्तम पर्वत स्थित है वह कोटके घेरेके समान है ॥ ६६ ॥ वह पर्वत सत्तरह सौ इक्कीस (१७२१) योजन ऊंचा है । उसका अभ्यन्तर तट टांकीसे छेदे गयेके समान और बाह्य पार्श्वभाग क्रमसे ऊंचा है ॥ ६७ ॥ इस

---

१ ब नवनवतिशतं । २ प मण्डले । ३ प 'शतं सप्तदशा' इत्यादिश्लोको नास्ति ।

मूले सहस्रं द्वाविंशं चतुर्विंशं चतुःशतम् । अग्रे मध्ये च विस्तारस्त[द्]द्वयार्धमिति[1] स्मृतः ॥ ६८

। ७२३ ।

त्रीण्येकं सप्तषट्त्रीणि द्वे चत्वार्येककं भवेत् । साधिकं च परिक्षेपो मानुषोत्तरपर्वते ॥ ६९

। १४२३६७१३ ।

सहस्रं त्रिशतं त्रिंशद्दण्डाः स्युर्हस्त एककः । दशाङ्गुलानि पञ्चैव जवाश्चाधिकमानकम् ॥ ७०

। ह १ अं १० ज ५ ।

अर्धयोजनमुद्विद्धा पादगोरुतविस्तृता । वेदिका शिखरे तस्य चतुर्दशगुहश्च सः ॥ ७१

। दं २५०० ।

चतुर्दश महानद्यो बाह्या गत्वार्धपुष्करे । गुहासु पुष्करोदं च गताः कालोदकं पराः ॥ ७२

त्रीणि त्रीणि तु कूटानि प्रत्येकं दिक्चतुष्टये । पूर्वयोर्विदिशोश्चैव तान्यष्टादश पर्वते ॥ ७३

सर्वेषु तेषु कूटेषु गरुडेन्द्रपुराणि[2] तु । गिरिकन्याकुमाराश्च वसन्ति गरुडान्वयाः ॥ ७४

षडग्नीशानकूटेषु सुपर्णकुलसंभवाः । कुमाराः शेषकूटेषु दिक्कुमार्यो वसन्ति च ॥ ७५

तस्य दिक्ष्वपि चत्वारि यर्हदायतनानि[3] हि । नैषधैः सममानानि इष्वाकारगिरिष्वपि ॥ ७६

पर्वतका विस्तार मूलमें एक हजार बाईस (१०२२) योजन, ऊपर शिखरपर चार सौ चौबीस (४२४) योजन और मध्यमें उन दोनोंके अर्धभाग अर्थात् सात सौ तेईस (१०२२+४२४ = ७२३) योजन प्रमाण माना गया है ॥ ६८ ॥ मानुषोत्तर पर्वतकी परिधि अंकक्रमसे तीन, एक, सात, छह, तीन, दो, चार और एक (१४२३६७१३) इतने योजनसे कुछ अधिक है ॥ ६९ ॥ परिधिकी इस अधिकताका प्रमाण एक हजार तीन सौ तीस धनुष, एक हाथ, दस अंगुल और पांच जौ है– दण्ड १३३०, हाथ १, अंगुल १०, जौ ५ ॥ ७० ॥ इस पर्वतके शिखर-पर जो वेदिका स्थित है वह आधा योजन ऊंची और पाव कोससे सहित एक कोस (दण्ड २५००) विस्तृत है । यह पर्वत चौदह गुफाओंसे संयुक्त है ॥ ७१ ॥ पुष्करार्ध द्वीपमें स्थित बाह्य चौदह नदियाँ इन गुफाओंमेंसे जाकर पुष्करोद समुद्रको प्राप्त हुई हैं और शेष चौदह नदियाँ कालोदक समुद्रको प्राप्त हुई हैं ॥ ७२ ॥

इस पर्वतके ऊपर चारों दिशाओंमेंसे प्रत्येक दिशामें तीन तीन तथा पूर्व दो विदिशाओं (ईशान व आग्नेय) में भी तीन तीन कूट स्थित हैं । इस प्रकार उसके ऊपर सब अठारह (१८) कूट स्थित हैं ॥ ७३ ॥ उन सब कूटोंके ऊपर गरुडेन्द्रके नगर हैं जिनमें गरुड-वंशीय गिरिकन्यायें और गिरिकुमार रहते हैं ॥७४॥ उनमेंसे अग्नि और ईशान कोणके कूटोंपर सुपर्ण (गरुड) कुलमें उत्पन्न हुए कुमार (सुपर्णकुमार) तथा शेष कूटोंके ऊपर दिक्कुमारियां रहती हैं ॥ ७५ ॥ उक्त पर्वतकी चारों दिशाओंमें चार अर्हदायतन (जिनभवन) स्थित हैं जो

---

१ ब तद्वयोर्धमिति । २ प गरुणेन्द्र° । ३ आ प चत्वारिर्ह्यदा° ।

विविधरत्नमयानतिभासुरान्
सुरसहस्रनुतार्चितरक्षितान् ।
जिनगृहान् द्विकहीनचतुःशता-
नभिनमामि[1] नरक्षितिसंश्रितान् ॥ ७७

इति लोकविभागे मानुषक्षेत्रविभागो नाम तृतीयं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ३ ॥

विस्तारादिमें निषध पर्वतके ऊपर स्थित जिनभवनोंके समान हैं । इसी प्रकारके जिनभवन इष्वाकार पर्वतोंके ऊपर भी स्थित हैं ॥ ७६ ॥

मध्य लोकमें जो अनेक प्रकारके रत्नमय जिनभवन स्थित हैं वे अतिशय देदीप्यमान होते हुए हजारों देवोंके द्वारा नमस्कृत, पूजित एवं रक्षित हैं । उन सबकी संख्या दो कम चार सौ (३९८) है । उन सबको मैं नमस्कार करता हूं ॥ ७७ ॥

इस प्रकार लोकविभागमें मानुषक्षेत्र विभाग नामक तृतीय प्रकरण समाप्त हुआ ॥३॥

---

१ ब शतारभिनमामि

[चतुर्थो विभागः]

जम्बूद्वीपः समुद्रश्च [1]लावणस्तस्य बाहिरः । द्वीपश्च धातकीखण्डः[2] कालोदः पुष्करस्तथा ॥ १
पुष्करं परिवृत्यास्थात्[3] पुष्करोदस्तु सागरः । वारुणीवरनामा च द्वीपस्तन्नामसागरः ॥ २
ततः क्षीरवरो द्वीपः सागरश्च तदाह्वयः । ततो घृतवरो द्वीपो घृतोदश्चापि सागरः ॥ ३
ततः क्षौद्रवरो द्वीपस्तन्नामैव च सागरः । नन्दीश्वरस्ततो द्वीपः सागरश्च तदाह्वयः[4] ॥ ४
अरुणो नामतो द्वीपोऽरुणाभासवरश्च सः । कुण्डलो नामतो द्वीपस्ततः शङ्खवरोऽपि च ॥ ५
रुचकोऽतः परो द्वीपो भुजगोऽपि च नामतः । द्वीपः कुशवरो नाम्ना ततः क्रौञ्चवरोऽपि च ॥ ६
जम्बूद्वीपादयो द्वीपा नामतः षोडशोदिताः । द्वीपनामान एव स्युः पुष्करोदादिसागराः[5] ॥ ७
असंख्येयाँस्ततोऽतीत्य द्वीपो नाम्ना मनःशिलः । हरितालश्च सिन्दूरः[6] श्यामकोऽञ्जन एव च ॥८
द्वीपो हिङ्गुलिकाह्वश्च तस्माद् रूप्यवरः परः । सुवर्णवर इत्यन्यस्ततो वज्रवरोऽपि च ॥ ९
वैडूर्यवरसंज्ञश्च ततो नागवरोऽपि च । ततो भूतवरो[7] द्वीपस्ततो यक्षवरः परः ॥ १०
ततो देववरो द्वीपस्ततोऽहीन्द्रवरः परः । स्वयंभूरमणश्चान्त्यः सागरास्तत्सनामकाः[8] ॥११
षोडशैते बहिर्द्वीपा भाषिता नामभिर्जिनैः । असंख्येयाश्च मध्यस्थाः शुभाख्या द्वीपसागराः ॥ १२

सब द्वीपोंके मध्यमें जंबूद्वीप है और उसके बाह्य भागमें लवण समुद्र है । उसके आगे धातकीखण्ड द्वीप व कालोदक समुद्र है । तत्पश्चात् पुष्करद्वीप और उसके आगे पुष्करद्वीपको घेरकर पुष्करोद समुद्र स्थित है। इसके आगे वारुणीवर द्वीप और उसीके नामका समुद्र, क्षीरवर द्वीप और उसीके नामका समुद्र, उसके आगे घृतवर द्वीप, घृतवर समुद्र, क्षौद्रवर द्वीप, क्षौद्रवर समुद्र, नन्दीश्वर द्वीप, नन्दीश्वर समुद्र, इसके आगे अपने [अपने नामवाले समुद्रोंसे संयुक्त] अरुण द्वीप, अरुणाभासवर द्वीप, कुण्डल द्वीप, शंखवर द्वीप, रुचक द्वीप, भुजग द्वीप, कुशवर द्वीप और क्रौंचवर द्वीप; इस प्रकार जंबूद्वीप आदि नामोंसे प्रसिद्ध ये सोलह (१६) द्वीप कहे गये हैं। पुष्करोद समुद्रको आदि लेकर आगेके सब समुद्र अपने अपने द्वीप जैसे नामवाले हैं ॥१-७॥

इसके आगे असंख्यात द्वीप-समुद्रोंको लांघकर मनःशिल नामक द्वीप स्थित है । उसके आगे क्रमशः हरिताल, सिन्दूर, श्यामक, अंजन, हिंगुलिक, रूप्यवर, सुवर्णवर, वज्रवर, वैडूर्यवर, नागवर, भूतवर, यक्षवर, देववर, अहीन्द्रवर और अन्तिम स्वयम्भूरमण द्वीप; इस प्रकार ये सोलह (१६) द्वीप अपने अपने नामवाले सोलह समुद्रोंसे संयुक्त होते हुए बाह्य भागमें स्थित हैं। जिन भगवान्ने इन्हें इन नामोंसे कहा है । क्रौंचवर समुद्र और मनःशिल द्वीपके मध्यमें स्थित जो असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं वे भी उत्तम नामोंवाले हैं ॥ ८-१२ ॥

---

१ प लवणा° । २ आ ब षण्डः । ३ प वृत्यास्यात् । ४ आ ब तदाह्वकः । ५ प सागरः । ६ आ प सिंधूरः । ७ आ प °वरो । ८ प °स्ततनामकाः ।

वारुणीलवणस्वादौ घृतक्षीररसावपि । असामान्यरसा एते कालान्त्यौ केवलोदकौ ॥ १३
मधुमिश्रजलास्वादस्तृतीयः पुष्करोदकः । शेषा इक्षुरसास्वादा असंख्येया[1] महार्णवाः ॥ १४

उक्तं च त्रिलोकसारे [३१९]--

लवणं वारुणितियमिदि कालदुगंतिमसयंभुरमणमिदि । पत्तेयजलसुवादा अवसेसा होंति उच्छुरसा ॥
लवणाब्धौ[2] च कालोदे स्वयंभूरमणोदधौ । जीवा जलचराः सन्ति न च शेषेषु वार्धिषु ॥ १५
[3]व्यतीतद्वीपवार्धिभ्यो विस्तारे चक्रवालके । एकेन नियुतेनैको द्वीपोऽब्धिर्वातिरिच्यते ॥ १६
मन्दरार्धाद् गता[4] रज्जुरर्धा प्राप्तान्त्यवारिधेः । अन्तं तदर्धमस्यान्तस्तथा द्वीपेऽर्णवेऽपरे ॥ १७
आद्यार्धितार्धरज्जुश्च स्वयंभूरमणोदधेः । तटात्परं सहस्राणां गत्वाऽस्थात्पञ्चसप्ततिम् ॥ १८

। ७५००० ।

वारुणीवर, लवणोद, घृतवर और क्षीरवर ये चार समुद्र स्वादमें असामान्य रस अर्थात् अपने अपने नामोंके अनुसार रसवाले हैं। कालोदक समुद्र और अन्तिम स्वयम्भूरमण समुद्र ये दो समुद्र केवल जलके स्वादवाले हैं। तीसरा पुष्करोदक समुद्र मधुमिश्रित जलके स्वादसे संयुक्त, तथा शेष असंख्यात समुद्र इक्षुरसके समान स्वादवाले हैं ॥ १३-१४ ॥ त्रिलोकसारमें भी कहा है —

लवणसमुद्र और वारुणीत्रिक अर्थात् वारुणीवर, क्षीरवर और घृतवर ये तीन समुद्र प्रत्येकजलस्वाद अर्थात् अपने अपने नामके अनुसार स्वादवाले हैं। कालोदक और पुष्करवर ये दो तथा अन्तिम स्वयम्भूरमण ये तीन समुद्र सामान्य जलके स्वादसे संयुक्त हैं। शेष सब समुद्रोंका स्वाद इक्षुरसके समान है ॥ १ ॥

लवणसमुद्र, कालोदक और स्वयम्भूरमण समुद्रमें जलचर जीव हैं। शेष समुद्रोंमें जलचर जीव नहीं हैं ॥ १५ ॥ मण्डलाकार विस्तारमें विगत द्वीप-समुद्रोंके विस्तारकी अपेक्षा आगेके द्वीप अथवा समुद्रका विस्तार एक लाख योजनसे अधिक होता है ॥ १६ ॥

उदाहरण-- जैसे जंबूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड और कालोदक समुद्र इन विगत द्वीप-समुद्रोंका विस्तार १५ लाख योजन प्रमाण (१+२+४+८=१५ लाख) है, अत एव आगेके पुष्कर द्वीपका विस्तार इससे एक लाख योजनसे अधिक होकर सोलह (१६) लाख योजन प्रमाण होगा।

मन्दर पर्वतके अर्ध (मध्य) भागसे गई हुई अर्ध राजु अन्तिम (स्वयम्भूरमण) समुद्रके अन्त भागको प्राप्त हुई है। उसका (अर्ध राजुका) आधा भाग इसी समुद्रके भीतर [अभ्यन्तर तटसे ७५००० यो. आगे जाकर] प्राप्त होता है। यही क्रम पिछले द्वीप और समुद्रमें समझना चाहिये ॥१७॥ प्रथम वार अर्धित अर्ध राजुका आधा भाग स्वयम्भूरमण समुद्रके अभ्यन्तर तटसे

१ प असंख्येयः । २ आ प लवणाब्दौ । ३ प व्यतीत्य° । ४ प मन्दार्धगता ।

स्वद्विभागयुतात्स्थात्सहस्राणां पञ्चसप्ततिम् । खण्डिता सा तटाद् गत्वा द्वीपस्यापरस्य च ॥१९

। ११२५०० ।

स्वद्व्यंशपादसंयुक्तं पञ्चसप्ततिसहस्रकम् । पश्चिमाब्धेस्तटाद् गत्वा खण्डिता सा पुनः स्थिता ॥

। १३१२५० ।

अभ्यन्तरतटादेवमात्माधाङ्घ्र्यष्टमादिभिः । युतां तावत्सहस्राणां गत्वास्थात् पञ्चसप्ततिम् ॥२१

। १४०६२५ । इत्यादि ।

सूच्यङ्गुलस्य संख्यातरूपयुक्छेदमानकाः । यावद् द्वीपार्णवा यन्ति ततोऽस्थात् सार्धलक्षकम् ॥२२

। १५०००० ।

पतितौ लवणे च्छेदौ[1] द्वौ[2] चैको भरतान्त्यके । निषधे चैकच्छेदो[3] द्वौ छेदौ च कुरुष्वपि ॥ २३

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

आगे पचत्तर हजार (७५०००) योजन जाकर स्थित हुआ है ॥१८॥ उसका भी अर्ध भाग स्वयम्भूरमण द्वीपके अभ्यन्तर तट (वेदिका) से आगे अपने द्वितीय भागसे सहित पचत्तर हजार अर्थात् एक लाख साढ़े बारह हजार ($७५००० + \frac{७५०००}{२} = ११२५००$) योजन जाकर स्थित हुआ है॥१९॥ उसका अर्ध भाग पिछले समुद्रके अभ्यन्तर तटसे आगे अपने द्वितीय भाग और चतुर्थ भागसे सहित पचत्तर हजार अर्थात् एक लाख इकतीस हजार दो सौ पचास ($७५००० + \frac{७५०००}{२} + \frac{७५०००}{४} = १३१२५०$) योजन जाकर स्थित हुआ है ॥ २० ॥ इसी प्रकारसे उत्तरोत्तर अर्धित राजुका अर्ध भाग यथाक्रमसे पिछले द्वीप-समुद्रोंकी अभ्यन्तर वेदिकासे आगे अपने अर्ध (द्वितीय), पाद (चतुर्थ) और आठवें आदि भागोंसे सहित पचत्तर हजार (यथा – $७५००० + \frac{७५०००}{२} + \frac{७५०००}{४} + \frac{७५०००}{८} = १४०६२५$ इत्यादि) योजन जाकर स्थित हुआ है ॥ २१ ॥ इस प्रकार संख्यात अंकोंसे संयुक्त सूच्यंगुलके अर्धच्छेद प्रमाण द्वीप-समुद्रों तक उपर्युक्त क्रमसे राजुके अर्धच्छेद द्वीप-समुद्रमें पड़ते जाते हैं। तत्पश्चात् लवणसमुद्र तक शेष सब द्वीप-समुद्रोंमें वे डेढ़ लाख (जैसे – ६४ लाख, ३२ लाख, १६ लाख और ८ लाख) के क्रमसे गिरते हैं ॥ २२ ॥ लवण समुद्रमें दो अर्धच्छेद, भरतक्षेत्रके अन्तमें एक, निषध पर्वतपर एक, और दो अर्धच्छेद कुरुक्षेत्रमें भी पड़े हैं (?) ॥ २३ ॥

विशेषार्थ– वृत्ताकार समस्त मध्यलोकका विस्तार एक राजु प्रमाण माना गया है। वह मेरु पर्वतके मध्य भागसे स्वयम्भूरमण समुद्र तक आधा राजु एक ओर तथा उसी मेरुके मध्य भागसे स्वयम्भूरमण समुद्र तक आधा राजु दूसरी ओर है। इस अर्ध राजुके यदि उत्तरोत्तर अर्धच्छेद किये जावें तो उनके पड़नेका क्रम इस प्रकार होगा– राजुको आधा करनेपर उसका वह अर्ध भाग मेरुके मध्य भागसे लेकर अन्तिम स्वयम्भूरमण समुद्रके अन्तमें जाकर पड़ता है। फिर उसका (अर्ध राजुका) आधा भाग इसी स्वयम्भूरमण समुद्रकी अभ्यन्तर वेदिकासे आगे ७५००० योजन जाकर इसी समुद्रके भीतर पड़ता है। इसका कारण यह है कि इस वृत्ताकार मध्य लोकके विस्तारमें पिछले समस्त द्वीप-समुद्रोंके विस्तारकी अपेक्षा आगेके द्वीप

१ आ प लवणे छेदी। २ ब 'द्वौ' नास्ति। ३ प छेदी।
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

द्वीपस्य प्रथमस्यास्य व्यन्तरोऽनादरः प्रभुः । सुस्थिरो लवणस्यापि प्रभासप्रियदर्शनौ ॥ २४
कालश्चैव महाकालः कालोदे दक्षिणोत्तरौ । पद्मश्च पुण्डरीकश्च पुष्कराधिपती सुरौ ॥ २५
चक्षुष्मांश्च सुचक्षुश्च मानुषोत्तरपर्वते । द्वौ द्वावेवं सुरौ वेद्यौ द्वीपे तत्सागरेऽपि च ॥ २६
श्रीप्रभश्रीधरौ देवौ वरुणो वरुणप्रभः । मध्यश्च मध्यमश्चोभौ वारुणीवरसागरे ॥ २७

अथवा समुद्रका विस्तार एक लाख योजनसे अधिक होता गया है (देखिये पीछे श्लोक १६)। उदाहरणके लिये यदि हम कल्पना करें कि अन्तिम स्वयम्भूरमण समुद्रका विस्तार ३२ लाख योजन है तो फिर समस्त द्वीप-समुद्रोंका विस्तार निम्न प्रकार होगा – ५०००० (अर्ध जंबूद्वीप) + २ लाख + ४ लाख + ८ लाख + १६ लाख + ३२ लाख यो. = ६२५०००० यो.। यह मेरुके मध्य भागसे लेकर एक ओरकें समस्त मध्य लोकका कल्पित अर्ध राजु प्रमाण विस्तार हुआ। अब यदि हम इसका अर्ध भाग करते हैं तो वह $\frac{६२५००००}{२}$=३१२५००० यो. (राजुका दूसरा अर्ध भाग) होता है। अब चूँकि स्वयम्भूरमण समुद्रसे पूर्वके सब द्वीप-समुद्रोंका उक्त कल्पित विस्तार ५०००० + २ लाख +४ लाख +८ लाख +१६ लाख=३०५०००० यो. ही है, अत एव यह राजुका दूजरा अर्ध भाग स्वयम्भूरमण समुद्रके पूर्ववर्ती स्वयम्भूरमण द्वीपमें नहीं पड़ता है, किन्तु वह स्वयम्भूरमण समुद्रमें उसकी अभ्यन्तर वेदिकासे ३१२५०००–३०५००००=७५००० यो. आगे जाकर पड़ता है। अब उसको भी आधा करनेपर वह $\frac{३१२५०००}{२}$=१५६२५०० यो. (राजुका तृतीय अर्ध भाग) होता है। सो वह स्वयम्भूरमण द्वीपमें उसकी अभ्यन्तर वेदिकासे आगे १५६२५००–(५०००० + २ लाख + ४ लाख + ८ लाख) = ११२५००=(७५०००+$\frac{७५०००}{२}$) इतने योजन आगे जाकर पड़ता है। अब इसका भी अर्ध भाग करनेपर वह $\frac{१५६२५००}{२}$=७८१२५० यो. (राजुका चतुर्थ अर्ध भाग) होता है। सो वह स्वयम्भूरमण द्वीपके पूर्ववर्ती अहीन्द्रवर समुद्रके भीतर उसकी अभ्यन्तर वेदिकासे आगे ७८१२५० – (५०००० + २ लाख + ४ लाख) = १३१२५० = (७५००० + $\frac{७५०००}{२}$ + $\frac{७५०००}{४}$) इतने योजन जाकर पड़ता है। इसी क्रमसे आगेके क्रमको भी समझ लेना चाहिये। इस क्रमसे अहीन्द्रवर समुद्रके पूर्ववर्ती प्रत्येक द्वीप और समुद्रमें क्रमसे उक्त अर्ध राजुका एक एक अर्धच्छेद पडता हुआ लवण समुद्रमें जाकर दो अर्धच्छेद पड़ते हैं। यहाँ उदाहरणस्वरूप अर्ध राजु और उसके अर्ध अर्ध भागोंकी जो कल्पना की गई है तदनुसार यथार्थको ग्रहण करना चाहिये।

इस प्रथम द्वीप तथा लवणसमुद्रका स्वामी क्रमसे अनादर नामका व्यन्तर देव और सुस्थिर (सुस्थित) देव ये दो व्यन्तर देव हैं। [धातकीखण्ड द्वीपके अधिपति] प्रभास और प्रियदर्शन नामके दो व्यन्तर देव हैं ॥ २४ ॥ दक्षिण व उत्तर भागमें स्थित काल और महाकाल नामक व्यन्तर देव कालोद समुद्रके तथा पद्म और पुण्डरीक नामक दो देव पुष्कर द्वीपके अधिपति हैं ॥ २५ ॥ चक्षुष्मान् और सुचक्षु नामके दो व्यन्तर देव मानुषोत्तर पर्वतके अधिपति हैं। इस प्रकार दो दो देव आगेके द्वीप और समुद्रमें भी जानना चाहिये। श्रीप्रभ और श्रीधर नामके दो व्यन्तर देव पुष्करवर समुद्रके, वरुण और वरुणप्रभ नामके दो व्यन्तर देव वारुणीवर द्वीपके, तथा मध्य और मध्यम नामकें दो देव वारुणीवर समुद्रके अधिपति हैं ॥ २६–२७ ॥ पाण्डुर

पाण्ड[ण्डु]रः पुष्पदन्तश्च विमलो विमलप्रभः । [1]सुप्रभस्य[श्च] घृताख्यस्य उत्तरश्च महाप्रभः ॥ २८
कनकः कनकाभश्च पूर्णः पूर्णप्रभस्तथा । गन्धश्चान्यो[2] महागन्धो नन्दी नन्दिप्रभस्तथा ॥ २९
भद्रश्चैव सुभद्रश्च अरुणश्चारुणप्रभः । सुगन्धः सर्वगन्धश्च अरुणोदे तु सागरे ॥ ३०
एवं द्वीपसमुद्राणां द्वौ द्वावधिपती स्मृतौ । दक्षिणः प्रथमोक्तोऽत्र द्वितीयश्चोत्तरापतिः ॥ ३१
चतुरशीतिश्च लक्षाणि त्रिषष्टिशतकोटयः[3] । [4]नन्दीश्वरवरद्वीपविस्तारस्य प्रमाणकम् ॥ ३२

। १६३८४००००० ।

कोटीनां त्रिशतं सप्तविंशतिं पञ्चषष्टिकम् । लक्षाणां च प्रमाभ्यन्तःसूच्यास्तस्य विदुर्बुधाः ॥ ३३
त्रीणि पञ्च च सप्तैव द्वे शून्यं द्वे च रूपकम् । षट् त्रीणि गगनं चैकमन्तःपरिधिरुच्यते ॥ ३४

। १०३६१२०२७५३ ।

कोटीनां पञ्चपञ्चाशच्छतषट्कं[5] त्रिकाधिकम्[6] । त्रिंशल्लक्षाणि तद्द्वीपबाह्यसूचीप्रमा भवेत् ॥

। ६५५३३००००० ।

शून्यं नवैकं चत्वारि पञ्च त्रीणि त्रिकं द्विकम् । सप्त शून्यं द्विकं तस्य परिधिर्बाह्य उच्यते ॥ ३६

। २०७२३३५४१९० ।

और पुष्पदन्त, विमल और विमलप्रभ, घृतद्वीपके दक्षिणमें सुप्रभ और उत्तरमें महाप्रभ, आगे कनक और कनकाभ, पूर्ण और पूर्णप्रभ, गन्ध और महागन्ध, नन्दी और नन्दिप्रभ, भद्र और सुभद्र तथा अरुण और अरुणप्रभ; [ये दो दो देव क्रमसे क्षीरवर द्वीप, क्षीरवर समुद्र, घृतवर द्वीप, घृतवर समुद्र, इक्षुरस (क्षौद्रवर) द्वीप, इक्षुरस (क्षौद्रवर) समुद्र, नन्दीश्वर द्वीप, नन्दीश्वर समुद्र और अरुण द्वीप; इन द्वीप-समुद्रोंके अधिपति हैं।] सुगन्ध और सर्वगन्ध नामके दो व्यन्तर देव अरुणोद समुद्रके अधिपति हैं ॥ २८–३० ॥ इस प्रकार द्वीप-समुद्रोंके दो दो व्यन्तर देव अधिपति माने गये हैं। इनमें यहाँ प्रथम कहा गया देव दक्षिण दिशाका तथा दूसरा देव उत्तर दिशाका अधिपति है ॥ ३१ ॥

नन्दीश्वर द्वीपके विस्तारका प्रमाण एक सौ तिरेसठ करोड़ चौरासी लाख (१६३८४०००००) योजन है ॥ ३२ ॥ विद्वान् गणधर आदि उसकी अभ्यन्तर सूचीका प्रमाण तीन सौ सत्ताईस करोड़ पैसठ लाख योजन बतलाते हैं — १६३८४०००००×२–३०००००= ३२७६५००००० ॥ ३३ ॥ उसकी अभ्यन्तर परिधि अंकक्रमसे तीन, पांच, सात, दो, शून्य, दो, एक, छह, तीन, शून्य और एक (१०३६१२०२७५३) अर्थात् एक हजार छत्तीस करोड़ बारह लाख दो हजार सात सौ तिरेपन योजन प्रमाण कही गई है ॥ ३४ ॥ उस द्वीपकी बाह्य सूचीका प्रमाण छह सौ पचपन करोड़ तेतीस लाख योजन है – १६३८४००००० × ४ – ३०००००= ६५५३३००००० ॥ ३५ ॥ उसकी बाह्य परिधि अंकक्रमसे शून्य, नौ, एक, चार, पांच, तीन, तीन, दो, सात, शून्य और दो (२०७२३३५४१९०) इतने योजन प्रमाण कही जाती है ॥ ३६ ॥

१ आ प 'सुप्रभस्य[श्च]घृता–' इत्याद्युत्तरार्धभागो नास्ति । २ आ प गन्धा° । ३ आ प कोदयः । ४ ब उत्तरार्धभागोऽयं तत्र नास्ति । ५ आ प °शत्शतषटकं । ६ आ प त्रिकादिकम् ।

तस्य मध्येऽञ्जनाः शैलाश्चत्वारो दिक्चतुष्टये। सहस्राणामशीतिश्च चत्वारि च नगोच्छ्रितिः ॥३७

। ८४००० ।

उच्छ्रयेण समो व्यासो मूले मध्ये च मूर्धनि। सहस्रमवगाढश्च वज्रमूला प्रकीर्तिताः ॥ ३८

पूर्वाञ्जनगिरेर्दिक्षु नन्दा नन्दवतीति च। नन्दोत्तरा नन्दिषेणा इति प्राच्यादिवापिकाः ॥ ३९

एकैकनियुतव्यासा मुखमध्यान्तमानतः[1]। नानारत्नजटा वाप्यो वज्रभूमिप्रतिष्ठिताः ॥ ४०

। १००००० ।

अरजा विरजा चान्या अशोका वीतशोकका। दक्षिणस्याञ्जनस्याद्रेः पूर्वाद्याशाचतुष्टये ॥ ४१

विजया वैजयन्ती च जयन्त्यन्यापराजिता। अपरस्याञ्जनस्याद्रेः पूर्वाद्याशाचतुष्टये ॥ ४२

रम्या च रमणीया च सुप्रभा चापरा भवेत्। उत्तरा सर्वतोभद्रा इत्युत्तरगिरिश्रिताः ॥ ४३

कमलकह्लारकुमुदैः सुरभीकृतदिक्तटैः[2]। युक्ताः सर्वाश्च वाप्यस्ता मुक्ता जलचरैः सदा ॥ ४४

अशोकं सप्तपर्णं च चम्पकं चूतमेव च। चतुर्दिशं तु वापीनां प्रतितीरं वनान्यपि ॥ ४५

व्यस्तानि नियुतार्धं च नियुतं चायतानि तु। सर्वाण्येव वनान्याहुर्वेदिकान्तानि सर्वतः ॥ ४६

५०००० । १००००० ।

उस द्वीपके मध्यमें चारों दिशाओंमें चार अंजन पर्वत हैं। इन पर्वतोंकी ऊंचाई चौरासी हजार (८४०००) योजन प्रमाण है ॥ ३७ ॥ इन पर्वतोंका विस्तार मूल, मध्य और शिखरपर भी उंचाईके बराबर (८४०००) तथा अवगाह एक हजार (१०००) योजन मात्र है। इनका मूल भाग वज्रमय कहा गया है ॥ ३८ ॥

पूर्वदिशागत अंजनगिरिकी पूर्वादिक दिशाओंमें क्रमसे नन्दा, नन्दवती, नन्दोत्तरा और नन्दिषेणा (नन्दिघोषा) नामकी चार वापिकायें हैं ॥ ३९ ॥ इन वापियोंका विस्तार मूलमें, मध्यमें और अन्तमें एक लाख (१०००००) योजन प्रमाण है। उक्त वापियाँ अनेक रत्नोंसे खचित और वज्रमय भूमिपर प्रतिष्ठित हैं ॥ ४० ॥ दक्षिण अंजनपर्वतकी पूर्वादि दिशाओंमें अरजा, विरजा, अशोका और वीतशोका नामकी चार वापिकायें स्थित हैं ॥ ४१ ॥ पश्चिम अंजनपर्वतकी पूर्वादिक दिशाओंमें क्रमसे विजया, वैजयन्ती, जयन्ती और अपराजिता नामकी चार वापिकायें स्थित हैं ॥ ४२ ॥ उत्तर दिशागत अंजनपर्वतके आश्रित पूर्वादि क्रमसे रम्या, रमणीया, सुप्रभा और सर्वतोभद्रा नामकी चार वापिकायें हैं ॥ ४३ ॥ दिङमण्डलको सुवासित करनेवाले कमल, कल्हार और कुमुद पुष्पोंसे युक्त वे सब वापिकायें सदा जलचर जीवोंसे रहित हैं ॥ ४४ ॥

वापियोंके प्रत्येक किनारेपर चारों दिशाओंमें अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्र ये चार वन स्थित हैं ॥४५॥ सब ही वन आधा लाख (५००००) योजन विस्तृत, लाख (१०००००) योजन आयत और अन्तमें सब ओर वेदिकासे संयुक्त कहे जाते हैं ॥ ४६ ॥

---

१ आ प मध्यास्त° । २ ब दिकटैः ।

षोडशानां च वापीनां मध्ये दधिमुखाद्रयः । सहस्राणि दशोद्विद्धास्तावत्सर्वत्र विस्तृताः ।। ४७

। १०००० ।

सहस्रगाढके वज्रमयाः श्वेताश्च वर्तुलाः । तेषामुपरि वेद्यः स्युर्वनानि विविधानि च ।। ४८

वापीनां वाह्यकोणेषु दृष्टा रतिकराद्रयः । समा दधिमुखैर्हैमाः सर्वे द्वात्रिंशदेव ते ।। ४९

उक्तं च [ति. प. ५, ६९-७०]--

जोयणसहस्सवासा तेत्तियमेत्तोदया य पत्तेक्कं । अड्ढाइज्जसयाइं अवगाढा रतिकरा गिरिणो ।।

ते चउ-चउकोणेसुं एक्केक्कदहस्स होंति चत्तारि। लोयविणिच्छ[1] [य]कत्ता एवं णियमा परुवेंति ।।

द्वीपस्य विदिशास्वन्ये चत्वारोऽञ्जनपर्वताः । समा रतिकरैस्तेऽपि इति सर्वज्ञदर्शनम् ।। ५०

सर्वेषु तेषु शैलेषु द्विपञ्चाशज्जिनालयाः । भद्रसालैः समा मानैस्तान् भक्त्या स्तौमि सर्वदा ।। ५१

प्रतिवत्सरमाषाढे कार्तिके फाल्गुनेऽपि च । अष्टमीतिथिमारभ्य पूर्णिमान्तं सुरैः सह ।। ५२

सौधर्मचमरेशानवैरोचनसुरेश्वराः । प्राच्यपाचीप्रतीचीषु उदीच्यां क्रमशो मुदा ।। ५३

द्वौ द्वौ यामौ जिनेन्द्राणां महाविभवसंयुताः । प्रादक्षिण्येन कुर्वन्ति महाभक्त्या महामहम् ।। ५४

नन्दीश्वरात्परो द्वीपश्चारुणो नाम कीर्तितः । तस्यारुणवरोऽब्धिश्च विस्तारोऽस्य निशम्यताम् ।।

सोलह वापियोंके मध्यमें दस हजार (१००००) योजन ऊंचे और सब जगह उतने (१००००) ही योजन विस्तृत दधिमुख पर्वत स्थित हैं ।। ४७ ।। एक हजार (१०००) योजन अवगाहके भीतर वज्रमय वे पर्वत वर्णसे शुक्ल व गोल आकारसे संयुक्त हैं । उनके ऊपर वेदियां और अनेक प्रकारके वन हैं ।। ४८ ।।

वापिकाओंके वाह्य कोनोंमें दधिमुख पर्वतोंके समान सुवर्णमय रतिकर पर्वत देखे गये हैं । वे सब पर्वत वत्तीस (३२) ही हैं ।। ४९ ।। कहा भी है --

रतिकर पर्वतोंमेंसे प्रत्येक एक हजार (१०००) योजन विस्तृत, उतने (१००० यो.) मात्र ऊंचे और अढ़ाई सौ (२५०) योजन प्रमाण अवगाहसे संयुक्त हैं ।। २ ।। वे रतिकर पर्वत नियमसे प्रत्येक वापीके चार चार कोनोंमें चार हैं, ऐसा लोकविनिश्चय ग्रन्थके कर्ता वतलाते हैं।।३।।

नन्दीश्वर द्वीपकी विदिशाओंमें अन्य चार अंजनपर्वत हैं । वे भी रतिकर पर्वतोंके समान हैं, ऐसा सर्वज्ञका दर्शन है ।। ५० ।।

उन सब पर्वतोंके ऊपर वावन जिनालय हैं जो प्रमाणमें भद्रसाल वनमें स्थित जिनालयोंके समान हैं । मैं सदा उन जिनालयोंकी भक्तिपूर्वक स्तुति करता हूं ।। ५१ ।। प्रतिवर्ष यहां आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन मासमें [शुक्ल पक्षमें] अष्टमीसे लेकर पूर्णिमा तक अर्थात् अष्टाह्निक पर्वमें अन्य देवोंके साथ सौधर्म, चमर, ईशान और वैरोचन ये चार इन्द्र हर्षित होकर क्रमसे पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशामें महाविभूतिके साथ भक्तिपूर्वक प्रदक्षिणक्रमसे दो दो पहर तक जिनेन्द्रोंकी महामह पूजाको करते हैं ।। ५२-५४।।

नन्दीश्वर द्वीपके आगे अरुण नामका द्वीप कहा गया है, उसको वेष्टित करके अरुणवर

---

१ आ प विणिच्छे ।

पञ्चभ्यः खलु शून्येभ्यः परं द्वे सप्त चाम्बरम् । एकं त्रीणि च रूपं च चक्रवालस्य पार्थवम् ॥ ५६

। १३१०७२००००० ।

अरिष्टाख्योऽन्धकारोऽस्माद् दूरमुद्गत्य सागरात् । आच्छाद्य चतुरः कल्पान् ब्रह्मलोकं समाश्रितः॥
मृदङ्गसदृशाकाराः कृष्णराज्यश्च सर्वतः । यमकावेदिकातुल्या अष्टौ तस्य बहिःस्थिताः ॥ ५८
देवा अल्पर्द्धयस्तस्मिन् दिग्मूढाश्चिरमासते । महर्द्धिकप्रभावेन सह यान्ति न चान्यथा ॥ ५९
द्वीपस्य कुण्डलाख्यस्य कुण्डलाद्रिस्तु मध्यमः । पञ्चसप्ततिमुद्विद्धः सहस्राणां महागिरिः ॥ ६०
मानुषोत्तरविष्कम्भाद् व्यासो दशगुणस्य च । तस्य षोडशकूटानि चत्वारि प्रतिदिशं क्रमात् ॥६१

१०२२० । ७२३० । ४२४० ।

वज्रं वज्रप्रभं चैव कनकं कनकप्रभम् । रजतं रजताभं च सुप्रभं च महाप्रभम् ॥ ६२
अङ्कमङ्कप्रभं चेति मणिकूटं मणिप्रभं । रुचकं रुचकाभं च[1] हिमवन्मन्दराख्यकम् ॥ ६३
नान्दनैः समसानेषु वेश्मान्यपि समानि तैः । जम्बूनाम्नि च तेऽन्यस्मिन् विजयस्येव वर्णना ॥ ६४
चैत्यान्यनादिसिद्धानि मध्ये तुल्यानि नैषधैः । दिक्षु चत्वार्यनादित्वं यथा संसारमोक्षयोः ॥ ६५

समुद्र स्थित है । इस समुद्रका विस्तार कहा जाता है, उसे सुनिये ॥ ५५ ॥ पांच शून्योंके आगे दो, सात, शून्य, एक, तीन और एक (१३१०७२०००००) इन अंकोंके क्रमसे जो संख्या प्राप्त हो उतने योजन मात्र मण्डलाकारसे स्थित उक्त समुद्रका विस्तार जानना चाहिये ॥ ५६ ॥ इस समुद्रसे दूर ऊपर उठा हुआ अरिष्ट नामका अन्धकार प्रथम चार कल्पोंको आच्छादित करके ब्रह्मलोक (पांचवा कल्प) को प्राप्त हुआ है ॥ ५७ ॥ मृदंगके समान आकारवाली आठ कृष्ण-राजियां उसके बाह्य भागमें सब ओर यमका वेदिकाके समान स्थित हैं ॥ ५८ ॥ उस सघन अन्धकारमें अल्पर्द्धिक देव दिशाभेदको भूलकर चिर काल तक स्थित रहते हैं । वे यहांसे दूसरे महर्द्धिक देवोंके प्रभावसे उनके साथ निकल पाते हैं, अन्य प्रकारसे नहीं निकल सकते हैं ॥५९॥

आगे कुण्डल नामक ग्यारहवें द्वीपके मध्यमें कुण्डल पर्वत स्थित है । वह महापर्वत पचत्तर हजार (७५०००) योजन ऊंचा है। विस्तार उसका मानुषोत्तर पर्वतसे दसगुणा है (मूल विस्तार १०२२×१०=१०२२०, मध्य विस्तार ७२३×१०=७२३०, शिखर विस्तार (४२४ ×१०=४२४० यो.) । उसके ऊपर सोलह कूट हैं जो निम्न क्रमसे प्रतिदिशामें चार चार हैं— वज्र, वज्रप्रभ, कनक, कनकप्रभ; रजत, रजताभ, सुप्रभ, महाप्रभ; अंक, अंकप्रभ, मणिकूट, मणिप्रभ; तथा रुचक, रुचकाभ, हिमवान् और मन्दर ॥ ६०–६३ ॥ ये कूट विस्तारादिके प्रमाणमें नन्दन वनमें स्थित कूटोंके समान हैं । यहाँ जो भवन हैं वे भी नन्दनवनके भवनोंके समान हैं । उनका वर्णन दूसरे जंबूद्वीपमें स्थित विजय देवके नगरोंके समान है ॥ ६४ ॥

उक्त कूटोंके मध्यमें दिशाओंमें अनादिसिद्ध चार जिनभवन हैं जो निषध पर्वतस्थ जिनभवनोंके समान हैं । इनकी अनादिता ऐसी है जैसी कि संसार और मोक्षकी ॥ ६५ ॥

---

१ ब 'च' नास्ति

तदन्तः सिद्धकूटानि दिक्षु चत्वारि मानतः । समानि नैषधैस्तत्र चत्वारश्च जिनालयाः ॥ ६६

पाठान्तरम् ।

तस्य दिक्षु च चत्वारि विदिक्षु च महागिरेः । अष्टावायतनान्याहुः समसानानि नैषधेः ॥ ६७

उक्तं च [ति. प. ५,१२८] –

तग्गिरिवरस्स होंति उ[1] दिसिविदिसासुं जिणिंदकूडाणि । पत्तेक्कं एक्केक्कं केई एवं परूवेंति ॥

द्वीपस्त्रयोदशो नाम्ना रुचकस्तस्य मध्यमः । अद्रिश्च वलयाकारो रुचकस्तापनीयकः ॥ ६८
महाञ्जनगिरेस्तुल्यो विष्कम्भेणोच्छ्रयेण च । तस्य मूर्धनि पूर्वस्यां कूटाश्चाष्टाविति स्मृताः ॥६९
कनकं काञ्चनं कूटं तपनं स्वतिकं दिशः । सुभद्रमञ्जनं मूलं चाञ्जनाद्यं च वज्रकम् ॥ ७०
उच्छ्रितानि सहस्रार्धं मूले तावत्प्रथूनि च । तदर्धमग्रे रुन्द्राणि गौतमस्येव चालयाः ॥ ७१
विजयाद्याश्चतस्रश्च नन्दा नन्दवतीति च । नन्दोत्तरा नन्दिषेणा तेष्वष्टौ दिक्सुरस्त्रियः ॥ ७२
स्फटिकं रजतं चैव कुमुदं नलिनं पुनः । पद्मं च शशिसंज्ञं च ततो वैश्रवणाख्यकम् ॥ ७३
वैडूर्यमष्टकं कूटं पूर्वकूटसमानि च । दक्षिणस्यामथैतानि दिक्कुमार्योऽत्र च स्थिताः ॥ ७४
इच्छा नाम्ना समाहारा सुप्रतिज्ञा यशोधरा । लक्ष्मी शेषवती चान्या चित्रगुप्ता वसुंधरा ॥ ७५

उनके मध्यमें दिशाओंमें चार सिद्धकूट हैं जो प्रमाणमें निषध पर्वतके ऊपर स्थित सिद्धकूटके समान हैं। उनके ऊपर चार जिनालय हैं ॥ ६६ ॥ पाठान्तर।

उस महापर्वतकी दिशाओंमें चार और विदिशाओंमें चार, इस प्रकार आठ जिनायतन हैं जो प्रमाणमें निषधपर्वतस्थ जिनभवनके समान हैं ॥ ६७ ॥ कहा भी है –

उस गिरीन्द्रकी दिशाओं और विदिशाओंमें प्रत्येकमें एक एक जिनेन्द्रकूट है, ऐसा कितने ही आचार्य निरूपण करते हैं ॥ ४ ॥

तेरहवां द्वीप रुचक नामका है। उसके मध्यमें तपाये हुये सुवर्णके समान कान्तिवाला वलयाकार रुचक नामका पर्वत स्थित है ॥ ६८ ॥ वह विस्तार और ऊंचाईमें महान् अंजनगिरिके समान (८४००० यो.) है। उसकी शिखरके ऊपर पूर्व दिशामें ये आठ कूट माने गये हैं– कनक, कांचन, तपन, स्वस्तिक, सुभद्र, अंजन, अंजनमूल और वज्र ॥६९–७०॥ ये कूट सहस्रके आधे अर्थात् पांच सौ (५००) योजन ऊंचे और मूलमें उतने (५०० यो.) ही विस्तृत हैं। शिखरपर उनका विस्तार उससे आधा (२५०) है। इनके ऊपर जो प्रासाद स्थित हैं वे गौतम देवके प्रासादोंके समान हैं ॥ ७१ ॥ इन कूटोंके ऊपर उक्त प्रासादोंमें विजया आदि (वैजयन्ती, जयन्ती और अपराजिता) चार तथा नन्दा, नन्दवती, नन्दोत्तरा और नन्दिषेणा ये आठ दिक्कुमारी देवियां रहती हैं ॥ ७२ ॥

स्फटिक, रजत, कुमुद, नलिन, पद्म, शशी नामक (चन्द्र), वैश्रवण और वैडूर्य ये आठ कूट पूर्वदिशागत कूटोंके ही समान होकर दक्षिण दिशामें स्थित हैं। इन कूटोंके ऊपर निम्न दिक्कुमारी देवियां स्थित हैं– इच्छा, समाहार, सुप्रतिज्ञा, यशोधरा, लक्ष्मी, शेषवती, चित्रगुप्ता और वसुंधरा ॥ ७३–७५ ॥

१ ति. प. 'उ' नास्ति

अमोघं स्वस्तिकं कूटं मन्दरं च तृतीयकम् । ततो हैमवतं कूटं राज्यं राज्योत्तमं ततः ॥ ७६
चन्द्रं सुदर्शनं चेति अपरस्यां तु लक्षयेत् । रुचकस्य गिरीन्द्रस्य मध्ये कूटानि तेष्विमाः ॥ ७७
इलादेवी सुरादेवी पृथिवी पद्मवत्यपि । एकनासा नवमिका सीता भद्रेति चाष्टमी ॥ ७८
विजयं वैजयन्तं च जयन्तमपराजितम् । कुण्डलं रुचकं चैव रत्नवत्सर्वरत्नकम् ॥ ७९
अलंबूषा मिश्रकेशी तृतीया पुण्डरीकिणी । वारुण्याशा च सत्या च ह्रीः श्रीश्चैतेषु देवताः ॥ ८०
पूर्वा गृहीत्वा भृङ्गारान् दक्षिणा दर्पणान् परान् । अपरा[1] आतपत्राणि चामराण्युत्तमाङ्गना[2]:॥
दिशाकुमार्यो द्वात्रिंशत्सादराः कृतमण्डनाः । जिनानां जन्मकालेषु सेवार्थमुपयान्ति ताः ॥ ८२
पूर्वे तु विमलं कूटं नित्यालोकं स्वयंप्रभम् । नित्योद्द्योतं तदन्तः स्युस्तुल्यानि गृहमानकैः ॥ ८३
कनका विमले कूटे दक्षिणे च शतह्रदा । ततः कनकचित्रा च सौदामिन्युत्तरे स्थिताः ॥ ८४
अर्हतां जन्मकालेषु दिशा उद्द्योतयन्ति ताः । श्रीवत्स्वपरिवाराद्यैः सर्वा एता इति स्मृताः ॥८५
वैडूर्यं रुचकं कूटं मणिकूटं च पश्चिमम् । राज्योत्तमं तदन्तः स्युः पूर्वमानसमानि च ॥ ८६ ॥

अमोघ, स्वस्तिक, तीसरा मन्दर, हैमवत, राज्य, राज्योत्तम, चन्द्र और सुदर्शन; ये आठ कूट रुचक पर्वतके मध्यमें पश्चिम दिशामें स्थित जानना चाहिये । उनके ऊपर ये दिक्कुमारिकायें निवास करती हैं– इलादेवो, सुरादेवी, पृथिवी, पद्मवती, एकनासा, नवमिका, सीता और आठवीं भद्रा ॥ ७६–७८ ॥

विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, कुण्डल, रूचक, रत्नवान् और सर्वरत्न; ये आठ कूट उसके ऊपर उत्तर दिशामें स्थित हैं ॥ ७९ ॥ इनके ऊपर ये आठ दिक्कुमारी देवियां रहती हैं– अलंवूसा, मिश्रकेशी, तृतीय पुण्डरीकिणी, वारुणी, आशा, सत्या, ह्री और श्री ॥ ८० ॥

इनमेंसे पूर्वदिशामें स्थित उक्त आठ दिक्कुमारिकायें झारियोंको, दक्षिणदिशागत आठ देवियां उत्तम दर्पणोंको, पश्चिमदिशावासिनी छत्रोंको, तथा उत्तरदिशाकी आठ दिक्कन्यायें चामरोंको ग्रहण कर; इस प्रकार वे सुसज्जित वत्तीस (३२) दिक्कुमारिकायें तीर्थकरोंके जन्म कल्याणकोंमें सविनय सेवा करनेके लिये उपस्थित होती हैं ॥ ८१–८२ ॥

उक्त कूटोंके अभ्यन्तर भागमें पूर्व [आदि दिशाओंमें क्रमसे] विमल कूट, नित्यालोक, स्वयंप्रभ और नित्योद्योत ये चार कूट स्थित हैं । वे सब गृहमानोंसे समान हैं ॥ ८३ ॥ इनमेंसे विमल कूटके ऊपर कनका, दक्षिण कूटके ऊपर शतह्रदा, पश्चिम कूटके ऊपर कनकचित्रा और उत्तर कूटके ऊपर सौदामिनी देवियां स्थित हैं ॥ ८४ ॥ वे देवियां तीर्थकरोंके जन्मकालोंमें दिशाओंको उद्योतित करती हैं । ये सब देवियां परिवार आदिमें श्रीदेवीके समान मानी गई हैं ॥ ८५ ॥

उनके भी अभ्यन्तर भागमें वैडूर्य, रुचककूट, मणिकूट और अन्तिम राज्योत्तम ये चार

---

१ ब आपरा । २ [°त्तराङ्गना]

रुचका रुचककीर्तिश्च कान्ता रुचकादिका । रुचकैव प्रभान्त्यान्या[1] जातिकर्मसमापिका: ॥ ८७
तत्कूटाभ्यन्तरे दिक्षु चत्वारः सिद्धकूटकाः । पूर्वमानसमा मानैश्चत्वारोऽत्र जिनालयाः ॥ ८८
विदिक्षु दिक्षु चाप्यस्य अष्टास्वन्तरदिक्षु च । चैत्यानि षोडशेऽष्टानि समान्यपि च नैषधैः ॥ ८९

उक्तं च [ति. प. ५,१६६]

दिसिविदिसंतरभागे चउ चउ अट्ठाणि सिद्धकूडाणि । उच्छेहप्पहुदीए णिसहसमा केइ इच्छन्ति ॥५
स्वयंभूरमणो द्वीपश्चरमस्तस्य मध्यगः । सहस्रमवगाढश्च गिरिरस्ति स्वयंप्रभः ॥ ९०
रत्नांशुद्योतिताशस्य तस्य वेदीयुतस्य च । विष्कम्भोत्सेधकूटानां मानं दृष्टं जिनेश्वरैः ॥ ९१
मानुषोत्तरशैलश्च कुण्डलो रुचकाचलः । स्वयंप्रभाचलश्चैते वलयाकृतयो मताः ॥ ९२

इति लोकविभागे समुद्रविभागो नाम चतुर्थप्रकरणं समाप्तम् ॥ ४ ॥

कूट स्थित हैं । इनका प्रमाण पूर्व कूटोंके समान है ॥ ८६ ॥ उनके ऊपर रुचका, रुचककीर्ति, रुचककान्ता और रुचकप्रभा ये चार दिक्कुमारिकायें रहती हैं जो तीर्थंकरोंके जातकर्मको समाप्त किया करती हैं ॥ ८७ ॥

उन कूटोंके अभ्यन्तर भागमें पूर्वादिक दिशाओंमें चार सिद्धकूट स्थित हैं । इनके ऊपर पूर्वोक्त जिनभवनोंके समान प्रमाणवाले चार जिनभवन हैं ॥८८॥ इसकी दिशाओंमें, विदिशाओंमें और आठ अन्तर्दिशाओंमें भी सोलह चैत्यालय स्वीकार किये गये हैं जो प्रमाणमें निषधपर्वतस्थ जिनभवनोंके समान हैं ॥ ८९ ॥ कहा भी है —

रुचक पर्वतके ऊपर दिशाओंमें चार, विदिशाओंमें चार और अन्तर्दिशाओंमें आठ इस प्रकार सोलह सिद्धकूट स्थित हैं जो ऊंचाई आदिमें निषध पर्वतके सिद्धकूटके समान हैं; ऐसा कुछ आचार्य स्वीकार करते हैं ॥ ५ ॥

अन्तिम द्वीप स्वयम्भूरमण है । उसके मध्यमें एक हजार योजन अवगाहवाला स्वयंप्रभ पर्वत स्थित है ॥ ९० ॥ रत्नकिरणोंसे दिशाओंको प्रकाशित करनेवाले एवं वेदीसे संयुक्त उस पर्वतके विस्तार, ऊंचाई और कूटोंका प्रमाण जितना जिनेन्द्रोंके द्वारा देखा गया है उतना जानना चाहिये । अभिप्राय यह है कि उसका उपदेश नष्ट हो चुका है ॥९१ ॥ मानुषोत्तर शैल, कुण्डलगिरि, रुचक पर्वत और स्वयंप्रभाचल ये चार पर्वत वर्तुलाकार माने गये हैं ॥ ९२ ॥

इस प्रकार लोकविभागमें समुद्रविभाग नामका चौथा प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

---

१ व प्रभान्त्यन्या ।

[पञ्चमो विभागः]

अनाद्यनिधनं कालं संवृत्तं सर्वपर्ययैः । पश्यतः प्रणिपत्येशान् वक्ष्ये कालगतिक्रमम् ॥ १
कालोऽवसर्पिणीत्येक उत्सर्पिण्यपरोऽपि च । एते समाहृते कल्पो विभागा द्वादशानयोः ॥ २
सुषमा सुषमान्ता च द्वितीया सुषमेति च । सुषमा दुःषमान्तान्या सुषमान्ता च दुःषमा ॥ ३
पञ्चमी दुःषमेत्येव समा षष्ठ्यतिदुःषमा । विभागा अवसर्पिण्यामितरस्यां विपर्ययः ॥ ४
चतस्रश्च ततस्तिस्रो द्वे च तासां क्रमात् स्मृताः । सागरोपमकोटीनां कोटचो वै तिसृणामपि ॥ ५
सा ४०००००००००००००। सा ३०००००००००००००। सा २००००००००००००००।
द्विचत्वारिंशता न्यूना सहस्रैरब्दसंख्यया । कोटीकोटी भवेदेका चतुर्थ्यां तु प्रमाणतः ॥ ६
सा १००००००००००००००। ४२०००।
पञ्चम्यब्दसहस्राणामेकविंशतिरेव सा । तावत्येव समा षष्ठी कोटीकोटचो दशैव ताः ॥ ७
२१०००। २१०००। सा १० को २।
आदावाद्यसमायाश्च नरा उद्यद्रविप्रभाः । आहरन्त्यष्टमे भक्तं त्रिगव्यूतिसमुच्छ्रिताः ॥ ८
प्रारम्भे च द्वितीयाया नराः पूर्णशशिप्रभाः । आहरन्ति च षष्ठेऽन्नं द्विगव्यूतिसमुच्छ्रयाः ॥ ९

समस्त पर्यायोंसे उपलक्षित अनादि-निधन कालको देखनेवाले जिनेन्द्रोंको नमस्कार करके कालकी गतिके क्रमका वर्णन करता हूं॥ १ ॥ एक अवसर्पिणी और दूसरा उत्सर्पिणी इस प्रकारसे सामान्यरूपसे कालके दो भेद हैं। इन दोनोंको सम्मिलितरूपमें कल्प काल कहा जाता है। इन दोनोंके बारह (६+६) विभाग हैं ॥ २ ॥ सुषमासुषमा, दूसरा सुषमा, सुषमादुःषमा, दुःषमासुषमा, पांचवां दुःषमा और छठा अतिदुःषमा; इस प्रकार ये छह अवसर्पिणी कालके विभाग हैं। उत्सर्पिणी कालके विभाग इनसे विपरीत (अतिदुःषमा, दुःषमा, दुःषमासुषमा, सुषमा-दुःषमा, सुषमा और सुषमासुषमा) हैं ॥ ३–४ ॥ इनमें प्रथम तीन कालोंका प्रमाण यथाक्रमसे चार, तीन और दो कोड़ाकोड़ि सागरोपम माना गया है– सुषमासुषमा४०००००००००००००० सागरोपम, सुषमा ३०००००००००००००० सा., सुषमदुःषमा २०००००००००००००० सा. ॥ ५ ॥ चतुर्थ (दुःषमसुषमा) कालका प्रमाण ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ि साग-रोपम है १००००००००००००००० सा. – ४२००० वर्ष ॥ ६ ॥ पांचवें (दुःषमा) कालका प्रमाण इक्कीस हजार (२१०००) वर्ष मात्र ही है। इतने ही (२१०००) वर्ष प्रमाण छठा काल भी है। इस प्रकारसे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके उक्त छहों कालोंका प्रमाण सम्मिलितरूपसे दस (१०) कोड़ाकोड़ि सागरोपम मात्र होता है ॥ ७ ॥

प्रथम कालके प्रारम्भमें उदित होते हुए सूर्यके समान प्रभावाले मनुष्य तीन कोस शरीरकी ऊंचाईसे सहित होते हुए अष्टम भक्तमें अर्थात् चौथे दिन आहार ग्रहण करते हैं ॥८॥ द्वितीय कालके प्रारम्भमें मनुष्योंकी प्रभा पूर्ण चन्द्रके समान और शरीरकी ऊंचाई दो कोस प्रमाण

आदावपि तृतीयायाः प्रियङ्गुश्यामवर्णकाः । चतुर्थभक्तेनाहारमेकां गव्यूतिमुच्छ्रिताः ॥ १०
षट्पञ्चाशच्छते द्वे च तथाष्टाविंशतिः शतम् । चतुःषष्ठिः क्रमात्तासु नराणां ष[पृ]ष्ठकण्डकाः ११
२५६ । १२८ । ६४ ।
जीवितं त्रीणि पल्यानि द्वे चैकं च क्रमागतम् । मानुषा मिथुनान्येव कल्पवृक्षोपजीविनः ॥ १२
मृदङ्गभृङ्गरत्नाङ्गाः पानभोजनपुष्पदाः । ज्योतिरालयवस्त्राङ्गाः कल्पागैर्दशधा[1] द्रुमाः ॥ १३
उक्तं च [ति. प. ४–३४२, ८२९]—
पाणंगतूरिअंगा भूसणवत्थंग भोयणंगा य । आलयदीवियभायणमालातेअंगआदि[2] कप्पतरू ॥१
पुष्करं पटहं भेरीं दुन्दुभिं पणवादि च । वीणावंशमृदङ्गांश्च दध[द]ते तूर्यपादपाः ॥ १४
भृङ्गारकलशस्थालीस्थालवृत्तकशुक्तिकाः[3] । कुचाकरकपात्राणि[4] ददते[5] भृङ्गसंज्ञकाः ॥ १५
नराणां षोडशविधं स्त्रीणामपि चतुर्दश । विविधमाभरणं नित्यं रत्नाङ्गा ददते[5] शुभम् ॥ १६
वीर्यसाररसोपेतं सुगन्धिप्रीतिपूरकम् । द्वात्रिंशद्भेदकं पानं सुयन्ते पानपादपाः ॥ १७
षोडशान्नविधीन् सृष्टानु[नो]दनस्य च षोडश । चतुर्दशविधान् सूपान् स्वाद्यं त्वष्टोत्तरं शतम् ॥

होती है । वे षष्ठ भक्तमें अर्थात् दो दिनके अन्तरसे आहार ग्रहण करते हैं ॥९॥ तीसरे कालके प्रारम्भमें प्रियंगु पुष्पके समान प्रभावाले मनुष्य एक कोस प्रमाण शरीरकी ऊंचाईसे सहित होते हुए चतुर्थ भक्तसे अर्थात् एक दिनके अन्तरसे आहार करते हैं ॥ १० ॥

उन तीन कालोंमें मनुष्योंकी पृष्ठास्थियां क्रमसे दो सौ छप्पन (२५६), एक सौ अट्ठाईस (१२८) और चौंसठ (६४) होती हैं॥ ११ ॥ इन कालोंमें मनुष्योंकी आयुका प्रमाण यथाक्रमसे तीन पल्य, दो पल्य और एक पल्य होता है । उक्त कालोंमें मनुष्य युगलरूपसे ही उत्पन्न होकर कल्पवृक्षोंसे आजीविका करते हैं अर्थात् उन्हें समस्त भोगोपभोगकी सामग्री कल्पवृक्षोंसे ही प्राप्त होती है ॥ १२ ॥ इन तीन कालोंमें कल्पवृक्षोंके मृदंगांग (तूर्यांग), भृगांग (भाजनांग), रत्नांग (भूषणांग), पानांग (मद्यांग), भोजनांग, पुष्पांग (मालांग), ज्योतिरंग, आलयांग और वस्त्रांग ये दस प्रकारके वृक्ष होते हैं ॥ १३ ॥ कहा भी है —

पानांग, तूर्यांग, भूषणांग, वस्त्रांग, भोजनांग, आलयांग, दीपांग, भाजनांग, मालांग और ज्योतिरंग; इस तरह वे कल्पवृक्ष दस प्रकारके हैं ॥ १ ॥

तूर्यांग कल्पवृक्ष पुष्कर, पटह, भेरी, दुंदुभि, पणव (ढोल) आदि, वीणा, बांसुरी और मृदंग वाद्योंको देते हैं ॥१४॥ भृंग नामक कल्पवृक्ष भृंगार, कलश, थाली, थाल, वृत्तक, शुक्तिक, कुच और करक (जलपात्र); इन पात्रोंको देते हैं ॥ १५ ॥ रत्नांग कल्पवृक्ष पुरुषोंके सोलह प्रकारके और स्त्रियोंके चौदह प्रकारके उत्तम विविध आभरणोंको नित्य ही देते हैं ॥ १६ ॥ पानांग कल्पवृक्ष वीर्यवर्धक श्रेष्ठ रससे संयुक्त, सुगन्धित और प्रीतिको पूर्ण करनेवाले बत्तीस प्रकारके पानको उत्पन्न करते हैं ॥ १७ ॥ भोजनांग कल्पवृक्ष सोलह प्रकारके स्वादिष्ट अन्न

१ प कल्पांगै । २ आ प अंगमादि । ३ आ प व शुकिकाः । ४ प पत्राणि । ५ व दधते ।

त्रिषष्टि त्रिशतं भेदान् शाकानां रसनप्रियान् । चक्रवर्त्यन्नतो मृष्टान् ददते भोजनद्रुमाः ।। १९
वल्लीगुल्मद्रुमोद्भूतं सहस्राहतषोडश । विधं वर्णद्वयं पुष्पं मालाङ्गागाः फलन्ति च ।। २०
चन्द्रसूर्यप्रभावन्तो द्योतयन्तो दिशो दश । कुर्वाणाः संततालोकं ज्योतिरङ्गा[1] वसन्ति च ।। २१
नन्द्यावर्तादिकद्वचष्टभेदान् प्रासादकान् शुभान् । रत्नहेममयान् नित्यं ददते[2] चालयाङ्गकाः ।।२२
क्षौमकौशेयकार्पासपट्टचीनादिभिः समम् । वस्त्रं चित्रं मृदुश्लक्ष्णं वस्त्राङ्गा ददते[2] द्रुमाः ।। २३
मूलपुष्पफलैरिष्टैर्वल्लीगुल्मक्षुपद्रुमाः । कल्पागाः परितः सन्ति रम्यच्छाया मनोरमाः ।। २४
दिवसैरेकविंशत्या पूर्यन्ते यौवनेन च । प्रमाणयुक्तसर्वाङ्गा द्वात्रिंशल्लक्षणाङ्किताः ।। २५
मार्दवार्जवसंपन्नाः सत्यमृष्टसुभाषिताः । मृदङ्गमेघनिःस्वाना नवसहस्रेभविक्रमाः ।। २६
प्रकृत्या धीरगम्भीरा निपुणाः स्थिरसौहृदाः । अदृष्टललिताचाराः प्रसन्नाः प्रीतिबुद्धयः ।। २७
क्रोधलोभभयद्वेषमानमत्सरवर्जिताः । ईर्ष्यासूयापवादानां न विदन्ति सदा रसम् ।। २८
सेवादुःखं परैर्निन्दा ईप्सितस्यानवापनम् । प्रियेभ्यो विप्रयोगश्च तिसृष्वपि समासु[3] न ।। २९

भेदोंको, सोलह प्रकारके ओदन (भात) को, चौदह प्रकारकी दालोंको, एक सौ आठ प्रकारके स्वाद्य भोजनको तथा रसना इन्द्रियको प्रिय ऐसे तीन सौ तिरेसठ (३६३) शाकके भेदोंको; इस प्रकार चक्रवर्तीके अन्नसे स्वादिष्ट भोजनोंको देते हैं ।।१८–१९।। मालांग वृक्ष वेलों, झाड़ियों एवं वृक्षोंसे उत्पन्न सोलह हजार (१६०००) प्रकारके पुष्पोंको उत्पन्न करते हैं।।२०।। चन्द्र एवं सूर्य जैसी प्रभासे संयुक्त होकर दस दिशाओंको प्रकाशित करनेवाले ज्योतिरंग वृक्ष निरन्तर प्रकाश करते हुए स्थित रहते हैं ।।२१।। आलयांग जातिके कल्पवृक्ष नंद्यावर्त आदि सोलह प्रकारके रत्नमय एवं सुवर्णमय उत्तम भवनोंको नित्य ही प्रदान करते हैं ।। २२ ।। वस्त्रांग वृक्ष क्षौम (सनका वस्त्र), कौशेय (रेशमी), कार्पास (कपासनिर्मित) वस्त्र तथा चीनदेशीय आदि वस्त्रोंके साथ कोमल एवं चिक्कण विचित्र वस्त्रोंको देते हैं ।। २३ ।। वल्ली, गुल्म (झाड़ी), क्षुप (छोटी शाखाओं एवं मूलोंवाला) और द्रुम (वृक्ष) रूप रमणीय छायावाले मनोहर कल्पवृक्ष वहां अभीष्ट मूलों, पुष्पोंऔर फलोंके साथ सब ओर होते हैं ।। २४ ।।

इन तीन कालोंमें प्रमाणयुक्त सब अवयवोंसे संयुक्त तथा बत्तीस लक्षणोंसे चिह्नित नर-नारी इक्कीस (२१) दिनोंमें यौवनसे परिपूर्ण हो जाते हैं। ये नर-नारी मार्दव एवं आर्जवसे सहित, सत्य व मधुर भाषण करनेवाले, मृदंग अथवा मेघके समान ध्वनिसे संयुक्त, नौ हजार (९०००) हाथियोंके बराबर पराक्रमसे सहित, स्वभावतः धीर और गम्भीर, निपुण, स्थिर सौहार्दसे सम्पन्न, अदृष्ट ललित आचारवाले, प्रसन्न, प्रीतिबुद्धि तथा क्रोध, लोभ, भय, द्वेष, मान एवं मत्सरतासे रहित होते हैं। वे ईर्ष्या, असूया और परनिन्दाके आनन्दको कभी नहीं जानते हैं ।। २५–२८ ।।

तीनों ही कालोंमें उन नर-नारियोंके सेवाका दुख, परनिन्दा, अभीष्टकी अप्राप्ति तथा

१ प रिंगा । २ ब दधते । ३ प तिसृश्वपि सभासु ।

न राजानो न पाषण्डा[1] न चोरा नापि शत्रवः[2]। न कर्माणि न शिल्पानि न दारिद्र्यं न चामयाः॥
सूरूपाः सुभगा नार्यो गीतवादित्रपण्डिताः[3]। एकभर्तृसुखा नित्यं निःप्रयोजनसौहृदाः ॥ ३१
रत्नैराभरणैर्दीप्ता गन्धमाल्यविभूषिताः। दिव्यवस्त्रसमाच्छन्ना रतिरागपरायणाः ॥ ३२
अन्योऽन्यवी[क्ष]णासक्ता अन्योऽन्यस्यानुवर्तिनः। अन्योऽन्यहितमिच्छन्तोऽन्योन्यं[4] न त्यजन्ति ते॥३३
क्षुतकासितमात्रेण त्यक्त्वान्ते जीवितं स्वकम्। सौधर्मव्यन्तराद्येषु जायन्तेऽल्पकषायिणः ॥३४

उक्तं च त्रिलोकसारे [७८६,७८९–९१] –

वदरक्खामलयप्पमकप्पद्दुमदिण्णदिव्वआहारा[5]। वरपहुदितिभोगभुमा अंदकसाया विणीहारा ॥
जादजुगलेसु दिवसा सग सग अंगुट्ठलेहरंगिदये[6]। अथिरथिरगदिकलागुणजोव्वणदंसणगहे जंति ॥
तद्दंपदीणमादिमसंहदिसंठाणसज्जणामजुदा। सुलहेसु वि णो तित्ती तेसिं पच्चक्खविसएसु ॥४
चरमे खुदजंभवसा णरणारि विलीय सरदमेहं वा। भवणतिगामी मिच्छा सोहम्मदुजाइणो सम्मा ॥

प्रिय पदार्थोंका वियोग नहीं होता ॥ २९ ॥ इन कालोंमें न राजा होते हैं, न पाखण्डी होते हैं, न चोर होते हैं, न शत्रु होते हैं, न कर्म (कृषि आदि) होते हैं, न शिल्पकार्य होते हैं, न दरिद्रता होती है, और न रोग भी होते हैं ॥ ३० ॥

इन कालोंमें स्त्रियाँ सुन्दर रूपसे सहित, सुभग, गीत व वादित्रमें निपुण सदा एक ही पतिके सुखका अनुभव करनेवाली, निःस्वार्थ सौहार्दसे सम्पन्न, रत्नों व आभरणोंसे देदीप्यमान, सुगन्धित मालाओंसे विभूषित, दिव्य वस्त्रोंसे अलंकृत और रतिरागमें परायण होती हैं ॥३१–३२॥ परस्परके दर्शनमें आसक्त, परस्परकी इच्छानुसार प्रवृत्ति करनेवाले और परस्परके हितके इच्छुक वे युगल एक दूसरेको नहीं छोड़ते हैं ॥३३॥ अन्तमें वे (नर-नारी) क्रमशः छींक और जृंभा मात्रसे अपने जीवितको छोड़कर अल्प कषायसे संयुक्त होनेके कारण सौधर्मादिक विमानवासी देवोंमें अथवा व्यन्तरादिकोंमें उत्पन्न होते हैं ॥ ३४ ॥ त्रिलोकसारसें कहा भी है–

उत्तम आदि तीन भोगभूमियोंमें उत्पन्न हुए नर-नारी क्रमसे बेर, वहेड़ा और आंवलेके प्रमाण कल्पवृक्षोंसे दिये गये दिव्य आहारके करनेवाले; मन्दकषायी और मल-मूत्रसे रहित होते हैं ॥ २ ॥ इन उत्पन्न हुए युगुलोंमें अंगूठेके चूसने, उठकर खड़े होने, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कला-गुणग्रहण, यौवनग्रहण और सम्यग्दर्शनग्रहणमें सात सात दिन व्यतीत होते हैं। अर्थात् वे उनंचास (४९) दिनमें यौवनको प्राप्त होकर सम्यग्दर्शनग्रहणके योग्य हो जाते हैं ॥ ३ ॥ उन दम्पतियोंके प्रथम (वज्रर्षभवज्रनाराच) संहनन और प्रथम (समचतुरस्र) संस्थान होता है। आर्य इस नामसे संयुक्त उन दम्पतियोंको पंचेन्द्रियजनित विषयोंके सुलभ होनेपर भी तृप्ति नहीं होती है ॥ ४ ॥ अन्तमें वे नर-नारी क्रमसे छींक और जृंभाके वश शरत्कालीन मेघके समान विलीन होकर यदि मिथ्यादृष्टि हुए तो भवनत्रिक देवोंमें और यदि सम्यग्दृष्टि हुए तो सौधर्मादिक देवोंमें उत्पन्न होते हैं ॥ ५ ॥

---

१ प पाखंडा। २ ब नपि च वात्रवः। ३ ब नीतवादित्र॰। ४ [॰न्तः अन्योन्यं] ५ आ प आहारो ६ आ प रगिंदये।

पञ्चस्वद्रिषु नीलेषु निषधेषु कुरुष्वपि । वर्धमानोभयान्ताभ्यां प्रथमा नियु[य]ता समा ॥ ३५
हिमवद्रुग्मिशैलेषु रम्यकेषु हरिष्वपि । वर्धमानोभयान्ताभ्यां द्वितीया नियु[य]ता समा ॥ ३६
शृङ्गिक्षुल्लहिमाह्वेषु तत्पार्श्वासु च भूमिषु । तृतीया तु समा नित्यमन्तरद्वीपकेषु च ॥३७
पल्योपमाष्टमे भागे जायन्ते कुलकृन्नराः[1] । चतुर्दश परस्तेभ्य आदिराजोऽपि जायते ॥ ३८

उक्तं चार्षे [आ. पु. ३,५५-५७; ३-६३ आदि]—

ततस्तृतीयकालेऽस्मिन् व्यतिक्रामत्यनुक्रमात् । पल्योपमाष्टभागस्तु यदास्मिन् परिशिष्यते ॥ ६
कल्पानोकहवीर्याणां क्रमादेव परिच्युतौ । ज्योतिरङ्गास्तदा वृक्षा गता मन्दप्रकाशताम् ॥ ७
पुष्पदन्तावथाषाढ्यां पौर्णिमास्यां[2] स्फुरत्प्रभौ । सायाह्ने प्रादुरास्तां तौ गगनोभयभागयोः ॥ ८
प्रतिश्रुतिरितिख्यातस्तदाकुलधरोऽग्रिमः । बिभ्रल्लोकातिगं तेजः प्रजानां नेत्रमुद्बभौ[3] ॥ ९
पल्यस्य दशमो भागस्तस्यायुर्जिनदेशितम् । धनुःसहस्रमुत्सेधः शतैरधिकमष्टभिः ॥ १०
अदृष्टपूर्वौ तौ दृष्ट्वा स भीतान् भोगभूमिजान् । भीतेर्निर्वर्तयामास तत्स्वरूपमिति ब्रुवन् ॥ ११
एतौ तौ प्रतिदृश्येते सूर्यचन्द्रमसौ ग्रहौ । ज्योतिरङ्गप्रभापायात् कालह्रासवशोद्भवात् ॥ १२



पांच नील पर्वतोंपर, पांच निषधपर्वतोंपर और पांच कुरुक्षेत्रोंमें भी वर्धमान उभय अन्तोंसे प्रथम (सुषमासुषमा) काल नियत है ॥ ३५ ॥ हिमवान् पर्वतोंपर, रुक्मि पर्वतोंपर, रम्यक क्षेत्रोंमें और हरिक्षेत्रोंमें भी वर्धमान उभय अन्तोंसे द्वितीय (सुषमा) काल नियत है ॥ ३६ ॥ शिखरी पर्वतोंपर, क्षुद्र हिमवान् पर्वतोंपर उनकी पार्श्वभूमियों (हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रों) में तथा अन्तरद्वीपोंमें भी सदा तृतीय (सुषमादुःषमा) काल रहता है ॥ ३७ ॥ तृतीय कालमें पल्योपमका आठवां भाग ($\frac{1}{8}$) शेष रह जानेपर [भरत और ऐरावत क्षेत्रोंके भीतर] चौदह (१४) कुलकर पुरुष उत्पन्न होते हैं । उनके पश्चात् भरतक्षेत्रमें आदिनाथ भी जन्म लेते हैं ॥ ३८ ॥ आर्ष (आदिपुराण)में कहा भी है —

तत्पश्चात् अनुक्रमसे इस तृतीय कालके वीतनेपर जब उसमें पल्योपमका आठवां भाग ($\frac{1}{8}$) शेष रहता है तब क्रमसे कल्पवृक्षोंकी शक्तियोंके क्रमशः क्षीण हो जानेपर ज्योतिरंग कल्पवृक्ष मंदप्रकाशरूपताको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ६–७ ॥ तदनन्तर आषाढी पूर्णिमाके दिन सायंकालमें आकाशके उभय (पूर्व-पश्चिम) भागोंमें प्रभासे प्रकाशमान वे पुष्पदन्त (सूर्य व चन्द्र) प्रकट हुए ॥ ८ ॥ उस समय अलौकिक तेजको धारण करनेवाला प्रतिश्रुति इस नामसे प्रसिद्ध प्रथम कुलकर प्रजाके नेत्रके समान सुशोभित हुआ ॥ ९ ॥ जिन भगवान्के द्वारा उसकी आयु पल्यके दसवें भाग ($\frac{1}{10}$) प्रमाण तथा शरीरकी ऊंचाई एक हजार आठ सौ (१८००) धनुष मात्र निर्दिष्ट की गई है ॥ १० ॥ उस प्रतिश्रुति कुलकरने पूर्वमें कभी न देखे गये उन सूर्य-चन्द्रको देखकर भयभीत हुए प्रजाजनके भयको उक्त सूर्य-चन्द्रके स्वरूपको इस प्रकारसे बतलाकर दूर किया ॥११॥ ये सूर्य-चन्द्र ग्रह अब कालकी हानिके प्रभावसे ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्षोंकी

१ प °कुलकिन्नराः । २ ब पौर्णमास्यां । ३ आ. पु. नेत्रवद्बभौ ।

सदाप्यधिनभोभागं[1] भ्राम्यतोऽत्र महाद्युती। न वस्ताभ्यां भयं किंचिदतो मा भैष्ट भद्रकाः ॥१३
इति तद्वचनात्तेषां प्रत्याश्वासो महानभूत्। मनौ याते दिवं तस्मिन् काले गलति च क्रमात् ॥ ३९
मन्वन्तरमसंख्येयवर्षकोटीर्व्यतीत्य च। सन्मतिः सन्मतिर्नाम्ना द्वितीयोऽभून्मनुस्तदा ॥ ४०
तस्यायुरममप्रख्यमासीत्संख्येयहायनम्। सहस्रं त्रिशतीयुक्तमुत्सेधो धनुषां मतः ॥ ४१
नभोऽङ्गणमथापूर्य तारकाः प्रचकाशिरे। नात्यन्धकारकलुषां वेलां प्राप्य तमीमुखे ॥ ४२
अकस्मात्तारका दृष्ट्वा संभ्रान्तान् भोगभूभुवः। भीतिर्विचलयामास प्राणिहत्येव योगिनः ॥ ४३
स सन्मतिरनुध्याय क्षणं प्रावोचतार्यकान्। नोत्पातः कोऽप्ययं भद्रास्तन्मागात् भियो वशम् ॥४४
ज्योतिश्चक्रमिदं शश्वद् व्योममार्गे कृतस्थिति[2]। स्पष्टतामधुनायातं ज्योतिरङ्गप्रभाक्षयात् ॥४५
ज्योतिर्ज्ञानस्य बीजानि सोऽन्वबोचद्विदांवरः। अथ तद्वचनादार्या जाता सपदि निर्भयाः ॥ ४६
ततोऽन्तरमसंख्येयाः [3]कोटीरुल्लङ्घ्य वत्सरान्। तृतीयो मनुरत्रासीत् क्षेमंकरसमाह्वयः ॥ ४७
अटटप्रमितं तस्य बभूवायुर्महौजसः। देहोत्सेधश्च चापानाममुष्यासीच्छताष्टकम् ॥ ४८

प्रभाके विनष्ट हो जानेसे आकाशमें दिखने लगे हैं ॥ १२ ॥ अतिशय तेजके धारक वे दोनों सदा ही आकाशमें भ्रमण करते हैं। उनसे आप लोगोंको कुछ भी भय नहीं होना चाहिये। अत एव हे भद्र पुरुषो! आप लोग इनसे भयभीत न हो ॥ १३ ॥

प्रतिश्रुति कुलकरके इन वचनोंसे उन भोगभूमिज प्रजाजनोंको वड़ी सान्त्वना मिली। इस कुलकरके स्वर्गस्थ होनेके पश्चात् क्रमसे कालके व्यतीत होनेपर असंख्यात करोड़ वर्षोंको विताकर उत्तम वुद्धिका धारक सन्मति नामका दूसरा कुलकर हुआ ॥ ३९-४० ॥ उसकी आयु अममके वरावर असंख्यात वर्ष और शरीरकी ऊंचाई एक हजार तीन सौ (१३००) धनुप प्रमाण थी ॥ ४१ ॥ एक दिन रात्रिमें जव वेला (काल) सघन अन्धकारसे मलिन नहीं हुई थी तव तारागण आकाशरूपी आंगनको पूर्ण करके प्रकाशित हुए ॥ ४२ ॥ उस समय अकस्मात् ताराओंको देखकर उत्पन्न हुए भयने उन भोगभूमिजोंको इस प्रकार विचलित कर दिया जैसे कि प्राणिहिंसा योगियोंको विचलित कर देती है ॥ ४३ ॥ तव सन्मति कुलकरने क्षणभर विचार कर उन आर्योंसे कहा कि हे भद्र पुरुषो! यह कोई उपद्रव नहीं प्राप्त हुआ है। इसलिये आप लोग उनसे भयको प्राप्त न हों ॥ ४४ ॥ निरन्तर आकाशमार्गमें अवस्थित रहनेवाला यह ज्योतिर्मण्डल इस समय ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्षोंकी प्रभाके क्षीण हो जानेसे स्पष्टतया दृष्टिगोचर होने लगा है ॥ ४५ ॥ विद्वानोंमें श्रेष्ठ उस सन्मति कुलकरने उन्हें ज्योतिषी देवों विषयक ज्ञानके कुछ वीज भी वतलाये। उसके इस कथनसे आर्यगण शीघ्र ही भयसे निर्मुक्त हो गये ॥ ४६ ॥

तत्पश्चात् असंख्यात करोड़ वर्ष मात्र अन्तरको विताकर यहां क्षेमंकर नामका तीसरा कुलकर हुआ ॥ ४७ ॥ उस महान् तेजस्वी कुलकरकी आयु अटट प्रमाण और शरीरकी ऊंचाई

---

१ व तदाप्यधि॰। २ आ प कृतस्थितिः। ३ आ प कोटि।

पुरा किल मृगा भद्राः प्रजानां हस्तलालिताः । तदा तु विकृति[1] भेजुर्व्यात्तास्या भीषणस्वनाः[2] ॥
तेषां विक्रियया सान्तर्गर्जया तत्रसुः प्रजाः । इमे भद्रमृगाः पूर्वं संवसन्तोऽनुपद्रवाः ॥ ५०
इदानीं तु विना हेतोः श्रृङ्गैरभिभवन्ति नः । इति तद्वचनाज्जातसौहार्दो मनुरब्रवीत् ॥ ५१
कर्तव्यो नैषु विश्वासो बाधाः कुर्वन्त्युपेक्षिताः । इत्याकर्ण्य वचस्तस्य परिजह्रुस्तदा मृगान् ॥ ५२
मन्वन्तरमसंख्येयाः समाकोटीर्विलङ्घ्य च । अग्रेसरः सतामासीन्मनुः क्षेमंधराह्वयः ॥ ५३
त्रुटिताब्दमितं तस्य बभूवायुर्महात्मनः । शतानि सप्त चापानां सप्ततिः[3] पञ्च चोच्छ्रितिः[4] ॥ ५४
यदा प्रबलतां याताः पाकसत्त्वा महाक्रुधः । तदा लकुटयष्ट्याद्यैः[5] स रक्षाविधिमन्वशात् ॥ ५५
पुनर्मन्वन्तरं तत्र संजातं पूर्ववत् क्रमात् । मनुः सीमंकरो जज्ञे प्रजानां पुण्यपाकतः ॥ ५६
कमलप्रमितं तस्य बभूवायुर्महाधियः । शतानि सप्त पञ्चाशदुच्छ्रयो[6] धनुषां मतः ॥ ५७
कल्पाङ्घ्रिपा यदा जाता विरला मन्दकाः फलैः । तदा तेषु विसंवादो बभूवैषां परस्परम् ॥ ५८

आठ सौ (८००) धनुष मात्र थी ॥ ४८ ॥ जो भद्र मृग (पशु) पहिले प्रजाके हाथों द्वारा परिपालित थे वे उस समय मुंह फाड़कर भयानक शब्दको करते हुए विकारको प्राप्त हो चुके थे ॥ ४९ ॥ उनके इस अन्तर्गर्जना युक्त विकारसे प्रजाजन भयभीत होने लगे । [तब उन्होंने क्षेमंकर कुलकरसे निवेदन किया कि] ये भद्र मृग पहिले यहां विना किसी प्रकारके उपद्रवके रहते थे । किन्तु अब वे अकारण ही हम लोगोंको सींगोंसे अभिभूत करते हैं । इस प्रकारके उन आर्योंके वचनोंसे सौहार्दको प्राप्त होकर वह कुलकर बोला कि अब इनके विषयमें विश्वास न करो, इनकी यदि उपेक्षा की जायगी तो वे बाधा पहुंचा सकते हैं । तब उसके इन वचनोंको सुनकर आर्य जन उन मृगोंका परिहार करने लगे ॥ ५०–५२ ॥

अनन्तर असंख्यात करोड़ वर्षों प्रमाण मन्वन्तरका अतिक्रमण करके सज्जनोंमें श्रेष्ठ क्षेमंधर नामका चौथा कुलकर उत्पन्न हुआ ॥ ५३ ॥ उस महात्माकी आयु त्रुटित वर्ष प्रमाण और शरीरकी ऊंचाई सात सौ पचत्तर (७७५) धनुष मात्र थी ॥ ५४ ॥ जब ये क्रूर प्राणी अतिशय क्रोधित होकर प्रबलता (क्रूरता) को प्राप्त होने लगे तब क्षेमंधर कुलकरने उनसे दण्ड व लाठी आदिकोंके द्वारा अपनी रक्षा करनेकी विधि बतलायी ॥ ५५ ॥

तत्पश्चात् पहिलेके समान क्रमसे असंख्यात करोड़ वर्षों प्रमाण मन्वन्तर हुआ, अर्थात् क्षेमंधर कुलकरके स्वर्गस्थ हो जानेपर असंख्यात करोड़ वर्षों तक कोई कुलकर नहीं हुआ । उसके पश्चात् प्रजाजनोंके पुण्योदयसे सीमंकर नामका पांचवां कुलकर उत्पन्न हुआ ॥५६॥ उस महाबुद्धिमान् कुलकरकी आयु 'कमल' प्रमाण और शरीरकी ऊंचाई सात सौ पचास (७५०) धनुष मात्र मानी गई है ॥ ५७ ॥ उस समय जब कल्पवृक्ष विरल हो गये अर्थात् जहां तहां संख्यामें वे थोड़े-से रह गये तथा फलोंसे मन्द भी पड़ गये तब उनके विषयमें इन आर्यगणोंके बीच

१ प विहृतिं । २ प भीषणा° । ३ आ प सप्तति । ४ आ प पंचकोच्छ्रितिम् । ५ आ प यष्टाद्यैः । ६ आ ब °दुच्छ्रायो ।

ततो मनुरसौ मत्वा वाचा सीमविधिं व्यधात् । अतः सीमंकराख्यां तैर्लम्भितोऽन्वर्थतां गताम् ॥
पुनर्मन्वन्तरं प्राग्वदतिलङ्घ्य महोदयः । मनुः सीमंधरो नाम्ना समजायत पुण्यधीः ॥ ६०
नलिनप्रमितायुष्को नलिनास्येक्षणद्युतिः । धनुषां पञ्चवर्गाग्रमुच्छ्रितः शतसप्तकम् ॥ ६१
अत्यन्तविरला जाताः क्ष्माजा मन्दफला यदा । नृणां महान्[1] विसंवादः केशाकेशि तदावृधत्[2] ॥ ६२
क्षेमवृत्तिं ततस्तेषां मन्वानः स मनुस्तदा । सीमानि तरुगुल्मादिचिह्नितान्यकरोत् कृती ॥ ६३
ततोऽन्तरमभूद्भूयोऽप्यसंख्या वर्षकोटयः । तदन्तरव्यतिक्रान्तावभूद्विमलवाहनः ॥ ६४
पद्मप्रमितमस्यायुः पद्माश्लिष्टतनोरभूत् । धनुःशतानि सप्तैव तनूत्सेधोऽस्य वर्णितः ॥ ६५
तदुपज्ञं गजादीनां बभूवारोहणक्रमः । कुदाराङ्कुशपर्याणमुखभाण्डाद्युपक्रमैः[3] ॥ ६६
पुनरन्तरमत्रासीदसंख्येयाब्दकोटयः । ततोऽष्टमो मनुर्जातश्चक्षुष्मानिति शब्दितः ॥ ६७

परस्परमें विवाद होने लगा ॥ ५८ ॥ तब उस कुलकरने इस विवादको देखकर वचन मात्रसे उनकी सीमाका विधान बना दिया, अर्थात् उनके उपयोगके लिये उसने कुछ अलग अलग वृक्षोंका निर्देश कर दिया । इसी कारण उन आर्यगणोंने इसका 'सीमंकर' यह सार्थक नाम प्रसिद्ध कर दिया ॥ ५९ ॥

तत्पश्चात् फिरसे पहिलेके ही समान असंख्यात करोड़ वर्षों तक कोई कुलकर नहीं हुआ । तब कहीं इतने अन्तरके पश्चात् महान् अभ्युदयसे सम्पन्न पवित्रबुद्धि सीमंधर नामका छठा कुलकर उत्पन्न हुआ ॥ ६० ॥ कमलके समान मुख एवं नेत्रोंकी कान्तिसे सुशोभित उस कुलकरकी आयु 'नलिन' प्रमाण तथा शरीरकी ऊंचाई पांचके वर्ग (५×५=२५) से अधिक सात सौ (७२५) धनुष मात्र थी ॥ ६१ ॥ उस समय जब कल्पवृक्ष बहुत ही थोड़े रह गये और उनकी फलदानशक्ति भी अतिशय मन्द पड़ गई तब उन भोगभूमिज मनुष्योंके बीच केवल महाविसंवाद ही नहीं छिड़ा, बल्कि आपसमें एक दूसरेके बालोंको खींचकर मार पीटकी भी वृद्धि होने लगी ॥ ६२ ॥ तब उस विद्वान् कुलकरने उन आर्योंके कल्याणको महत्त्व देकर उक्त कल्पवृक्षोंकी सीमाओंको – जिन्हें सीमंकर कुलकरने वचन मात्रसे ही बद्ध किया था – अन्य वृक्ष एवं झाड़ी आदिकोंसे चिह्नित कर दिया ॥ ६३ ॥

तत्पश्चात् फिरसे भी असंख्यात करोड़ वर्ष प्रमाण मन्वन्तर हुआ, तब कहीं इतने अन्तरके बीत जानेपर विमलवाहन नामका सातवां कुलकर प्रादुर्भूत हुआ ॥ ६४ ॥ लक्ष्मीसे आलिंगित ऐसे सुन्दर शरीरको धारण करनेवाले इस कुलकरकी आयु 'पद्म' प्रमाण तथा शरीरकी ऊंचाई सात सौ (७००) धनुष मात्र कही गई है ॥ ६५ ॥ इस समय विमलवाहन कुलकरके उपदेशानुसार कुदार, अंकुश, पलान और मुखभाण्ड (तोबरा) आदिकी प्रवृत्तिपूर्वक हाथी आदिकोंकी सवारी प्रारम्भ हो गई थी ॥ ६६ ॥

इसके पश्चात् यहां फिरसे भी असंख्यात करोड़ वर्ष प्रमाण अन्तर हुआ, तब कहीं

१ आ प महा । २ आ ब °केशि तदा वृदंत्, प °केशि वृदंत् । ३ ब कुथारांकुश° ।

पद्माङ्गप्रमितायुष्कश्चापानां पञ्चसप्ततिम् । षट्छतान्यप्युदग्रश्रीरुच्छ्रिताङ्गो बभूव सः ॥ ६८
तस्य कालेऽभवत्तेषां क्षणं पुत्रमुखेक्षणम् । अदृष्टपूर्वमार्याणां महदुत्रासकारणम् ॥ ६९
ततः सपदि संजातसाध्वसानार्यकांस्तदा । तद्याथात्म्योपदेशेन स संत्रासमथो[थौ]ज्झयत् ॥ ७०
पुनरप्यन्तरं तावद्वर्षकोटीर्विलङ्घ्य सः । [1]यशस्वानित्यभून्नाम्ना यशस्वी नवमो मनुः ॥ ७१
कुमुदप्रमितं तस्य परमायुर्महीयसः । षट्छतानि च पञ्चाशद्धनूंषि वपुरुच्छ्रितिः ॥ ७२
तस्य काले प्रजा जन्यमुखालोकपुरस्सरम् । कृताशिषः क्षणं स्थित्वा लोकान्तरमुपागमन् ॥ ७३
ततोऽन्तरमतिक्रम्य तत्प्रायोग्याब्दसंमितम् । अभिचन्द्रोऽभवन्नाम्ना चन्द्रसौम्याननो मनुः ॥ ७४
कुमुदाङ्गप्रमायुष्को ज्वलन्मकुटकुण्डलः । पञ्चवर्गाग्रषट्चापशतोत्सेधः स्फुरत्तनुः ॥ ७५
तस्य काले प्रजास्तोकमुखं वीक्ष्य सकौतुकम् । आशास्य क्रीडनं चक्रुर्निशि चन्द्राभिदर्शनैः ॥ ७६
पुनरन्तरमुल्लङ्घ्य तत्प्रायोग्यसमाशतैः । चन्द्राभ इत्यभूत् ख्यातश्चन्द्रास्यः कालविन्मनुः ॥ ७७

चक्षुष्मान् नामका आठवां कुलकर उत्पन्न हुआ ॥ ६७ ॥ वह उन्नत शोभाका धारक कुलकर 'पद्मांग' प्रमाण आयुसे संयुक्त तथा छह सौ पचत्तर (६७५) धनुष मात्र ऊंचे शरीरवाला था ॥६८॥ उसके समयमें जिन आर्यगणोंने [प्रसवके साथ ही मरणको प्राप्त हो जानेके कारण] पहिले कभी सन्तानका मुख नहीं देखा था वे अब क्षणभर जीवित रहकर उसका मुख देखने लगे थे। यह उन्हें महान् भयका कारण बन गया था ॥ ६९ ॥ इस कारण उस समय चक्षुष्मान् कुलकरने शीघ्र ही भयसे संत्रस्त उन आर्यगणोंको सन्तानविषयक यथार्थताका उपदेश देकर उनके भयको दूर कर दिया था ॥ ७० ॥

उसके बाद फिरसे भी उतने (असंख्यात) करोड़ वर्षों प्रमाण कुलकरविच्छेदको बिताकर यशस्वान् नामका कीर्तिशाली नौवां कुलकर उत्पन्न हुआ ॥७१॥ उस तेजस्वी महा-पुरुषकी उत्कृष्ट आयु 'कुमुद' प्रमाण और शरीरकी ऊंचाई छह सौ पचास (६५०) धनुष मात्र थी ॥ ७२॥ उसके समयमें प्रजाजन सन्तानके मुखको देखकर और क्षणभर स्थित रहकर 'जीव, नन्द' आदि आशीर्वचनोंको कहते हुए परलोकको प्राप्त होते थे ॥ ७३ ॥

तत्पश्चात् उसके योग्य अर्थात् असंख्यात करोड़ वर्षों प्रमाण कुलकरविच्छेदको बिताकर चन्द्रमाके समान सौम्य मुखवाला अभिचन्द्र नामका दसवां कुलकर हुआ ॥७४॥ चमकते हुए मुकुट एवं कुण्डलोंसे विभूषित वह कुलकर 'कुमुदांग' प्रमाण आयुका धारक तथा पांचके वर्ग (२५) से अधिक छह सौ (६२५) धनुष मात्र ऊंचे देदीप्यमान शरीरसे सुशोभित था ॥ ७५ ॥ उसके समयमें प्रजाजन कौतूहलपूर्वक सन्तानके मुखको देखकर और आशीर्वाद देकर रात्रिमें चन्द्रमा आदिको दिखाते हुए उसको खिलाने लगे थे ॥ ७६ ॥

तत्पश्चात् फिर भी उसके योग्य सैकड़ों वर्षों प्रमाण मनुविच्छेदको लांघकर चन्द्रके समान सुन्दर मुखवाला समयज्ञ (समयकी गतिका जानकार) चन्द्राभ नामक ग्यारहवां प्रसिद्ध

1 आ ब यशस्वान्नित्य° ।

[1]नयुतप्रमितायुष्को विलसल्लक्षणोज्ज्वलः । धनुषां षट्छतान्युच्चः प्रोद्यदर्कसमद्युतिः ॥ ७८
तस्य कालेऽतिसंप्रीताः पुत्राशासनदर्शनैः । तुग्भिः सह स्म जीवन्ति दिनानि कतिचित्प्रजाः ॥ ७९
मरुद्देवोऽभवत्कान्तः कुलधृत्तदनन्तरम् । स्वोचितान्तरमुल्लङ्घ्य प्रजानामुत्सवो दृशाम् ॥ ८०
शतानि पञ्च पञ्चाग्रां सप्ततिं च समुच्छ्रितिः । धनूंषि [2]नयुताङ्गायुर्विवस्वानिव भास्वरः ॥८१
तस्य काले प्रजा दीर्घं प्रजाभिः स्वाभिरन्विताः । प्राणिषुस्तन्मुखालोकतदङ्गस्पर्शनोत्सवैः ॥ ८२
नौद्रोणीसंक्रमादीनि जलदुर्गेष्वकारयत् । गिरिदुर्गेषु सोपानपद्धतीः सोऽधिरोहणे ॥ ८३
ततः प्रसेनजिज्जज्ञे[3] प्रभविष्णुर्मनुर्महान् । कर्मभूमिस्थितावेवमभ्यर्णायां शनैः शनैः ॥ ८४
[4]पर्वप्रमितमाम्नातं मनोरस्यायुरञ्जसा । शतानि पञ्च चापानां शतार्धं च तदुच्छ्रितिः ॥ ८५
तदाभूदर्भकोत्पत्तिर्जरायुपटलावृता । ततस्तत्कर्षणोपायं स प्रजानामुपादिशत् ॥ ८६
तदनन्तरमेवाभून्नाभिः कुलधरः सुधीः । युगादिपुरुषैः पूर्वैरुद्धूढां धुरमुद्वहन् ॥ ८७
पूर्वकोटिमितं तस्य परमायुस्तनूच्छ्रितिः । शतानि पञ्च चापानां पञ्चवर्गाधिकानि वै ॥ ८८

कुलकर हुआ ॥ ७७ ॥ सुन्दर लक्षणोंसे उज्ज्वल एवं उदित होते हुए सूर्यके समान कान्तिवाला वह कुलकर 'नयुत' प्रमाण आयुका धारक और छह सौ (६००) धनुष ऊंचा था ॥७८॥ उसके समयमें प्रजाजन पुत्रोंके दर्शन एवं आश्वासनसे अतिशय प्रीतिको प्राप्त होकर सन्तानके साथ कुछ दिन जीवित रहने लगे थे ॥७९॥

उसके पश्चात् अपने योग्य मन्वन्तरको लांघकर प्रजाजनोंके नेत्रोंको आनन्दित करनेवाला रमणीय मरुद्देव नामका बारहवां कुलकर उत्पन्न हुआ ॥८०॥ यह कुलकर सूर्यके समान तेजस्वी था। उसके शरीरकी ऊंचाई पांच सौ पचत्तर (५७५) धनुष और आयु 'नयुतांग' प्रमाण थी ॥८१॥ उसके समयमें प्रजाजन अपनी सन्तानके साथ वहुत समय तक स्थित रहकर उसके मुखावलोकन और अंगस्पर्शरूप उत्सवोंसे अतिशय प्रीतिको प्राप्त होते थे ॥८२॥ उसने जलमय दुर्गम स्थानों (नदी-समुद्र आदि) में जानेके लिये नाव, द्रोणी (छोटी नाव) एवं पुल आदिका तथा पर्वतादिरूप दुर्गम स्थानोंके ऊपर चढ़नेके लिये सीढ़ियोंकी प्रणालीका निर्माण कराया ॥८३॥

तत्पश्चात् धीरे धीरे कर्मभूमिकी स्थितिके निकट होनेपर महान् प्रभावशाली प्रसेनजित् नामका तेरहवां कुलकर उत्पन्न हुआ ॥ ८४ ॥ इस कुलकरकी आयु निश्चयतः पर्व प्रमाण और शरीरकी ऊंचाई पांच सौ पचास (५५०) धनुष मात्र थी ॥८५॥ उस समय सन्तानकी उत्पत्ति जरायुपटलसे वेष्टित होने लगी थी, इसलिये उसने प्रजाजनोंको उक्त जरायुपटलके छेदनेका उपाय निर्दिष्ट किया था ॥८६॥

उसके अनन्तर ही युगादि पुरुषों (पूर्व कुलकरों) के द्वारा धारण किये गये भारको धारण करनेवाला बुद्धिमान् नाभिराय नामका चौदहवां कुलकर हुआ ॥८७॥ उसकी उत्कृष्ट आयु पूर्वकोटि प्रमाण तथा शरीरकी ऊंचाई पांचके वर्ग (२५) से अधिक पांच सौ (५२५)

१ ब नवुत°। २ ब नवुतं°। ३ ब °जिदजज्ञे। ४ प पूर्वं।

तस्य काले सुतोत्पत्तौ नाभिनालमदृश्यत । स तन्निकर्तनोपायमादिशन्नाभिरित्यभूत् ॥ ८९
तस्यैव काले जलदाः कालिकाः कर्वुरत्विषः । प्रादुरासन्नभोभागे सान्द्रा सेन्द्रशरासनाः ॥ ९०
शनैःशनैर्विवृद्धानि क्षेत्रेष्वविरलं तदा । सस्यान्यकृष्टपच्यानि[1] नानाभेदानि सर्वतः ॥ ९१
प्रजानां पूर्वसुकृतात् कालादपि च तादृशात् । सुपक्वानि यथाकालं फलदायीनि रेजिरे ॥ ९२
तदा पितृव्यतिक्रान्तावपत्यानीव तत्पदम् । कल्पवृक्षोचितं स्थानं तान्यध्याशिषत स्फुटम् ॥९३
नातिवृष्टिरवृष्टिर्वा तदासीत् किंतु मध्यमा । वृष्टिस्ततत्सर्वधान्यानां फलावाप्तिरविप्लुता ॥ ९४
षष्टिकाकलमव्रीहियवगोधूमकङ्गवः । शामाककोद्रवोदारनीवारवरकास्तथा ॥ ९५
तिलातस्यौ मसूरश्च सर्षपो धान्यजीरके । मुद्गमाषाढकीराजमाषनिष्पावकाश्चणः ॥ ९६
कुलत्थत्रिपुटा चेति धान्यभेदास्त्विमे मताः । सकुसुम्भाः सकार्पासाः प्रजाजीवनहेतवः ॥ ९७
उपभोग्येषु धान्येषु सत्स्वप्येषु तदा प्रजाः । तदुपायमजानानाः स्वतोऽमूर्मुहुर्मुहुः[2] ॥ ९८
कल्पद्रुमेषु कार्त्स्न्येन प्रलीनेषु निराश्रयाः । युगस्य परिवर्तेऽस्मिन् अभूवन्नाकुला कुलाः ॥ ९९
तीव्रायामशनायायामुदीर्णाहारसंज्ञकाः । जीवनोपायशंसीतिव्याकुलीकृतचेतसः ॥ १००

धनुष मात्र थी ॥८८॥ उसके समयमें सन्तानकी उत्पत्तिके समय नाभिनाल दिखाई देने लगा था। चूंकि उसके छेदनेका उपाय इस कुलकरने बतलाया था, अतः वह 'नाभि' इस नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥८९॥ आकाशमण्डलमें इन्द्रधनुषके साथ कर्वुर (भूरा रंग) कान्तिवाले काले घने मेघोंका प्रादुर्भाव उसके ही समयमें हुआ था ॥९०॥ उस समय खेतोंमें सब ओर अनेक प्रकारके धान्य (अनाज) के अंकुर विना जोते व विना बोये ही धीरे धीरे सघनरूपमें वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे। वे समयानुसार प्रजाजनोंके पूर्व पुण्यके वश तथा उस प्रकारके कालके ही प्रभावसे भी पक करके फल देनेके योग्य हो गये थे ॥९१–९२॥ उस समय पिताके स्वर्गस्थ होनेपर जैसे सन्तान उसके स्थानको ग्रहण कर लेती है वैसे ही उन अनाजोंने पूर्वोक्त कल्पवृक्षोंका उचित स्थान ग्रहण कर लिया था ॥९३॥

उस समय न अतिवृष्टि होती थी और न अवृष्टि (वर्षाभाव) भी, किन्तु मध्यम वृष्टि होती थी; जिससे विना किसी प्रकारके उपद्रवके समस्त अनाजोंकी फलप्राप्ति होती थी ॥९४॥ षष्ठिक (साठ दिनोंमें पककर तैयार होनेवाली साठी धान), कलम, व्रीहि, जौ, गेहूं, कंगु (कांगणी), श्यामाक (समा), कोद्रव (कोदों), उदार नीवार, वरक, तिल, अलसी, मसूर, सरसों, धनियां, जीरा, मूंग, उड़द, आढकी (अरहर), रोंसा, निष्पावक (मोठ), चना, कुलथी और तेवरा ये अनाजके भेद माने गये हैं। कुसुम्भ और कपासके साथ ये सब प्रजाजनोंकी आजीविकाके कारण माने गये हैं ॥९५–९७॥ उपभोगके योग्य इन अनाजोंके होनेपर भी उनके उपायको न जाननेवाली प्रजा उस समय बार बार मोहको प्राप्त होती थी ॥९८॥ युगके इस परिवर्तनमें जब कल्पवृक्ष पूर्णतया नष्ट हो गये तब निराश्रय होकर प्रजाके लोग आकुलताको प्राप्त हुए ॥९९॥ उस समय आहारसंज्ञाकी उदीरणासे तीव्र भूखके लगनेपर जीवित रहनेके उपायके विषयमें सन्देहको प्राप्त हुए उन प्रजाजनोंके चित्त अत्यन्त व्याकुल हो

१ प सस्यान्नकृष्ट° । २ आ ब स्वतोमूर्मुहुर्मुहुः, प स्वतोभूर्मुहुर्मुहुः ।

युगमुख्यमुपासीना नाभिं मनुमपश्चिमम्[1] । ते तं विज्ञापयामासुरिति दीनगिरो नराः ॥ १०१
जीवामः कथमेवाद्य नाथानाथा विना द्रुमैः । कल्पदायिभिराकल्पमविस्मार्यैरपुण्यकाः ॥ १०२
इमे केचिदितो देव तरुभेदाः समुत्थिताः । शाखाभिः फलनम्राभिराह्वयन्तीव नोऽधुना ॥ १०३
किमिमे परिहर्तव्याः किं वा भोग्यफला इमे । फलेग्रहीनिमेऽस्मान् वानिग्रहन्त्यनुपान्ति वा ॥१०४
अमीषामुपशल्येषु[2] केप्यमी तृणगुल्मकाः । फलनम्रशिखा भान्ति विश्वदिक्कमितोऽमुतः ॥ १०५
क एषामुपयोगः स्याद्विनियोज्याः कथं नु वा । किमिमे स्वैरसंग्राह्या न वेतीदं वदाद्य नः ॥ १०६
त्वं देव सर्वमप्येतद्वेत्सि नाभेऽनभिज्ञकाः । पृच्छामो वयमद्यार्तास्ततो ब्रूहि प्रसीद नः ॥ १०७
इति कर्तव्यतामूढानतिभीतांस्तदार्यकान् । नाभिर्न भेयमित्युक्त्वा[3] व्याजहार पुनः स तान् ॥१०८
इमे कल्पतरूच्छेदे द्रुमाः पक्वफलानताः । युष्मानद्यानुगृह्णन्ति पुरा कल्पद्रुमा यथा ॥ १०९
[4]भद्रकास्तदिमे भोग्याः कार्या न भ्रान्तिरत्र वः । अमी च परिहर्तव्या दूरतो विषवृक्षकाः ॥ ११०
इमाश्च नामौषधयः स्तम्बकर्यादयो मताः । एतासां भोज्यमन्नाद्यं व्यञ्जनाद्यैः[5] सुसंस्कृतम् ॥१११

उठे थे ॥१००॥ तब उन सबने युगके नेता स्वरूप अन्तिम कुलकर नाभिरायके समीप जाकर दीन वचनोंमें उनसे इस प्रकार निवेदन किया ॥१०१॥

हे नाथ ! जो कल्पवृक्ष कल्पित (इच्छित) वस्तुओंके देनेवाले थे और इसीलिये जिनको कल्पकाल पर्यंत कभी भुलाया नहीं जा सकता है; उनके विना आज हम अनाथ हुए पापी जन किस प्रकारसे जीवित रहें ? ॥१०२॥ हे देव ! इधर जो ये कितने ही विभिन्न जातिके पेड़ उत्पन्न हुए हैं वे फलभारसे नम्रीभूत हुई अपनी शाखाओंके द्वारा मानों इस समय हमें बुला ही रहे हैं। क्या इनको छोड़ा जाय, अथवा इनके फलोंका उपयोग किया जाय ? फलोंके ग्रहण करनेपर ये हमारा निग्रह करेंगे अथवा पालन करेंगे ? ॥१०३–१०४॥ इधर उन वृक्षोंके समीपकी भूमिमें सब ओर फलोंसे नम्र हुई शिखाओंसे सुशोभित जो ये कितनी ही क्षुद्र झाडियां शोभायमान हो रहीं हैं उनका क्या उपयोग हो सकता है और किस प्रकारसे वे काममें लायी जा सकती हैं, क्या इनका इच्छानुसार संग्रह किया जा सकता है अथवा नहीं; इन सब वातोंको आज हमें वतलाइये ॥१०५–१०६॥ हे नाभिराय देव ! आप इस सभीको जानते हैं और हम इससे अनभिज्ञ हैं, इसीलिये हम आज दुखित होकर आपसे पूछ रहे हैं। अत एव आप प्रसन्न होकर इन सब वातोंको हमें समझाइये ॥१०७॥

इस प्रकार कर्तव्य-अकर्तव्यके विपयमें विमूढ होकर अत्यन्त भयको प्राप्त हुए उन आर्य पुरुषोंको 'आप लोग भयभीत न हों' ऐसा कहकर नाभिराय इस प्रकार बोले ॥१०८॥ कल्पवृक्षोंके नष्ट हो जानेपर फलोंके भारसे नम्रीभूत हुए ये जो वृक्ष उत्पन्न हुए हैं वे आप लोगोंका इस समय उसी प्रकारसे उपकार करेंगे जिस प्रकार कि पहिले कल्पवृक्ष किया करते थे ॥१०९॥ इसलिये हे भद्र पुरुषो ! इनका उपयोग कीजिए, इनके विषयमें आप किसी प्रकारका सन्देह न करें। परन्तु ये जो सामने विपवृक्ष हैं उनका दूरसे ही परित्याग कीजिये ॥११०॥ इनके अतिरिक्त ये स्तम्बकरी आदि औपधियां मानी गई हैं। व्यंजन आदिकोंसे सुसंस्कृत किये गये

१ प मनुं पश्चिमम् । २ प्रतिपु मुपशल्येपु । ३ प्रतिपु नाभिर्नाभेय° । ४ प भद्रिका ।
५ आदिपु. व्यञ्जनाद्यः ।

स्वभावमधुराश्चैते दीर्घाः पुण्ड्रेक्षुदण्डकाः[1] । रसीकृत्य प्रपातव्या दन्तैर्यन्त्रैश्च पीडिताः ॥ ११२
गजकुम्भस्थले तेन मृदा निर्वर्तितानि[2] च । पात्राणि विविधान्येषां स्थाल्यादीनि दयालुना ॥ ११३
इत्याद्युपायकथनैः प्रीताः सत्कृत्य तं मनुम् । भेजुस्तद्दर्शितां वृत्तिं प्रजाः कालोचितां तदा ॥ ११४
प्रजानां हितकृद् भूत्वा भोगभूमिस्थितिच्युतौ । नाभिराजस्तदोद्भूतो भेजे कल्पतरुस्थितिम् ॥ ११५
पूर्वं व्यावर्णिता ये ये प्रतिश्रुत्यादयः क्रमात् । पुराभवे बभूवुस्ते विदेहेषु महान्वयाः ॥ ११६
कुशलैः पात्रदानाद्यैः अनुष्ठानैर्यथोचितैः । सम्यक्त्वग्रहणात्पूर्वं बद्ध्वायुर्भोगभूभुवाम् ॥ ११७
पश्चात् क्षायिकसम्यक्त्वमुपादाय जिनान्तिके । अत्रोदपत्सत स्वायुरन्ते ते श्रुतपूर्विणः ॥ ११८
इमं नियोगमाध्याय प्रजानामित्युपादिशन् । केचिज्जातिस्मरास्तेषु केचिच्चावधिलोचनाः ॥११९
प्रजानां जीवनोपायमननान्मनवो मताः । आर्याणां कुलसंस्त्यायकृतेः[3] कुलकरा इमे ॥ १२०

इनके अन्न आदिका भोजन करना चाहिए ॥१११॥ स्वभावसे मीठे ये जो दण्डके समान लंबे पौंड़ा और ईखके पेड़ हैं उनको दांतोंसे अथवा कोल्हू आदि यंत्रोंसे पीड़ित करके रस निकालना चाहिए और उसका पान करना चाहिए ॥११२॥ उन दयालु नाभिराय कुलकरने हाथीके कुम्भस्थलपर थाली आदि अनेक प्रकारके पात्रोंको मिट्टीसे निर्मापित कराया ॥११३॥ तब इनको आदि लेकर और भी अनेक उपायोंके बतलानेसे प्रसन्नताको प्राप्त हुए प्रजाके लोग उक्त नाभिराय कुलकरका सत्कार करके उसके द्वारा निर्दिष्ट समयोचित आजीविकाको करने लगे ॥ ११४॥

भोगभूमि अवस्थाका विनाश होनेपर प्रजाके हितैषी होकर उत्पन्न हुए नाभिराय कुलकर उस समय कल्पवृक्षकी अवस्थाको प्राप्त हुए। अभिप्राय यह कि भोगभूमि अवस्थाके वर्तमान होनेपर जिस प्रकार अभीष्ट सामग्रीको देकर कल्पवृक्ष उन प्रजाजनोंका साक्षात् उपकार करते थे उसी प्रकार चूंकि नाभिराय कुलकरने तब भोगभूमि अवस्थाके विनष्ट हो जानेपर उक्त प्रजाजनोंको आजीविकाके उपाय बतलाकर उनका महान् उपकार किया था, अत एव वे उन्हें कल्पवृक्ष जैसे प्रमाणित हुए ॥११५॥ जिन जिन प्रतिश्रुति आदि कुलकर पुरुषोंका पूर्वमें क्रमसे वर्णन किया गया है वे पूर्व जन्ममें विदेह क्षेत्रोंके भीतर महान् कुलोंमें उत्पन्न हुए थे ॥११६॥ वे सम्यक्त्वग्रहण करनेके पहिले यथायोग्य पात्रदानादिस्वरूप पुण्यबन्धक अनुष्ठानोंके द्वारा भोगभूमिजोंकी आयुको बांधकर और फिर जिन भगवान्‌के समीपमें क्षायिक सम्यक्त्वको ग्रहण करके पूर्वश्रुतके धारी होते हुए आयुके अन्तमें यहां उत्पन्न हुए थे ॥११७–११८॥ उनमें कितने ही जातिस्मरणसे सहित थे और कितने ही अवधिज्ञानरूपी नेत्रके धारक थे। इसीलिये उन्होंने स्मरण करके प्रजाजनोंके लिये इस नियोगका उपदेश दिया था ॥११९॥ ये प्रजाजनोंकी आजीविकाके उपायका मनन करने अर्थात् जाननेके कारण 'मनु' तथा आर्यजनोंके कुलोंकी रचना करनेसे 'कुलकर' माने गए हैं ॥१२०॥ इसी प्रकार

१ प पुंगेक्षु° । २ आ प निर्वर्तिकानि । ३ प संस्याय° ।

कुलानां धारणादेते मताः कुलधरा इति । युगादिपुरुषाः प्रोक्ता युगादौ प्रभविष्णवः ॥ १२१
वृषभस्तीर्थकृच्चैव कुलभृच्चैव संमतः[1] । भरतश्चक्रभृच्चैव कुलधृच्चैव[2] वर्णितः ॥ १२२
अत्राद्यैः पञ्चभिर्नृणां कुलकृद्भिः कृतागसाम् । हाकारलक्षणो दण्डः समवस्थापितस्तदा[3] ॥ १२३
हा-माकारौ च दण्डोऽन्यैः[4] पञ्चभिः संप्रवर्तितः । पञ्चभिस्तु ततः शेषैः हा-मा-धिक्कारलक्षणः ॥
शरीरदण्डनं चैव वधबन्धादिलक्षणम् । नृणां[5] प्रबलदोषाणां भरतेन नियोजितम् ॥ १२५
यदायुरुक्तमेतेषाममभादिप्रसंख्यया । क्रियते तद्विनिश्चित्यै परिभाषोपवर्णनम् ॥ १२६
पूर्वाङ्गं वर्षलक्षाणामशीतिश्चतुरुत्तरा । तद्वर्गितं भवेत्पूर्वं तत्कोटी पूर्वकोटयसौ ॥ १२७
पूर्वं चतुरशीतिघ्नं पर्वाङ्गं[6] परिभाष्यते । पूर्वाङ्गताडितं तत्तु पर्वाङ्गं[7] पर्वमिष्यते ॥ १२८
गुणाकारविधिः सोऽयं योजनीयो यथाक्रमम् । उत्तरेष्वपि संख्यानविकल्पेषु निराकुलम् ॥ १२९

ये कुलोंके धारण करनेसे 'कुलधर' माने गए हैं, तथा युगके आदिमें उत्पन्न होनेके कारण 'युगादिपुरुष' भी कहे गए हैं ॥१२१॥ वृषभदेव तीर्थंकर भी माने गये हैं और कुलकर भी माने गये हैं। भरत राजा चक्रवर्ती भी कहे गए हैं और कुलधर भी ॥१२२॥

इनमेंसे आदिके पांच कुलकर पुरुषोंने अपराध करनेवाले पुरुषोंके लिये उस समय 'हा' इस प्रकारका दण्ड स्थापित किया था, जिसका अभिप्राय कृत अपराधके प्रति केवल खेद मात्र प्रगट करना या उसका अनौचित्य बतलाना था ॥१२३॥ आगेके अन्य पांच कुलकरोंने अपराध करनेवालोंके लिये 'हा–मा' इस प्रकारके दण्डका उपयोग किया था। इसका अभिप्राय किये गये अपराध कार्यका अनौचित्य प्रगट करके आगेके लिये उसका निषेध करना था। शेष पांच कुलकर पुरुषोंने उनके लिए 'हा-मा-धिक्' इस प्रकारका दण्ड स्थापित किया था। इसका अभिप्राय कृत कार्यका अनौचित्य प्रगट करके झिड़की देते हुए आगेके लिये उसका निषेध करना था ॥ १२४ ॥ भरत चक्रवर्तीने महान् अपराध करनेवाले मनुष्योंके लिये ताड़ना करने एवं बन्धनमें डालने आदिरूप शारीरिक दण्ड भी नियुक्त किया था ॥१२५॥

इन कुलकरोंकी पहिले जो 'अमम' आदिके प्रमाणसे आयु बतलायी गई है उसका निश्चय करनेके लिये उन परिभाषाओंका वर्णन किया जाता है– चौरासी लाख (८४०००००) वर्षोंका एक पूर्वांग होता है। उसको वर्गित करनेपर (८४०००००^{2} =७०५६००००००००००) एक पूर्व, तथा उसे एक करोड़से गुणित करनेपर एक पूर्वकोटि कहा जाता है ॥१२६–१२७॥ चौरासीसे गुणित पूर्वको पर्वांग कहा जाता है और उस पर्वांगको पूर्वांगसे (८४ लाख) गुणित करनेपर जो संख्या प्राप्त हो वह पर्व मानी जाती है ॥१२८॥ आगेके संख्याभेदोंमें भी निराकुल होकर क्रमसे इसी गुणाकारविधिकी योजना करना चाहिये [जैसे– पर्वको चौरासी (८४) से गुणित करनेपर वह नयुतांग तथा इस नयुतांगको चौरासी लाख (८४०००००) से गुणित करनेपर वह नयुत कहा जाता है, इत्यादि। विशेषके लिये देखिये ति. प. गा. ४, २९५–३०८] ॥१२९॥

१ आ प 'कृच्चैव संमतः । २ प कुलभृच्चैव । ३ आ प स्थापितः सदा । ४ आ प दण्डान्यैः । ५ ब नृणां । ६ प पूर्वांगं । ७ आ प पूर्वांगं

तेषां संख्यानभेदानां नामानीमान्यनुक्रमात् । कीर्त्यन्तेऽनादिसिद्धान्तपदरूढीनि यानि वै ॥ १३०
पूर्वाङ्गं च तथा पूर्वं पर्वाङ्गं पर्व साह्वयम् । नयुताङ्गं[1] परं तस्मान्नयुतं[2] च ततः परम् ॥ १३१
कुमुदाङ्गमतो विद्धि कुमुदाह्वमतः[3] परम् । पद्माङ्गं च तथा पद्मं नलिनाङ्गमतोऽपि च ॥ १३२
नलिनं कमलाङ्गं च तथान्यत् कमलं विदुः । तुटचङ्गं तुटितं चान्यदटटाङ्गमथाटटम् ॥ १३३
अममाङ्गमतो ज्ञेयममनमाख्यमतः परम् । हाहाङ्गं च तथा हाहा हूहूश्चैवं प्रतीयताम् ॥ १३४
लताङ्गं च लताह्वं च महत्पूर्वं च तद्द्वयम् । शिरःप्रकम्पितं चान्यत्ततो हस्तप्रहेलितम् ॥ १३५
अचलात्मकमित्येवंप्रकारः[4] कालपर्ययः । संख्येयो गणनातीतं विदुः कालमतः परम् ॥ १३६
यथासंभवमेतेषु मनूनामायुरूह्यताम्[5] । संख्याज्ञानमिदं विद्वान् सुधीः पौराणिको भवेत् ॥ १३७
अल्पे शिष्टे तृतीयान्ते क्षीणे वृक्षगुणे क्रमात् । लोभादिषु प्रवृद्धेषु कर्मभूमिश्च जायते ॥ १३८
असिर्मसिः कृषिर्विद्या वाणिज्यव्यवहारता । इति प्रोक्तानि कर्माणि शिल्पानि च महात्मना ॥ १३९
अहिंसादिगुणैर्युक्तस्त्यागेन्द्रियजयात्मकः । दर्शनज्ञानवृत्तात्मा ततो धर्मो हि देशितः ॥१४०
पुरग्रामनिवेशाश्च आकरः पत्तनानि च । अध्यक्षव्यवहाराश्च आदिराजकृता भुवि ॥ १४१
जिनाश्चक्रधरा भूपा हलिनः केशवा अपि । कर्मभूमिषु जायन्ते नाभूवन् ये युगत्रये ॥ १४२

~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

यहां उन संख्याभेदोंके इन नामोंका यथाक्रमसे निर्देश किया जाता है जिस प्रकारसे कि वे प्रवाहस्वरूपसे अनादि आगमके पदोंमें प्रसिद्ध हैं ॥१३०॥ पूर्वांग, पूर्व, पर्वांग, पर्व, नयुतांग, नयुत, कुमुदांग, कुमुद, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, कमलांग, कमल, तूटचंग, तुटित, अटटांग, अटट, अममांग, अमम, हाहांग, हाहा, हूहू-अंग, हूहू, लतांग, लता, महालतांग, महालता, शिरःप्रकम्पित, हस्तप्रहेलित और अचलात्मक; इस प्रकारकी पर्यायोंस्वरूप वह काल संख्येय कहा जाता है। इससे आगेके गणना रहित उस कालको असंख्येय काल जानना चाहिए ॥१३१–१३६॥ उपर्युक्त कुलकरोंकी आयु यथासम्भव इन्हीं भेदोंमें जानना चाहिये। इस संख्याज्ञानका जानकार पुराणका वेत्ता (पण्डित) होता है ॥१३७॥

तृतीय कालके अन्तमें थोड़ा-सा ही काल शेष रह जानेपर क्रमशः कल्पवृक्षोंकी फलदान शक्तिके नष्ट हो जानेसे मनुष्योंमें लोभादिकी वृद्धि होती है और इस प्रकारसे कर्मभूमिका प्रारम्भ होता है ॥१३८॥ असि (शस्त्रधारण), मसि (लेखन कार्य), कृषि (खेती), विद्या (संगीत, नृत्य एवं अध्यापन आदि), वाणिज्यव्यवहार (क्रय-विक्रय आदि) तथा शिल्प (कारीगरी), ये कर्मभूमिमें महातमा नाभिरायके द्वारा आजीविकाके योग्य छह कर्म कहे गए थे ॥ १३९ ॥ उस समय अहिंसा आदि गुणोंसे संयुक्त, त्याग व इन्द्रियनिग्रहके आश्रित; सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्रस्वरूप धर्म बतलाया गया था ॥१४०॥

कर्मभूमिका प्रारंभ होनेपर इस पृथिवीपर भगवान् आदिनाथने ग्रामाध्यक्ष आदिके व्यवहारके साथ ही पुरों, ग्रामों, आवासों आकरों एवं पत्तनोंकी भी रचना की थी ॥१४१॥ तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण और प्रतिनारायण; ये तिरेसठ शलाकपुरुष कर्मभूमियोंमें उत्पन्न

---

१ ब नवुतांगं। २ ब °न्नवुतं। ३ प °ह्वयमतः। ४ प प्राकारः। ५ प °रुह्यताम्।
~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~~

पूर्वकोटिः प्रकृष्टायुः प्रत्यहं चापि भोजनम् । धनुष्पञ्चशतोच्छ्रायश्चतुर्थ्यादौ नृणां भवेत् ॥१४३
।७०५६१७।
पञ्चवर्णशरीराश्च धर्माधर्मरताः प्रजा । कुपाखण्डा[1] न विद्यन्ते तस्मिन् काले समागते ॥ १४४
पञ्चस्वपि विदेहेषु चतुर्थ्यादियुगं स्थितम् । गुणेषु हीयमानेषु[2] पञ्चमी चोपतिष्ठते ॥ १४५
तत्रादौ सप्तहस्तोच्चा[3] विंशत्यब्दशतायुषः । [4]रूक्षवर्णशरीराश्च प्रायाहाराश्च मानवाः ॥ १४६
स्तब्धा लुब्धाः कृतघ्नाश्च पापिष्ठाः प्रायशः शठाः । रूक्षाः क्रूरा जडा मूर्खा अमर्यादा अधार्मिकाः ॥
हिंसाचौर्यानृतोद्युक्ताः कातराः परदूषकाः । पिशुनाः क्रोधना धूर्ताः पञ्चमे प्रायशो नराः ॥ १४८
डामरक्षामरोगार्ता बाधाभग्नाश्च मानवाः । न त्रातारं न भर्तारं लभन्ते कालकर्षिताः[5] ॥ १४९
ईतिचोरठकाद्याढ्या त्वनावृष्टिविरूक्षिता । व्याधापहृतभार्या च तथा भूमिर्न शोभते ॥ १५०
व्यालकीटमृगव्याधैरन्यायायुक्तिकेश्वरैः । कुहकैश्च वृथा लोको यथेष्टमभिपीड्यते ॥ १५१

होते हैं; सुषमसुषमा आदि पूर्वके तीन कालोंमें वे नहीं उत्पन्न होते ॥१४२॥ चतुर्थ कालके प्रारम्भमें मनुष्योंकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि (७०५६शून्य१७) प्रमाण, प्रतिदिन आहारग्रहण और शरीरकी ऊंचाई पांच सौ धनुष प्रमाण होती है ॥१४३॥ उस काल (चतुर्थ) के शरीरोंका वर्ण (द्रव्य लेश्या) पांच प्रकारका होता है । तथा प्रजाजन धर्म एवं अधर्म दोनोंमें उपस्थित होनेपर ही निरत होते हैं, अर्थात् उनमें बहुत-से धर्मातमा भी होते हैं और बहुत-से पापिष्ठ भी होते हैं। उस समय निकृष्ट पाखण्डी नहीं रहते हैं ॥१४४॥

पांचों ही विदेहोंमें चतुर्थ कालके प्रारम्भ जैसा युग स्थित रहता है । [पांच भरत एवं ऐरावत क्षेत्रोंमें] क्रमशः वृद्धि व आयु आदि गुणोंके हीयमान होनेपर चतुर्थ कालके बाद पंचम काल उपस्थित होता है ॥१४५॥ उसके प्रारम्भमें शरीरकी ऊंचाई सात हाथ और आयु एक सौ वीस वर्ष प्रमाण होती है । इस कालमें उत्पन्न हुए मनुष्य रूखे वर्णयुक्त शरीरसे संयुक्त होते हुए प्रचुरतासे भोजन करनेवाले होते हैं ॥ १४६ ॥ पंचम कालमें उत्पन्न हुए मनुष्य प्रायः करके कुण्ठित, लोभी, कृतघ्न, पापिष्ठ, प्रायः करके दुष्ट, रूखे, क्रूर, जड, मूर्ख, मर्यादासे रहित, अधार्मिक, हिंसा, चोरी एवं असत्यमें उद्युक्त (प्रवर्तमान), कातर, परनिन्दक, पिशुन, क्रोधी और धूर्त होते हैं ॥१४७–१४८॥ इस कालके मनुष्य विप्लव (उपद्रव) को सहनेवाले, कृश, रोगोंसे पीड़ित और बाधाओंसे भग्न होते हैं । कालके प्रभावसे वे उस समय किसी रक्षक और भरण-पोषण करनेवालेको नहीं पाते हैं ॥१४९॥ इस कालमें ईति, चोर एवं ठग आदिसे सहित तथा वर्षासे रहित रूखी पृथिवी शोभायमान नहीं होती है । उस समय इस पृथिवीके ऊपर व्याधोंके द्वारा स्त्रियोंका अपहरण किया जाता है ॥ १५० ॥ इस कालमें व्याल (सर्प) कीड़े मृगादि पशु, व्याध (शिकारी), अन्याय व अयोग्य आचरण करनेवाले तथा कपटी लोगोंके द्वारा प्रजाजनोंको मनमाना कष्ट पहुंचाया जाता है ॥ १५१ ॥

१ ब कुपापंडा । २ ब हिय॰ । ३ प हस्तोच्च । ४ प रक्ष॰ । ५ ब कर्शिताः ।

हस्तद्वयसमुच्छ्राया धूमश्यामा विरूपकाः । षष्ठादौ पञ्चमान्ते च विंशत्यब्दायुषोऽधिकात् ॥ १५२
तत्र सूर्योदये धर्मो मध्याह्ने राजशासनम् । अस्तं गच्छति सूर्येऽग्निर्नश्यत्येकदिने क्रमात् ॥ १५३
धर्मे लोकगुरौ नष्टे पितरीव नृपेऽपि च । आधारे च महत्यग्नौ अनाथं जायते जगत् ॥ १५४
कालदोषविनष्टानामज्ञानां नीचकर्मणाम् । [1]त्यक्तानामपि धर्मेण मृगाचारः प्रवर्तते ॥ १५५
ततः कालानुभावेन प्रजानामपि पीडया । घोरः संवर्तको नाम्ना प्रादुर्भवति मारुतः ॥ १५६
चूर्णयित्वाद्रिवृक्षांश्च भित्त्वा भूमितलानि सः । दिशो भ्राम्यति भूतानां पीडां घोरामुदीरयन् ॥ १५७
वृक्षभङ्गशिलाभेदैर्भ्रमद्भिर्वातघूर्णितैः । म्रियन्ते परितो[2] जीवा मूर्च्छन्ति विलपन्ति च ॥ १५८
विजयार्धान्तमासन्ना भीता उत्पातदर्शनात् । भग्नशेषा नरास्तत्र गङ्गासिन्धुमुखान्तिकाः ॥ १५९
प्रविशन्ति बिलं कृच्छ्रान्नद्योस्तीरं समाश्रिताः । द्विसप्ततिनिगोदास्तु तत्र जीवन्ति बीजवत् ॥ १६०

उक्तं च द्वयं [3]त्रिलोकप्रज्ञप्तौ [४,१५४७-४८]—

गंगासिंधुणदीणं वेयड्ढवणंतरम्मि पविसंति । पुह पुह संखेज्जाइं बावत्तरि[4] सयलजुगलाइं ॥ १४
देवा विज्जाहरया कारुण्णपरा णराण तिरियाणं । संखेज्जजीवरासिं खिवंति तेसुं पएसेसुं ॥ १५

पंचम कालके अंतमें तथा छठे कालके आदिमें आयु बीस वर्षसे अधिक तथा मनुष्योंके शरीर दो हाथ ऊंचे एवं धूमके समान श्यामवर्ण होकर कुरूप होते हैं ॥ १५२ ॥ पंचम कालके अन्तमें एक ही दिनमें क्रमसे सूर्योदयके समय (प्रातःकाल) में धर्म, मध्यान्ह कालमें राजशासन तथा सूर्यके अस्त होते समय अग्निका नाश होता है ॥१५३॥ लोकके गुरुस्वरूप धर्मके, पिताके समान प्रजाकी रक्षा करनेवाले राजाके, तथा महान् आधारभूत अग्निके विनष्ट हो जानेपर जगत् अनाथ हो जाता है ॥१५४॥ तब कालदोषसे विनाशको प्राप्त होकर नीच कर्म करनेवाले अज्ञानियोंमें धर्मको छोड़कर पशुवत् आचरण प्रवृत्त होता है ॥१५५॥ तत्पश्चात् कालके प्रभावसे और प्रजाजनोंकी पीड़ासे भयानक संवर्तक नामक वायुका प्रादुर्भाव होता है । ॥१५६॥ वह पर्वतों और वृक्षोंको चूर्णित करके तथा पृथिवीतलोंको भेदकर प्राणियोंके लिये भयंकर पीड़ा उत्पन्न करता हुआ दिशाओंमें घूमता है ॥१५७॥ वायुसे प्रेरित होकर घूमते हुए वृक्षखण्डों और शिलाभेदोंके द्वारा सब ओर प्राणी विलाप करते हुए मूर्च्छाको प्राप्त होते और मरते हैं ॥१५८॥ इस उपद्रवको देखकर भयको प्राप्त हुए प्राणी विजयार्धके निकट पहुंचते हैं । उनमें मरनेसे बचे हुए गंगा-सिंधु नदियोंके पासमें स्थित वे प्राणी बड़े कष्टसे उन नदियोंके किनारे जाकर बिलोंमें प्रविष्ट होते हैं । उनमें बहत्तर युगल बीजके समान जीवित रहते हैं ॥१५९-१६०॥ त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें कहा भी है —

इस समय पृथक् पृथक् संख्यात जीव तथा युगलके रूपमें सम्पूर्ण बहत्तर जीवयुगल गंगा-सिन्धु नदियों तथा विजयार्ध पर्वतोंके वनोंके मध्यमें प्रविष्ट होते हैं ॥ १४ ॥ कुछ दयालु देव एवं विद्याधर उक्त मनुष्यों और तिर्यंचोंमेंसे संख्यात जीवराशिको पूर्वोक्त प्रदेशोंमें स्थापित करते हैं ॥ १५ ॥

---

१ प त्यक्त्वा° । २ प परतो । ३ आ प उक्तं च त्रि° । ४ आ प भावत्तरि ।

शीतक्षारविषश्च्योताः[1] परुषाग्निक्षरा[2] अपि । धूलीधूम्रक्षराश्चैव प्रवर्षन्ति क्रमाद्घनाः ।। १६१
एकैको दिवसान् सप्त आप्लावयति तोयदः । तैः शेषाश्च प्रजा[3] नाशमुपयान्ति स्वपापतः ।। १६२
विषदग्धाग्निनिर्दग्धा भूः सस्थावरजङ्गमाः । अधो योजनमध्वानं चूर्णीभवति कालतः ।। १६३
काले दीर्घायुषश्चात्र त्रिंशदर्धसमायुषः । मत्स्यमण्डूकमूलाद्यैराहारैर्वर्तयन्ति च ।। १६४
समा उक्ता षडप्येता भरतैरावतेषु तु । क्रमेण परिवर्तन्ते उत्सर्पिण्या विपर्ययात् ।। १६५
षष्ठाद्येनावसर्पिण्यामुत्सर्पिण्याद्यषष्ठका[4] । उभौ समाविति ज्ञेयावन्यासां चैवमादिशेत् ।। १६६
पुष्कराख्या पुनर्मेघाः प्रादुर्भूय समन्ततः । वर्षन्त्यौष्ण्यप्रशान्त्यर्थं[5] सप्ताहं सार्वलौकिकाः ।। १६७
दुग्धमेघाश्च वर्षन्ति भूम्याः[6] शुभ्रकरास्ततः । स्नेहदा घृतमेघाश्च स्निग्धां कुर्वन्ति मेदिनीम् ।।
अमृतोदकमेघाश्च औषधीं जनयन्ति ते । रसमेघाः पुनस्तासु नानारसकराः स्मृताः ।। १६९
नानारसजलैर्भूमिर्मृष्टास्वादा प्रवर्तते[7] । वल्लीगुल्मलता वृक्षा नानाकारा भवन्ति च ।। १७०

उस समय क्रमसे शीत (वर्फ), क्षार, विष, परुष (पाषाणादि), अग्नि, धूलि और धूमकी वर्षा करनेवाले मेघ वरसते हैं ।। १६१ ।। इनमेंसे एक एक मेघ क्रमसे सात सात दिन पर्यन्त उपर्युक्त हिम आदिकी वर्षा करता है। जो जीव देवों व विद्याधरोंके द्वारा सुरक्षित स्थानमें पहुंचाये जाते हैं उनको छोड़कर शेष जीव उक्त मेघोंके द्वारा अपने पापके उदयसे नाशको प्राप्त होते हैं ।। १६२ ।। कालके प्रभावसे विष एवं अग्निकी वर्षासे निःशेष जली हुई भूमि स्थावर व जंगम (त्रस) जीवोंके साथ नीचे एक योजन पर्यन्त चूर चूर हो जाती है ।। १६३ ।। उस कालमें यहां तीसके आधे अर्थात् पन्द्रह वर्ष प्रमाण उत्कृष्ट आयुवाले प्राणी मत्स्य, मेंढक और मूल आदिके आहारसे जीवित रहते हैं ।। १६४ ।। ऊपर जो ये छहों काल वतलाये गये हैं वे यहां भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें अवसर्पिणी कालमें इसी क्रमसे तथा उत्सर्पिणी कालमें विपरीत (अतिदुःषमा व दुःषमा आदि) क्रमसे प्रवर्तमान होते हैं ।। १६५ । अवसर्पिणी कालमें जो छठा (अतिदुःषमा) काल अन्तमें कहा गया है वही छठा काल उत्सर्पिणीका प्रथम काल होता है। इस प्रकार इन दोनों कालोंकी गति समझना चाहिये । शेष कालोंका भी निर्देश इसी प्रकारसे करना चाहिये ।। १६६ ।।

उत्सर्पिणी कालके प्रारम्भमें समस्त लोकका भला करनेवाले पुष्कर नामक मेघ प्रगट होकर पूर्वोत्पन्न उष्णताको शान्त करनेके लिये सात दिन पर्यन्त वरसते हैं ।।१६७ ।। तत्पश्चात् भूमिको सफेद करनेवाले क्षीरमेघ वरसते हैं, अनन्तर चिक्कणताको देनेवाले घृतमेघ भी पृथिवीको स्निग्ध कर देते हैं ।। १६८ ।। फिर वे प्रसिद्ध अमृतमेघ भी अमृतके समान जलकी वर्षा करके औषधियोंको उत्पन्न करते हैं, तत्पश्चात् रसमेघ उन औषधियोंमें अनेक प्रकारके रसको उत्पन्न करते हुए स्मरण किये गये हैं ।। १६९ ।। उस समय नाना रसोंसे संयुक्त जलके द्वारा भूमि मृष्ट (मधुर) स्वादवाली हो जाती है और तव अनेक आकारवाली वेलें, झाड़ियाँ,

---

१ आ विषश्च्योताः व विषश्चोताः । २ व पुरुषाग्नि° । ३ प प्रजाः । ४ व सर्पिण्या उत्स° । ५ आ वर्षन्त्यौष्णप्र°, पवर्षन्त्यौष्ठाप्र° । ६ प भूम्या । ७ आ प प्रवर्षते ।

गुहानद्याश्रिता मर्त्याः शैत्यगन्धगुणाहृताः । विनिर्गत्य ततः सर्वे मेदिनीमावसन्ति च ॥ १७१
भूमिमूलफलाहारा वर्धमानफलोदयाः । बहुला लघु जायन्ते धान्यानि च ततः परम् ॥ १७२
समासहस्रशेषे च दुःषमाया विवर्धने । भवन्ति कुलकृन्मर्त्यास्ततः पञ्चदश क्रमात् ॥ १७३

उक्तं च त्रिलोकसारे [८७१-७२]—

उस्सप्पिणीय विदिये सहस्स सेसेसु कुलयरा कणय। कणयप्पहरायद्धयपुंगव तह नलिणपउमसहपउमा॥
तस्सोसलमणुहि [1]कुलायाराणलपक्कपहुदिया होंति। तेवट्ठिणरा तदिये सेणियचरपढमतित्थयरो॥

ततः प्रभृति सर्वज्ञा बलकेशवचक्रिणः । प्रतिशत्रुनृपाश्चैव भवन्ति क्रमशो भुवि ॥ १७४
अनीतिः स्थितमर्यादो गुणवन्नरमण्डितः । सुभिक्षो धर्मकर्माढ्यस्तृतीयोऽप्यतिवर्तते ॥ १७५
ततस्तुर्या भवेत्तत्र सुषमा पञ्चमी समा[2] । द्विरुक्तसुषमा षष्ठी युत्सर्पिण्यामिति स्मृताः॥ १७६

इति लोकविभागे कालविभागो नाम पञ्चमप्रकरणं समाप्तम् ।

लतायें एवं वृक्ष उत्पन्न होने लगते हैं ॥ १७० ॥ जो मनुष्य पहिले गुफाओं और नदियोंके आश्रित हुए थे वे सब अब शीतल गन्ध गुणको ग्रहण करते हुए वहाँसे निकलकर पृथिवीपर आ वसते हैं ॥ १७१ ॥ उस समय भूमि बढ़नेवाली फलोंकी उत्पत्तिसे संयुक्त हो जाती है। मनुष्य और तिर्यंच भूमि (मिट्टी), मूल और फलोंका आहार किया करते हैं। तत्पश्चात् पृथिवीके ऊपर धान्य (गेहूं व चना आदि) शीघ्र ही उत्पन्न होने लगता है॥ १७२ ॥ उत्सर्पिणी कालमें दुःषमाके एक हजार वर्ष शेप रह जानेपर क्रमसे पन्द्रह कुलकर पुरुष उत्पन्न होते हैं ॥ १७३ ॥ त्रिलोकसारमें कहा भी है —

उत्सर्पिणीके द्वितीय (दुःषमा) कालमें एक हजार वर्ष शेष रह जानेपर ये कुलकर उत्पन्न होते हैं — कनक, कनकप्रभ, कनकराय, कनकध्वज, कनकपुंगव; इसी प्रकारसे नलिन, नलिनप्रभ, नलिनराय, नलिनध्वज, नलिनपुंगव, पद्म, पद्मप्रभ, पद्मराय, पद्मध्वज, पद्मपुंगव और महापद्म ॥ १६ ॥ उन सोलह कुलकरोंके द्वारा कुलाचार और अग्निसे भोजन पकाने आदिका प्रारम्भ होने लगता है। इसी उत्सर्पिणीके तृतीय कालमें तिरेसठ (६३) शलाकपुरुष उत्पन्न होते हैं। इनमें प्रथम तीर्थंकर भूतपूर्व श्रेणिक राजाका जीव होगा ॥ १७ ॥

उन कुलकरोंको आदि लेकर इस पृथिवीपर क्रमसे सर्वज्ञ, बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण और चक्रवर्ती भी होते हैं ॥ १७४ ॥ इस प्रकार ईतिसे रहित, मर्यादासे सहित, गुणवान् पुरुषोंसे मण्डित और धर्म-कर्मसे संयुक्त यह तीसरा सुकाल भी वीत जाता है ॥ १७५ ॥ तत्पश्चात् चौथा (सुषमादुःषमा), पांचवां सुषमा और छठा दो वार कहा गया सुषमा अर्थात् सुषमासुषमा ये तीन काल क्रमसे प्रवर्तमान होते हैं । इस प्रकार उत्सर्पिणीमें कालोंकी प्रवृत्ति मानी गई है ॥ १७६ ॥

इस प्रकार लोकविभागमें कालविभाग नामक पांचवां प्रकरण समाप्त हुआ ॥५ ॥

---

१ ब मणुपि कुलो । २ आ प सदा । अतोऽग्रे आ प 'जिनैर्ज्योतिषिकाः प्रोक्ता खे चरंतः स्थिता अपि' इत्यर्धश्लोकोऽधिको लभ्यते ।

[षष्ठो विभागः]

ज्ञानसुज्योतिषा लोको येनाशेषः प्रकाशितः । तं सर्वज्ञं प्रणम्याग्रे ज्योतिर्लोकः प्रवक्ष्यते ॥ १

चन्द्राः सूर्या ग्रहा भानि तारकाश्चेति पञ्चधा । जिनैर्ज्योतिषिकाः प्रोक्ताः खे चरन्तः स्थिता अपि ॥

गोलकार्धगृहास्तेषां ज्योतिषां मणितोरणाः । भ्राजन्ते देवदेवीभिर्जिनबिम्बैश्च नित्यशः ॥ ३

ऊर्ध्वमष्टशते भूम्या दशोनेऽन्त्यास्तु तारकाः । ताभ्यो दशसु सूर्याः स्युस्ततोऽशीत्यां निशाकराः ॥

७९० । ८०० । ८८० ।

तेभ्यश्चतुर्षु ऋक्षाणि तेभ्यः सौम्याश्च तावति । शुक्रगुर्वारसौराश्च त्रिषु त्रिषु यथाक्रमम् ॥ ५

४ । ४ । ३ । ३ । ३ । ३ ।

ज्योतिःपटलबाहल्यं दशाग्रं शतयोजनम् । भ्रमन्ति मानुषावासे स्थित्वा भान्ति[1] ततः परम् ॥ ६

। ११० ।

गव्यूतिसप्तभागेषु जघन्यं तारकान्तरम् । पञ्चाशन्मध्यमं ज्ञेयं सहस्रं बृहदन्तरम् ॥ ७

। $\frac{1}{7}$ । ५० । १००० ।

जिसने ज्ञानरूपी उत्तम ज्योतिके द्वारा समस्त लोकको प्रकाशित किया है उस सर्वज्ञ देवको प्रणाम करके आगे ज्योतिर्लोकका वर्णन किया जाता है ॥ १ ॥ चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा इस प्रकारसे जिनेन्द्र देवके द्वारा ज्योतिष देव पांच प्रकारके कहे गये हैं। इनमें कुछ आकाशमें परिभ्रमण किया करते हैं और कुछ वहां स्थित भी रहते हैं ॥ २ ॥ उन ज्योतिषी देवोंके अर्ध गोलकके समान गृह मणिमय तोरणोंसे अलंकृत होते हुए निरन्तर देव-देवियों और जिनबिम्बोंसे सुशोभित रहते हैं ॥ ३ ॥ इस पृथिवीसे दस कम आठ सौ (७९०) योजन ऊपर जाकर अन्तिम तारा स्थित हैं, उनसे दस (७९० + १० = ८००) योजन ऊपर जाकर सूर्य, उनसे अस्सी (८०० + ८० = ८८०) योजन ऊपर जाकर चन्द्र, उनसे चार (४) योजन ऊपर जाकर ग्रह, उनसे उतने (४) ही योजन ऊपर जाकर बुध, फिर क्रमसे तीन-तीन योजन ऊपर जाकर शुक्र, गुरु, मंगल और शनि स्थित हैं ॥४-५॥ ज्योतिषपटलका बाहल्य एक सौ दस (१० + ८० + ४ + ४ + ३ + ३ + ३ + ३ = ११०) योजन मात्र है, अर्थात् उपर्युक्त सब ज्योतिषी देव क्रमशः पृथिवीसे ऊपर सात सौ नव्वैसे लेकर नौ सौ योजन तक एक सौ दस योजनके भीतर अवस्थित हैं। जो ज्योतिषी देव मनुष्यलोक (अढाई द्वीप) में वर्तमान हैं वे परिभ्रमण किया करते हैं, और इससे आगेके सब ज्योतिषी देव अवस्थित (स्थिर) रहकर सुशोभित होते हैं ॥ ६ ॥

एक तारासे दूसरे तारे तक ताराओंका जघन्य अन्तर एक कोसके सातवें भाग ($\frac{1}{7}$) मात्र, मध्यम अन्तर पचास ५० [योजन] और उत्कृष्ट अन्तर एक हजार १००० [योजन] मात्र जानना चाहिये ॥ ७ ॥

---

१ प भ्रान्ति ।

पृथिवीपरिणामश्च तेजोधातुश्च भास्करः । उदितं चातपं नाम नामकर्मात्र भास्करे ॥ ८
एकषष्ठिकृतान् भागान् योजनस्य पृथू रविः । चत्वारिंशतमष्टौ च परिधिस्त्रिगुणोऽधिकः ॥ ९

४८/६१ । १४४/६१ ।

द्वादशैव सहस्राणि तस्योष्णाश्च गभस्तयः । तावन्त एव चन्द्रस्य शीतलाः किरणा मताः ॥१०
अरिष्टश्चार्कवद्वेद्यो व्यासेन न्यूनयोजनम् । राहुः समानोऽरिष्टेन शीतलांशुश्च भाषितः ॥ ११
एकषष्ट्यास्तु भागेषु पञ्चहीनास्तु पार्थिवे । अब्दा तु शीतलांशौ च सोमेनेन्यूनचक्रवत् ॥ १२

। ५६/६१ ।।

शुक्रश्च [1]पृथिवीधातुर्गोरुतं बहलः[2] पृथुः । द्वे सहस्रे पुनः सार्धे रश्मयो रविवद्द्युतिः[3] ॥ १३
बुधस्य खलु भौमस्य शनैश्चारिण एव च । क्रोशार्धं विस्तृतं पीठं गुरोरूनं तु गोरुतम् ॥ १४
चतुर्भागं द्विभागं च चतुर्भागोनगोरुतम् । गोरुतं चापरास्तारा विस्तृता मन्दरश्मयः ॥ १५

१/४ । १/२ । ३/४ ।

पाठान्तरं कथ्यते —

पृथिवीके परिणाम स्वरूप सूर्यका बिम्ब चमकीली धातुसे निर्मित होता है। उस सूर्यके– उसके बिम्बमें स्थित पृथिवीकायिक जीवोंके– आतप नामकर्मका उदय हुआ करता है [उससे मूलमें अनुष्ण रहकर भी उसकी प्रभा उष्ण होती है] ॥ ८ ॥ सूर्यबिम्बका विस्तार एक योजनके इकसठ भागोंमें चालीस और आठ अर्थात् अड़तालीस भाग (४८/६१) प्रमाण है। उसकी परिधि विस्तारसे कुछ अधिक तिगुनी (१४४/६१) है ॥ ९ ॥ सूर्यकी उष्ण किरणें बारह हजार (१२०००) प्रमाण हैं। उतनी (१२०००) ही शीतल किरणें चन्द्रमाकी मानी गई हैं ॥ १० ॥

केतुका भी विमान सूर्यके ही समान जानना चाहिये, उसका विस्तार एक योजनसे कुछ कम है। राहुका विमान केतुके समान होता हुआ शीतल किरणोंसे संयुक्त कहा गया है ॥ ११ ॥ चन्द्रबिम्बका भी विस्तार एक योजनके इकसठ भागोंमें पांच कम अर्थात् छप्पन (५६/६१) भाग प्रमाण है। .... (?) ॥ १२ ॥

पृथिवीधातुमय शुक्र विमानका विस्तार एक कोस मात्र तथा किरणें अढ़ाई हजार (२५००) हैं, कान्ति उसकी सूर्यके समान है ॥ १३ ॥ बुध, मंगल और शनैश्चरकी पीठका विस्तार आधा कोश तथा गुरुकी पीठका विस्तार कुछ कम एक कोस प्रमाण है ॥ १४ ॥ मन्द किरणोंसे संयुक्त अन्य ताराओंका विस्तार एक कोसके चतुर्थ भाग (१/४), एक कोसके द्वितीय भाग (१/२), चतुर्थ भागसे कम एक कोस (३/४), तथा पूर्ण कोस प्रमाण है। [अभिप्राय यह कि ताराओंका जघन्य विस्तार एक कोसके चतुर्थ भाग प्रमाण तथा उत्कृष्ट पूरे कोस प्रमाण है, उनका मध्यम विस्तार एक कोसके चतुर्थ भागसे कुछ अधिकको आदि लेकर कुछ कम एक कोस प्रमाण अनेक भेद रूप है] ॥ १५ ॥ पाठान्तर कहा जाता है —

---

१ आ प पृथुवी° । २ आ प वहुलः । ३ आ प द्युति ।

रवीन्दुशुक्रगुर्वाख्याः कुजाः सौम्यास्तमोदयाः। ऋक्षास्ताराः स्वविष्कम्भादर्धबाहल्यका मताः॥ १६
सिंहाकारा हि तौ प्राच्यां त्वपाच्यां गजरूपकाः। प्रतीच्यां वृषभाकारा उदीच्यां जटिलाश्वकाः॥
वहन्ति चाभियोगास्ते षोडशैव सहस्रकम्। रवीन्दुभ्यां त्रयः शेषा हीयन्तेऽर्धार्धसंख्यया॥ १८

चं १६००० सू १६०००। ८०००। न ४०००। ता २०००।

आचार्यकृतविन्याससमुदो[1] वाप्यधोमुखः। ज्योतिर्लोकस्वभावोऽयमालोकान्तादिति स्थितः॥ १९
उत्तरोऽभिजिदृक्षाणां मूलो दक्षिण इष्यते। ऊर्ध्वाधः स्वाति भरणी क्रमान्मध्ये च कृत्तिका॥ २०
सर्वमन्दः शशी गत्या रविः शीघ्रतरस्ततः। रवेर्ग्रहास्ततो भानिस्तेभ्यस्ताराश्च शीघ्रकाः॥ २१
चरतीन्दोरधो राहुररिष्टोऽपि च भास्वतः। षण्मासात् पर्वसंप्राप्तावर्केन्दू वृणुतश्च तौ॥ २२
त्यक्त्वा मेरुं चरन्त्येकद्व्येकैकं ज्योतिषां गणाः। विहायेन्दुत्रयं शेषाश्चरन्त्येकपथे सदा॥ २३

।११२१।

शशिनौ द्वाविह द्वीपे चत्वारो लवणोदके। परस्मिन् द्वादशैव स्युः कालोदे सप्त षड्गुणाः॥ २४
पुष्करार्धे पुनश्चन्द्रा द्विसप्ततिरितीरिताः। चन्द्राणां मानुषक्षेत्रे द्वात्रिंशच्छतमुच्यते॥ २५

सूर्य, चन्द्र, शुक्र, गुरु, कुज (मंगल), वुध, और राहु ये ग्रह; नक्षत्र तथा तारे इन सवका वाहल्य अपने विस्तारसे आधा माना गया है॥ १६॥

उन सूर्य और चन्द्रके विमानोंको पूर्वमें सिंहके आकार, दक्षिणमें हाथीके आकार, पश्चिममें वैलके आकार, तथा उत्तरमें जटायुक्त घोड़ेके आकारके सोलह हजार (१६०००) अभियोग्य जातिके देव खींचते हैं। सूर्य और चन्द्रके अतिरिक्त शेष तीन (ग्रह, नक्षत्र, और तारा) के विमानवाहक देवोंकी संख्या क्रमसे आधी आधी है। (चन्द्र १६०००, सूर्य १६००० ग्रह ८०००, नक्षत्र ४००० तारा २०००) ॥ १७-१८ ॥ ··················(?) यह ज्योतिर्लोकका स्वभाव लोक पर्यन्त स्थित है॥१९॥

नक्षत्रोंमेंसे उत्तरमें अभिजित् नक्षत्रका, दक्षिणमें मूल नक्षत्रका, ऊपर और नीचे क्रमशः स्वाति और भरणी नक्षत्रोंका तथा मध्यमें कृत्तिका नक्षत्रका संचार माना गया है॥ २०॥ गमनमें चन्द्रमा सवसे मन्द है, सूर्य उसकी अपेक्षा शीघ्र गमन करनेवाला है, सूर्यसे शीघ्रतर गतिवाले ग्रह, उनसे नक्षत्र, तथा उनसे भी शीघ्रतर गतिवाले तारा हैं॥ २१॥ चन्द्रके नीचे राहुका विमान तथा सूर्यके भी नीचे केतुका विमान संचार करता है। वे दोनों छह मासमें पर्व (क्रमसे पूर्णिमा व अमावस्या) की प्राप्ति होनेपर चन्द्र और सूर्यको आच्छादित करते हैं॥२२॥ ज्योतिषियोंके समूह अंकक्रमसे एक, दो, एक और एक (११२१) अर्थात् ग्यारह सौ इक्कीस योजन प्रमाण मेरु पर्वतको छोड़कर संचार करते हैं। सूर्य, चन्द्र और ग्रह इन तीनको छोड़कर शेष नक्षत्र व तारागण सदा एक ही मार्गमें संचार करते हैं॥ २३॥

चन्द्रमा यहां जंवूद्वीपमें दो, लवणोदक समुद्रमें चार, आगे धातकीखण्ड द्वीपमें वारह, कालोदक समुद्रमें छहसे गुणित सात अर्थात् व्यालीस तथा पुष्करार्धमें वहत्तर कहे गये हैं। इस प्रकार मनुष्यक्षेत्र (अढ़ाई द्वीप) में समस्त चन्द्रोंकी संख्या एक सौ वत्तीस(२+४+१२+

१ ब समुद्गो।

उद्दिष्टास्त्रिगुणाश्चन्द्रा धातक्यादिषु ते क्रमात् । अतिक्रान्तेन्दुभिर्युक्ता[1] द्वीपे वा सागरेऽपि वा ॥ २६
चत्वारिंशच्छतं चन्द्राश्चत्वारोऽपि च पुष्करे । द्विनवत्यधिकं प्राहुः पुष्करोदे चतुःशतम् ॥ २७
अष्टाशीतिग्रहा[2] इन्दोः साष्टा भानां च विंशतिः । एकैकस्य तु विज्ञेयं रवयः शशिभिः समाः॥२८
। २८ ।
समुद्रे त्रिशतं त्रिंशद् द्वीपे साशीतिकं शतम् । प्रविश्य चरतोऽर्केन्दू मण्डलानि च लक्षयेत् ॥ २९
३३० । १८० ।
वीथ्यः पञ्चदशेन्दोः स्युरेकोनान्यन्तराणि च । द्विशतं षोडशोनं तु रवे रूपोनमन्तरम् ॥ ३०
१५ । १४ ।
लवणे द्विगुणा वीथ्यो रवेश्चन्द्रस्य चोदिताः । पृथग्रूपोनका वीथ्यश्चान्तराणि च लक्षयेत् ॥ ३१
३० । ३६८ ।
नवतिः खलु चन्द्राणां वीथ्यः स्युर्धातकीध्वजे । एकादश शतानि स्युश्चतुरग्राणि भास्वताम् ॥ ३२
। ११०४ ।

+४२+७२=१३२) होती है ॥ २४–२५ ॥ धातकीखण्ड आदि विवक्षित द्वीप-समुद्रोंमें जितने चन्द्रोंका निर्देश किया गया है आगेके द्वीप अथवा समुद्रमें वे क्रमसे तिगुणे होकर पिछले द्वीप-समुद्रोंकी चन्द्रसंख्यासे अधिक हैं ॥ २६ ॥

उदाहरण– (१) धातकीखण्ड द्वीपमें १२ चन्द्र बतलाये गये हैं । इनको तिगुना करके प्राप्त संख्यामें पिछले द्वीप-समुद्रों (लवणोद ४+जं. द्वी. २=६) की चन्द्रसंख्याको जोड़ देनेसे आगेके कालोदक समुद्रमें स्थित चन्द्रोंकी संख्या प्रात हो जाती है । जैसे–१२×३+६=४२.

(२) कालोदक समुद्रमें ४२ चन्द्र स्थित हैं । इन्हें तिगुना करके प्राप्त राशिमें पिछली चन्द्रसंख्याको मिला दीजिये । इस प्रकारसे आगे पुष्करद्वीपकी चन्द्रसंख्या प्राप्त हो जायेगी । जैसे–४२×३+(१२+४+२)=१४४.

पुष्कर द्वीपमें एक सौ चालीस और चार अर्थात् एक सौ चवालीस (१४४) तथा पुष्करोद समुद्रमें चार सौ बानवै [१४४×३+(४२+१२+४–२)=४९२] चन्द्र अवस्थित हैं ॥ २७ ॥

एक एक चन्द्रके अठासी (८८) ग्रह तथा आठ सहित वीस अर्थात् अट्ठाईस (२८) नक्षत्र जानना चाहिये । सूर्य चन्द्रोंके ही समान होते हैं ॥ २८ ॥

सूर्य और चन्द्रमा समुद्र (लवणोद) में तीन सौ तीस (३३०) तथा द्वीप (जंबूद्वीप) के भीतर एक सौ अस्सी योजन प्रविष्ट होकर संचार करते हैं । उनकी वीथियां इस प्रकार जानना चाहिये ॥ २९ ॥ जंबूद्वीपमें चन्द्रकी पन्द्रह (१५) वीथियां और उनके अन्तर उनसे एक कम अर्थात् चौदह, (१४) हैं । सूर्यकी वीथियां सोलह कम दो सौ (१८४) और अन्तर एक कम अर्थात् एक सौ तेरासी (१८३) हैं ॥ ३० ॥ लवण समुद्रमें चन्द्र और सूर्यकी वीथियां पृथक् पृथक् इनसे दूनी (चन्द्रकी ३० और सूर्यकी ३६८) कही गई हैं । जितनी वीथियां हैं उनसे एक कम उनके अन्तर (२९, ३६७) भी जानना चाहिये ॥ ३१ ॥ धातकीखण्ड द्वीपमें चन्द्रोंकी वीथियां नब्बे (१५×६=९०) तथा सूर्योंकी वीथियां ग्यारह सौ चार (१८४×६=११०४) हैं ॥ ३२ ॥

---

१ आ °भियुर्युक्ता, प °भियुक्त्वा । २ आ °गृहा, प गृहा ।

कालोदे चन्द्रवीथ्यः स्युस्त्रिशतं दश पञ्च च । अष्टात्रिंशच्छतानि स्युश्चतुःषष्टिश्च भास्वताम् ॥ ३३

चत्वारिंशत्सहस्रार्धमिन्दुवीथ्योऽर्धपुष्करे । षट्षष्टिस्तु शतानि स्युश्चतुर्विंशानि भास्वताम् ॥

। ५४० ।

मानुषोत्तरशैलाच्च[1] द्वीपसागरवेदिका – । मूलतो नियुतार्धेन ततो लक्षेण मण्डलम् ॥ ३५

५००००

पुष्करार्धाद्यवलये[2] द्विगुणा च द्विसप्ततिः । चन्द्रसूर्यास्ततोऽन्येषु[3] चतुष्कं चोत्तरं पृथक् ॥ ३६

आदेरादिस्तु विज्ञेयो द्विगुणद्विगुणक्रमः । परिधौ च स्वके स्व-स्वचन्द्रादित्यैर्हृतेऽन्तरे[4] ॥ ३७

गच्छोत्तरसमाभ्यासात्त्यजेदुत्तरमादियुक् । अन्त्यमादियुतं भूयो गच्छार्धगुणितं धनम् ॥ ३८

आ १४४ । उ ४ । ग ८ ।

कालोद समुद्रमें चन्द्रवीथियां तीन सौ दस और पांच अर्थात् तीन सौ पन्द्रह (१५× २१=३१५) तथा सूर्योंकी वीथियां अड़तीस सौ चौंसठ (१८४×२१=३८६४) हैं ॥ ३३ ॥ पुष्करार्ध द्वीपमें चन्द्रवीथियां हजारकी आधी और चालीस अर्थात् पांच सौ चालीस (१५×३६ =५४०) तथा सूर्योंकी वीथियां छयासठ सौ चौवीस (१८४×३६=६६२४) हैं ॥ ३४ ॥

मानुषोत्तर पर्वतके आगे द्वीप-समुद्रोंकी वेदिकाके मूल भागसे आधा लाख (५००००) योजन जाकर प्रथम मण्डल (सूर्य-चन्द्रोंका वलय) है, उसके आगे उनका प्रत्येक मण्डल एक एक लाख (१०००००) योजन जाकर है ॥ ३५ ॥ पुष्करार्ध द्वीपके प्रथम वलयमें दुगुणे बहत्तर (७२×२=१४४) अर्थात् एक सौ चवालीस सूर्य और चन्द्र स्थित हैं। इससे आगेके अन्य वलयोंमें वे पृथक् पृथक् चार चार चयसे अधिक (१४४, १४८, १५२, १५६, १६०, १६४, १६८, १७२) हैं ॥ ३६ ॥ आगेके द्वीप-समुद्रोंके प्रथम वलयमें पिछले द्वीप अथवा समुद्रके प्रथम वलयमें स्थित चन्द्रोंकी अपेक्षा क्रमसे दूने दूने चन्द्र जानना चाहिये । अपनी परिधिमें अपने अपने वलयगत चन्द्र और सूर्योंकी संख्याका भाग देनेपर वहां स्थित एक चन्द्रसे दूसरे चन्द्रका अन्तर जाना जाता है ॥ ३७ ॥

उदाहरण– द्वितीय पुष्करार्ध द्वीप सम्बन्धी प्रथम वलयकी सूचीका विस्तार ४६००००० योजन है, उसकी परिधि १४५४६४७७ यो. प्रमाण होती है । इस परिधिमें तद्गत सूर्य-चन्द्रोंकी संख्याका भाग देनेपर उन सूर्य और चन्द्रोंका बिम्ब सहित अन्तर इतना प्राप्त होता है — १४५४६४७७÷१४४ = १०१०१७ $\frac{२९}{१४४}$ यो. । इसमेंसे चन्द्रबिम्ब और सूर्यबिम्बको कम कर देनेपर उनका बिम्बरहित अन्तर इस प्रकार प्राप्त हो जाता है— चन्द्रबिम्बका विस्तार $\frac{५६}{६१}$ = $\frac{८०६४}{८७८४}$; १०१०१७ $\frac{२९}{१४४}$ − $\frac{८०६४}{८७८४}$ = १०१०१६ $\frac{२४८९}{८७८४}$ यो., चन्द्रबिम्बोंके मध्यका अन्तर । सूर्यबिम्बका विस्तार $\frac{४८}{६१}$ = $\frac{६९१२}{८७८४}$; १०१०१७ $\frac{२९}{१४४}$ − $\frac{६९१२}{८७८४}$ = १०१०१६ $\frac{३६४१}{८७८४}$ यो., सूर्यबिम्बोंके मध्यका अन्तर ।

गच्छ और चयको गुणित करनेसे जो प्राप्त हो उसमेंसे चयके प्रमाणको कम करके शेषमें आदिके प्रमाणको जोड़ देना चाहिये । इस प्रकारसे विवक्षित अन्तिम धन प्राप्त हो जाता

१ आ प शैलाश्च । २ आ प °वललये । ३ आ प °नेषु । ४ आ °दित्येह्रुतेंतरं प °दित्ये हृतेन्तरे ।

द्वादशैव शतानि स्युश्चतुःषष्ठ्याधिकानि हि । पुष्करार्धे बहिश्चन्द्रास्तावन्तोऽपि च भास्कराः ॥३९
तारकाकीर्णमाकाशमालोकान्तादितोऽमुतः । पुष्यस्थाः सर्वसूर्यास्तु चन्द्रास्त्वभिजिदि स्थिताः॥४०
चत्वारिंशच्च चत्वारि सहस्राणि शताष्टकम् । विंशतिश्चान्तरं मेरो रवेश्चासन्नमण्डले ॥ ४१
चत्वारिंशत्तथाष्टौ च एकषष्टिकृतांशकाः । द्वियोजने च प्रक्षेपस्तस्यानन्तरमण्डले ॥ ४२
स एव गुणितक्षेपः प्रक्षिप्तव्यो यथेप्सिते । आ बाह्यमण्डलादेवं मेरुसूर्यान्तरं भवेत् ॥ ४३
चत्वारिंशच्च पञ्चापि सहस्राण्यथ सप्ततिः । पञ्च चान्तरमाख्यातं मध्यमे मण्डले रवेः ॥ ४४
चत्वारिंशच्च पञ्चापि सहस्राणि शतत्रयम् । त्रिंशच्च मण्डले बाह्ये मेरुसूर्यान्तरं भवेत् ॥ ४५

है । इस अन्त्य धनमें फिरसे आदिको मिलाकर गच्छके अर्ध भागसे गुणित करनेपर सर्वधन प्राप्त होता है ॥ ३८ ॥

उदाहरण-- प्रकृतमें आदिका प्रमाण १४४, चयका ४ और गच्छका प्रमाण ८ है । अत एव (८×४)-४+१४४ = १७२ अन्तिम धन; $१७२+१४४\times\frac{८}{२}$ = १२६४ = (१४४+१४८+१५२+१५६+१६०+१६४+१६८+१७२) सर्वधन ।

वाह्य पुष्करार्धमें बारह सौ चौंसठ (१२६४) चन्द्रऔर उतने ही सूर्य भी हैं ॥३९॥ यहां लोक पर्यन्त आकाश ताराओंसे व्याप्त है । सब सूर्य तो पुष्य नक्षत्रपर स्थित होते हैं, किन्तु चन्द्रमा अभिजित् नक्षत्रपर स्थित होते हैं ॥ ४० ॥

मेरुसे अभ्यन्तर मण्डल (वीथी) में स्थित सूर्यका अन्तर चवालीस हजार आठ सौ वीस (४४८२०) योजन प्रमाण रहता है ॥ ४१ ॥ इसमें दो योजन तथा एक योजनके इकसठ भागोंमेंसे चालीस और आठ अर्थात् अड़तालीस भाग ($२\frac{४८}{६१}$) प्रमाण [दिवसगतिका] प्रक्षेप करनेपर उतना अनन्तर (द्वितीय) मण्डलमें स्थित सूर्यका मेरुसे अन्तर रहता है- $४४८२०+२\frac{४८}{६१}=४४८२२\frac{४८}{६१}$ ॥ ४२ ॥ इसी प्रकारसे बाह्य मण्डल तक उसी गुणित (तृतीय मण्डलमें दुगुणा, चतुर्थमें तिगुणा इत्यादि) प्रक्षेपको मिलाते जानेसे विवक्षित मण्डलमें स्थित सूर्यका मेरुसे अन्तरप्रमाण होता है ॥ ४३ ॥ मध्यम मण्डलमें स्थित सूर्यके इस अन्तरका प्रमाण पैंतालीस हजार पचत्तर योजन मात्र होता है $४४८२०+(२\frac{४८}{६१}\times९१\frac{१}{२})=४५०७५$ यो. ॥ ४४ ॥ वाह्य मण्डलमें मेरु और सूर्यका यह अन्तर पैंतालीस हजार तीन सौ तीस योजन मात्र होता है $४४८२०+(२\frac{४८}{६१}\times१८३)=४५३३०$ यो. ॥ ४५ ॥

विशेषार्थ -- सूर्यका चार क्षेत्र १ लाख योजन विस्तृत जंबूद्वीपके भीतर १८० योजन मात्र है । इसे दुगुणा करनेपर दोनों ओरके चार क्षेत्रका प्रमाण ३६० योजन होता है । इसको जंबूद्वीपके विस्तारमेंसे कम कर देनेपर शेष अभ्यन्तर वीथीका विस्तार होता है- १००००० - ३६० = ९९६४० यो. । यही जंबूद्वीपस्थ उभय सूर्योंके बीच अन्तरका भी प्रमाण होता है । इसमेंसे मेरु पर्वतके विस्तारको कम करके शेषको आधा कर देनेसे उस अभ्यन्तर वीथीमें स्थित सूर्य और मेरुके बीच अन्तरका प्रमाण होता है- $\frac{९९६४०-१००००}{२}$ ४४८२० यो. ।

जंबूद्वीपके अतिरिक्त सूर्यका चारक्षेत्र $३३०\frac{४८}{६१}$ यो. मात्र लवण समुद्रमें भी है । इस प्रकार उसके समस्त चारक्षेत्रका प्रमाण $१८०+३३०\frac{४८}{६१}=५१०\frac{४८}{६१}$ यो. होता है । इतने चार क्षेत्रमें सूर्यकी १८४ वीथियां है। इनमेंसे वह क्रमशः प्रतिदिन एक एक वीथीमें संचार करता है।

नवनवतिसहस्राणि षट्छतानि भवन्ति च । चत्वारिंशच्च मध्यं स्यादन्तरमण्डलसूर्ययोः ॥ ४६

पञ्चत्रिंशत्पुनर्भागा योजनानां च पञ्चकम् । एकैकस्मिन् भवेत् क्षेपस्तस्यानन्तरमण्डले ॥ ४७

५ । $\frac{३५}{६१}$ ।

नियुतं शतमेकं च पञ्चशान्मध्यमान्तरम् । षष्ठ्या युक्तैः शतैः षड्भिर्नियुतं बाह्यमण्डले ॥ ४८

आसन्नमण्डलस्यास्य परिधेश्च प्रमाणकम् । नवाष्टशून्यपञ्चैकं त्रयमङ्कक्रमेण च ॥ ४९

मण्डले मण्डले क्षेपः परिधौ दश सप्त च । अष्टात्रिंशच्च भागा स्युरेकषष्ठ्यास्तु साधिकाः ॥ ५०

१७ । $\frac{३८}{६१}$ ।

नियुतानां त्रिकं भूयः सहस्रं षोडशाहतं । शतानि सप्त द्वे चैव परिधिर्मध्यमण्डले ॥ ५१

अष्टादशसहस्राणि नियुतानामपि त्रिकम् । त्रिशतं दश चत्वारि परिधिर्बाह्यमण्डले ॥ ५२

अव यदि इस समस्त चारक्षेत्रमेंसे उपर्युक्त १८४ वीथियोंके विस्तारको कम करके शेपमें एक कम वीथियोंके प्रमाणका भाग दें तो उन सव वीथियोंके वीच निम्न अन्तरका प्रमाण प्राप्त होता है– समस्त चारक्षेत्र ५१०$\frac{४८}{६१}$=$\frac{३११५८}{६१}$; समस्त वीथियोंका विस्तार $\frac{४८}{६१}$×१८४ =$\frac{८८३२}{६१}$; $\frac{३११५८}{६१}$ – $\frac{८८३२}{६१}$ ÷ (१८४–१) =२ यो. । इसमें सूर्यविम्वके विस्तारको मिला देनेसे सूर्यके प्रतिदिनके गमनक्षेत्रका प्रमाण प्राप्त हो जाता है — २+$\frac{४८}{६१}$ = २$\frac{४८}{६१}$ यो. । इस दैवसिक गमनक्षेत्रके प्रमाणको अभ्यन्तर(प्रथम)वीथीमें स्थित सूर्य और मेरुपर्वतके वीच रहने-वाले उपर्युक्त अन्तर प्रमाणमें मिला देनेसे द्वितीय वीथीमें स्थित सूर्य और मेरुके वीच अन्तरका प्रमाण होता है – ४४८२०+२$\frac{४८}{६१}$=४४८२२$\frac{४८}{६१}$ यो. । इस प्रकार मेरु और सूर्यके वीच पूर्व पूर्वके अन्तर प्रमाणमें उत्तरोत्तर इस दैवसिक गमनक्षेत्रके प्रमाणको मिलाते जानेसे तृतीय व चतुर्थ आदि आगेकी वीथियोंमें स्थित सूर्य और मेरुके वीचके अन्तरका प्रमाण जाना जाता है ।

अभ्यन्तर वीथीमें स्थित दोनों सूर्योंके मध्यमें निन्यानवै हजार छह सौ चालीस (९९६४०) योजन मात्र अन्तर होता है ॥ ४६ ॥ अभ्यन्तर वीथीमें स्थित दोनों सूर्योंके मध्य-गत इस अन्तरप्रमाणमें उत्तरोत्तर पांच योजन और एक योजनके इकसठ भागोंमेंसे पैंतीस भागों (दुगुणा दिवसगतिक्षेत्र–२$\frac{४८}{६१}$×२=५$\frac{३५}{६१}$)को मिलानेसे द्वितीयादि अनन्तर वीथियोंमें स्थित दोनों सूर्योंके मध्यगत अन्तरका प्रमाण होता है ॥४७॥ दोनों सूर्योंका अन्तर मध्यम वीथीमें एक लाख एक सौ पचास योजन तथा वही वाह्य वीथीमें एक लाख छह सौ साठ योजन मात्र होता है – ९९६४०+(५$\frac{३५}{६१}$×$\frac{१८३}{२}$)=१००१५०यो. मध्यम अन्तर; ९९६४०+(५$\frac{३५}{६१}$×१८३) =१००६६० यो. वाह्य वीथीगत दोनों सूर्योंका अन्तर ॥ ४८ ॥

इस अभ्यन्तर वीथीकी परिधिका प्रमाण अंकक्रमसे नौ, आठ, शून्य, पांच, एक और तीन (३१५०८९) ; इतने योजन मात्र है ॥ ४९ ॥ आगे आगेकी (द्वितीय-तृतीयादि) वीथियोंके परिधिप्रमाणको लानेके लिये पूर्व पूर्व वीथीके परिधिप्रमाणमें दस और सात अर्थात् सत्तरह योजन तथा एक योजनके इकसठ भागोंमेंसे अड़तीस भागों (१७$\frac{३८}{६१}$)को क्रमशः मिलाते जाना चाहिये ॥ ५० ॥ मध्य वीथीमें परिधिका प्रमाण तीन लाख सोलह हजार सात सौ दो योजन मात्र है — ३१५०८९+(१७$\frac{३८}{६१}$×$\frac{१८३}{२}$) = ३१६७०२ यो. ॥ ५१ ॥ वाह्य वीथीमें इस परिधिका प्रमाण तीन लाख अठारह हजार तीन सौ चौदह योजन मात्र है— ३१५०८९+

बाह्यादेकैकमार्गस्य परिधिश्चान्तरं पुनः । स्वस्वक्षेपेण हीनं स्याद्यावत्प्रथममण्डलम् ॥ ५३
चत्वारिंशच्च चत्वारि सहस्राणि शताष्टकम् । विंशतिश्चान्तरं मेरोश्चन्द्रस्यासन्नमण्डले ॥ ५४
षट्त्रिंशद्योजनं तस्मिन् उत्तरं सप्तविंशतिः । चतुःशतस्य भागाश्च नवसप्ततिशतं भवेत् ॥ ५५
उत्तरेण सहैतेन तदनन्तरमन्तरम् । पुनस्तेनैव संयुक्तं तृतीयं त्वन्तरं भवेत् ॥ ५६
चत्वारिंशच्च पञ्चापि सहस्राण्यथ सप्ततिः । पञ्चाधिका च देशोना मेर्विन्दोर्मध्यमान्तरम् ॥ ५७

। ४५०७५ । ऊनप्रमाणं $\frac{४}{६१}$ ।

चत्वारिंशत्पुनः पञ्च सहस्राणि शतत्रयम् । देशोना चान्तरं त्रिंशन्मेर्विन्दोर्बाह्यमण्डले ॥ ५८

। ४५३३० । ऊनप्रमाणं $\frac{८}{६१}$ ।

(१७$\frac{३८}{६१}$×१८३)=३१८३१४ यो. ॥ ५२ ॥ बाह्य वीथीसे लेकर प्रथम वीथी तक प्रत्येक वीथीका यह परिधिप्रमाण और अन्तर उत्तरोत्तर अपने अपने प्रक्षेपसे कम है ॥ ५३ ॥

मेरु पर्वतसे प्रथम वीथीमें स्थित चन्द्रका अन्तर चवालीस हजार आठ सौ बीस ४४८२० योजन मात्र है ॥ ५४ ॥ द्वितीय आदि वीथियोंमें स्थित चन्द्रके उपर्युक्त अन्तरको लानेके लिये यहां चयका प्रमाण छत्तीस योजन और एक योजनके चार सौ सत्ताईस भागोंमेंसे एक सौ उन्यासी भाग (३६$\frac{१७९}{४२७}$) मात्र है ॥ ५५ ॥ मेरुसे प्रथम वीथीमें स्थित चन्द्रके पूर्वोक्त अन्तरप्रमाणमें इस चयके मिला देनेसे अनन्तर (द्वितीय) वीथीमें स्थित चन्द्र और मेरुके बीचके अन्तरका प्रमाण प्राप्त होता है । फिर इस अन्तरप्रमाणमें उसी चयको मिला देनेसे तृतीय अन्तरका प्रमाण होता है ॥ ५६ ॥

विशेषार्थ— सूर्यके समान चन्द्रमाका भी चारक्षेत्र ५१०$\frac{४८}{६१}$=$\frac{३११५८}{६१}$ योजन प्रमाण ही है (देखिये पीछे श्लोक ४५का विशेषार्थ) । इसमें चन्द्रवीथियां १५ हैं। इनमेंसे वह प्रतिदिन क्रमशः एक एक वीथीमें संचार करता है। इस चारक्षेत्रमेंसे उक्त १५ वीथियोंके समस्त विस्तारको कम करके शेषमें एक कम वीथियोंकी संख्याका भाग देनेपर उनके बीचके अन्तरका प्रमाण प्राप्त होता है– समस्त चारक्षेत्र ५१०$\frac{४८}{६१}$=$\frac{३११५८}{६१}$; समस्त वीथियोंका विस्तार $\frac{५६}{६१}$×१५=$\frac{८४०}{६१}$; $\frac{३११५८}{६१}$−$\frac{८४०}{६१}$÷(१५−१)=३५$\frac{२१४}{४२७}$ यो. । इसमें चन्द्रबिम्बके विस्तारको मिला देनेसे चन्द्रके प्रतिदिनके गमनक्षेत्रका प्रमाण होता है– ३५$\frac{२१४}{४२७}$+$\frac{५६}{६१}$ = ३६$\frac{१७९}{४२७}$ यो. ।

सूर्यके समान चन्द्रकी भी अभ्यन्तर वीथीका विस्तार ९९६४० योजन तथा उसमें स्थित चन्द्र और मेरुके मध्यगत अन्तरका प्रमाण ४४८२० योजन है। इस अन्तरप्रमाणमें प्रतिदिनके गमनक्षेत्रको मिला देनेसे द्वितीय वीथीमें स्थित चन्द्र और मेरुके मध्यगत अन्तरका प्रमाण होता है । ४४८२०+३६$\frac{१७९}{४२७}$ = ४४८५६$\frac{१७९}{४२७}$ यो. । इस प्रकार पूर्व पूर्वके अन्तर-प्रमाणमें उत्तरोत्तर चन्द्रकी प्रतिदिनकी उपर्युक्त गतिके प्रमाणको मिलाते जानेसे तृतीय एवं चतुर्थ आदि आगेकी वीथियोंमें स्थित चन्द्र और मेरुके मध्यगत अन्तरका प्रमाण प्राप्त होता है ।

मेरु और चन्द्रके मध्यम अन्तरका प्रमाण पैंतालीस हजार पचत्तर योजनसे किंचित् $\frac{४}{६१}$ कम है— ४४८२०+ (३६$\frac{१७९}{४२७}$×$\frac{१४}{२}$) = ४५०७४$\frac{५७}{६१}$ यो. ॥ ५७ ॥ बाह्य (१५वीं) वीथीमें स्थित चन्द्र और मेरुके मध्यगत अन्तरका प्रमाण पैंतालीस हजार तीन सौ तीस योजनसे किंचित् ($\frac{८}{६१}$) कम है— ४४८२०+(३६$\frac{१७९}{४२७}$×१४)=४५३२९$\frac{५३}{६१}$ यो. ॥५८॥

अन्तरं रविमेर्वोर्यत्तदिन्दोर्मध्यबाह्यजम् । विशेषस्त्वेकषष्ठ्यंशाश्चत्वारोऽष्टौ च हीनकाः ॥ ५९

। $\frac{४}{६१}$ । $\frac{८}{६१}$ ।

पूर्वोक्ते तूत्तरे हीने चोपान्त्यान्तरमिष्यते । तेनैव रहितं भूयस्तृतीयं बाहिराद्भवेत् ॥ ६०

नवतिश्च नवापि स्युः सहस्राण्यथ षट्छतम् । चत्वारिंशच्च शशिनोरन्तरं पूर्वमण्डले ॥ ६१

अत्रोत्तरं च विज्ञेयं योजनानां द्विसप्ततिः । सप्तद्विकचतुष्काणामष्टौ पञ्चत्रयोंऽशकाः ॥ ६२

। $\frac{३५८}{४२७}$ ।

उत्तरेण सहानेन तदनन्तरमन्तरम् । तेनैव सहितं भूयस्तृतीयं चान्तरं भवेत् ॥ ६३

मध्यमान्त्यान्तरे चेन्द्वोः सूर्ययोरिव भाषिते । एकषष्ठ्यंशकैर्न्यूने अष्टाभिर्द्विचष्टकैरपि ॥ ६४

। $\frac{८}{६१}$ । $\frac{१६}{६१}$ ।

मेरुसे सूर्यका जो मध्यम और बाह्य अन्तर है वही मेरुसे चन्द्रका भी मध्यम और बाह्य अन्तर है। विशेष इतना है कि सूर्य और मेरुके मध्यगत अन्तरकी अपेक्षा चन्द्र और मेरुके मध्यगत मध्यम अन्तर इकसठ भागोंमेंसे चार भागों ($\frac{४}{६१}$) से हीन है तथा बाह्य अन्तर आठ भागों ($\frac{८}{६१}$) से हीन है (देखिये पीछे श्लोक ४४–४५) ॥ ५९ ॥

विशेषार्थ–– यहां सूर्यकी अपेक्षा मेरुसे चन्द्रका जो मध्यम अन्तर चार बटे इकसठ भागों ($\frac{४}{६१}$) से हीन तथा बाह्य अन्तर आठ बटे इकसठ भागों ($\frac{८}{६१}$) से हीन बतलाया गया है उसका कारण दोनोंके विमानगत विस्तारका भेद है–– सूर्यके विमानका विस्तार $\frac{४८}{६१}$ यो. और चन्द्रके विमानका विस्तार $\frac{५६}{६१}$ यो. है। इस प्रकार सूर्यके विमानकी अपेक्षा चन्द्रका विमान $\frac{८}{६१}$ यो. अधिक विस्तृत है। अब जब चन्द्रका संचार मध्यम वीथीमें होगा तब उसके विमानका आधा भाग इस ओर और आधा भाग उस ओर रहेगा। अत एव उसके इस अन्तरमें सूर्यके अन्तरकी अपेक्षा $\frac{४}{६१}$ ($\frac{८}{६१}$ ÷ २) भागोंकी हानि होगी। परन्तु चन्द्रका बाह्य मार्गमें संचार होनेपर उसका विमान चूंकि संचारक्षेत्र (५१० $\frac{४८}{६१}$ यो.) भीतर ही रहेगा, अतएव सूर्यकी अपेक्षा चन्द्रका विमान जितना अधिक विस्तृत है उतनी ($\frac{५६-४८}{६१} = \frac{८}{६१}$) ही उसके बाह्य अन्तरमें सूर्यके अन्तरकी अपेक्षा हानि भी रहेगी।

इस बाह्य अन्तरमेंसे पूर्वोक्त चयको कम कर देनेपर शेष उपान्त्य अन्तर माना जाता है, उसी चयसे रहित वह उपान्त्य अन्तर बाह्य अन्तरकी अपेक्षा तीसरा अन्तर होता है–– ४५३२९$\frac{५३}{६१}$–३६$\frac{१७९}{४२७}$=४५२९३$\frac{१९२}{४२७}$ उपान्त्य अन्तर; ४५२९३$\frac{१९२}{४२७}$–३६$\frac{१७९}{४२७}$ =४५२५७$\frac{१३}{४२७}$ बाह्यकी अपेक्षा तीसरा अन्तर ॥ ६० ॥

प्रथम वीथीमें स्थित दोनों चन्द्रोंके मध्यमें निन्यानवै हजार छह सौ चालीस (९९६४०) योजनका अन्तर है ॥ ६१ ॥ बहत्तर योजन और एक योजनके चार सौ सत्ताईस अंशोंमें तीन सौ अट्ठावन अंश (३६$\frac{१७९}{४२७}$×२=७२$\frac{३५८}{४२७}$ दोनों ओरका दुगुणा दिवसगतिक्षेत्र) इतना यहां चयका प्रमाण है ॥ ६२ ॥ प्रथम वीथीमें स्थित दोनों चन्द्रोंके उपर्युक्त अन्तरमें इस चयके मिला देनेपर अनन्तर (द्वितीय) अन्तरका प्रमाण होता है और फिर इसमें उसी चयको मिला देनेसे तृतीय अन्तरका प्रमाण होता है – ९९६४०+७२$\frac{३५८}{४२७}$=९९७१२$\frac{३५८}{४२७}$ यो.; ९९७१२$\frac{३५८}{४२७}$+७२$\frac{३५८}{४२७}$=९९७८५ $\frac{२८९}{४२७}$ यो. ॥ ६३ ॥ दोनों चन्द्रोंका मध्यम और अन्तिम अन्तर दोनों सूर्योंके समान कहा गया है। विशेष इतना है कि सूर्योंके मध्यम अन्तरकी अपेक्षा

त्रिंशदर्धं सहस्राणां तथैव नियुतत्रिकम् । रूपोना नवतिश्चैव परिधिः पूर्वमण्डले ॥ ६५

३१५०८९

उत्तरं द्विशतं त्रिंशद्योजनान्यत्र संख्यया । सप्तद्विकचतुर्णां च त्रिचतुष्कैकमंकशः ॥ ६६

। $\frac{१४३}{४२७}$ ।

भानोरिव परिक्षेप इन्दोर्मध्यान्तमण्डले । सप्तद्विकचतुष्काणामशीतिद्विशतेन च ॥ ६७

त्रयस्त्रिंशच्छतेनांशैः क्रमाद्धीनो भवेद् ध्रुवम् । स एवोत्तरहीनः स्यादुपान्त्येऽन्तरमिष्यते ॥ ६८

। $\frac{२८०}{४२७}$ । $\frac{१३३}{४२७}$ ।

चन्द्रोंका मध्यम अन्तर इकसठ भागोंमें आठ भागों ($\frac{८}{६१}$) से हीन है तथा बाह्य अन्तर दो आठ (८×२) अर्थात् सोलह भागों ($\frac{१६}{६१}$)से हीन है ॥ ६४ ॥

विशेषार्थ — सूर्य और चन्द्रका जो प्रथम वीथीमें मेरुसे ४४८२० यो. प्रमाण अन्तर बतलाया गया है उसको दुगुणा करके प्राप्त संख्यामें मेरुके विस्तारको मिला देनेसे प्रथम वीथीमें स्थित दोनों सूर्यों तथा दोनों चन्द्रोंके भी मध्यगत अन्तरका प्रमाण प्राप्त होता है। यथा— ४४८२०×२+१०००० = ९९६४० यो.। अब चन्द्रका विमान चूंकि सूर्यके विमानसे $\frac{८}{६१}$ यो. अधिक विस्तृत है, अत एव मध्यम वीथीमें संचार करते समय दोनों चन्द्रविमानोंका आधा भाग इस ओर तथा आधा भाग उस ओर रहनेसे सूर्योंके अन्तरकी अपेक्षा मध्यम वीथीगत दोनों चन्द्रोंके अन्तरमें $\frac{८}{६१}$ यो. की हानि रहेगी। परन्तु बाह्य वीथीमें संचरण करते हुए उभय चन्द्रोंके मध्यगत अन्तरमें यह हानि दुगुणी ($\frac{१६}{६१}$) रहेगी। कारण इसका यह है बाह्य वीथीगत उभय चन्द्रोंके विमान पूर्ण रूपसे संचारक्षेत्रके भीतर ही रहेंगे। श्लोक ६२–६३ के अनुसार मध्यम एवं बाह्य वीथीमें स्थित दोनों चन्द्रोंके मध्यगत उपर्युक्त अन्तरका प्रमाण इस प्रकारसे प्राप्त होता है–– ९९६४० + (७२$\frac{३५८}{४२७}$ × $\frac{१४}{२}$) = १००१४९$\frac{५३}{६१}$ यो. उभय चन्द्रोंका मध्यम अन्तर, १००१४९$\frac{५३}{६१}$ + $\frac{८}{६१}$ = १००१५० यो. उभय सूर्योंका मध्यम अन्तर (देखिये पीछे श्लोक ४८); ९९६४० + (७२$\frac{३५८}{४२७}$ × १४) = १००६५९$\frac{४५}{६१}$ यो. उभय चन्द्रोंका बाह्य अन्तर, १००६५९$\frac{४५}{६१}$ + $\frac{१६}{६१}$ = १००६६० यो. दोनों सूर्योंका बाह्य अन्तर।

पूर्व वीथीमें परिधिका प्रमाण तीन लाख तथा तीसके आधे (पन्द्रह) हजार नवासी (३१५०८९) योजन है ॥ ६५ ॥ यहाँ चयका प्रमाण दो सौ तीस योजन और एक योजनके चार सौ सत्ताईस भागोंमेंसे एक सौ तेतालीस भाग (२३०$\frac{१४३}{४२७}$) प्रमाण है ॥ ६६ ॥ चन्द्रकी मध्यम और अन्तिम वीथियोंमें परिधिका प्रमाण सूर्यके ही समान है। वह उससे केवल मध्यम वीथीमें एक योजनके चार सौ सत्ताईस भागोंमें दो सौ अस्सी भागों ($\frac{२८०}{४२७}$) से तथा बाह्य वीथीमें एक सौ तेतीस भागों ($\frac{१३३}{४२७}$) से हीन है। इस बाह्य परिधिके प्रमाणमेंसे एक चयके कम कर देनेपर उपान्त्य परिधिका प्रमाण होता है ॥ ६७–६८ ॥ यथा–– ३१५०८९ + (२३०$\frac{१४३}{४२७}$ × $\frac{१४}{२}$) = ३१६७०१$\frac{२१}{६१}$ यो. मध्य परिधि; ३१५०८९ + (२३०$\frac{१४३}{४२७}$ × १४) = ३१८३१३$\frac{४२}{६१}$ यो. बाह्य परिधि। ये दोनों परिधियां सूर्यकी उक्त परिधियोंसे क्रमशः $\frac{२८०}{४२७}$ = $\frac{४०}{६१}$ और $\frac{१३३}{४२७}$ = $\frac{१९}{६१}$ योजनसे हीन हैं– सूर्यकी मध्यम वीथीकी परिधि ३१६७०२ यो., ३१६७०२–$\frac{२८०}{४२७}$ = ३१६७०१$\frac{१४७}{४२७}$; सूर्यकी बाह्य वीथीकी परिधि ३१८३१४; ३१८३१४$\frac{१३३}{४२७}$

एकषष्ठ्यंशकैः शुद्धनियुतं षड्गुणिताष्टकैः । सूर्ययोरन्तरं मध्यं लावणस्योर्ध्वयायिनोः ॥ ६९

। १०००००। ऋणं $\frac{४८}{६१}$ ।

जम्बूद्वीपजगत्याश्च अर्धसूर्यान्तरान्तरे । मण्डलेऽभ्यन्तरे ज्ञेयो वर्तमानो दिवाकरः ॥ ७०

।४९९९९। $\frac{३७}{६१}$ ।

षट्षष्टिश्च सहस्राणि षट्षष्ट्या षट्छतानि च । धातकीखण्डसूर्याणां देशोनान्यन्तरं मतम् ॥ ७१

। ६६६६६ । ऋणं $\frac{२२}{१८६}$ ।

लावणस्य जगत्याश्च अर्धसूर्यान्तरान्तरे । मण्डलेऽभ्यन्तरे ज्ञेयो वर्तमानो दिवाकरः ॥ ७२

। ३३३३३ । ऋणं $\frac{११}{७८३}$ ।

= ३१८३१३$\frac{२९४}{४२७}$ यो. । वाह्य परिधि ३१८३१३$\frac{२९४}{४२७}$ – २३०$\frac{१४३}{४२७}$ = ३१८०८३$\frac{१५१}{४२७}$ यो. उपान्त्य परिधि ॥

लवणोद समुद्रके ऊपर संचार करनेवाले दो सूर्योंके मध्यमें एक योजनके इकसठ भागोंमेंसे छह गुणे आठ अर्थात् अड़तालीस भागोंसे कम एक लाख (९९९९९$\frac{१३}{६१}$) योजन प्रमाण अन्तर होता है ॥ ६९ ॥

विशेषार्थ— लवणोद समुद्रमें संचार करनेवाले सूर्योंकी संख्या ४ है । इनमें दो सूर्य लवणोद समुद्रके इस ओर तथा दो सूर्य उस ओर संचार करते हैं । इन दोनों सूर्योंके मध्यमें रहनेवाले अन्तरका प्रमाण जो यहां ९९९९९$\frac{१३}{६१}$ योजन वतलाया गया है वह इस प्रकारसे प्राप्त होता है– लवणोद समुद्रमें एक ओर चूंकि २ ही सूर्य संचार करते हैं; अत एव उसके विस्तारमेंसे दो सूर्यविम्वोंके विस्तारको घटाकर शेषमें आधी सूर्यसंख्या ($\frac{४}{२}$) का भाग दे देनेसे उपर्युक्त अन्तर प्राप्त हो जाता है । जैसे– {२००००० – ($\frac{४८}{६१}$×$\frac{४}{२}$)} ÷ $\frac{४}{२}$ = ९९९९९$\frac{१३}{६१}$= (१००००० – $\frac{४८}{६१}$) यो.

ऊपर जो दोनों सूर्योंके मध्यमें अन्तर वतलाया गया है उससे आधा अन्तर जंवूद्वीपकी जगती और लवणोद समुद्रमें संचार करनेवाले सूर्यके अभ्यन्तर वलयमें जानना चाहिये– ९९९९९$\frac{१३}{६१}$÷२=४९९९९$\frac{३७}{६१}$ यो. ॥ ७० ॥

विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि लवण समुद्रमें जो चार चार सूर्य-चन्द्र संचार करते हैं वे एक एक परिधिमें दो दो हैं । इनमें लवण समुद्रकी अभ्यन्तर वेदीसे ४९९९९$\frac{३७}{६१}$ योजन समुद्रके भीतर जाकर परिधि है । वहांपर सूर्यका विमान है और वह $\frac{४८}{६१}$ यो. विस्तृत है । इसके आगे ९९९९९$\frac{१३}{६१}$ यो. जाकर परिधि है । वहांपर सूर्यका विमान है । यह भी $\frac{४८}{६१}$ यो. ही विस्तृत है । फिर इसके आगे ४९९९९$\frac{३७}{६१}$ यो. जाकर लवण समुद्रकी वाह्य परिधि है । इस सवको मिलानेपर लवण समुद्रका पूरा दो लाख यो. विस्तार होता है– ४९९९९$\frac{३७}{६१}$+$\frac{४८}{६१}$+ ९९९९९$\frac{१३}{६१}$+$\frac{४८}{६६}$+४९९९९$\frac{३७}{६१}$=२००००० यो.

धातकीखण्डद्वीपमें संचार करनेवाले सूर्योंके मध्यमें कुछ कम छ्यासठ हजार छह सौ छ्यासठ योजन मात्र अन्तर माना गया है– {४०००००–($\frac{४८}{६१}$×$\frac{१२}{२}$)}÷ $\frac{१२}{२}$ = ६६६६५$\frac{१६१}{१८३}$ यो. ॥ ७१ ॥ लवण समुद्र सम्वन्धी जगतीसे अर्ध सूर्यान्तर (६६६६५$\frac{१६१}{१८३}$÷२) में अवस्थित

अष्टात्रिंशत्सहस्राणि नवतिश्च सपञ्चका । कालोदार्णवसूर्याणां देशोना मतमन्तरम् ॥ ७३

। ३८०९५ । $\frac{७०३}{१२८१}$ ।

धातक्याद्ध्वजगत्याश्च अर्धसूर्यान्तरान्तरे । मण्डलेऽभ्यन्तरे ज्ञेयो वर्तमानो दिवाकरः ॥ ७४

। १९०४७ । $\frac{२८९}{१२८१}$ ।

द्वाविंशतिसहस्राणि द्वाविंशति-शतद्वयम् । पुष्करार्धार्धसूर्याणां देशोनं मतमन्तरम् ॥ ७५

। २२२२२ ऋणं $\frac{३५०}{५४९}$ ।

कालोदकजगत्याश्च अर्धसूर्यान्तरान्तरे । मण्डलेऽभ्यन्तरे ज्ञेयो वर्तमानो दिवाकरः ॥७६

। ११११ ऋणं । $\frac{१५५}{५४९}$ ।

आदौ गजगतिर्भानोर्मध्ये चाश्वगतिर्भवेत् । अन्ते सिंहगतिः प्रोक्ता मण्डले तत्त्वदृष्टिभिः ॥ ७७

इष्टस्य परिधेर्माने[1] मुहूर्तैः षष्टिभिर्हृते[2] । यल्लब्धं तच्च भान्वोश्च मुहूर्तगमनं भवेत् ॥ ७८

द्विपञ्चाशच्छतं चैकं पञ्चाशत्प्रथमे पथि । नव द्विकं च षष्ठ्यंशाः[3] पूष्णोर्मौहूर्तिकी गतिः ॥७९

। ५२५१ । $\frac{२९}{६०}$ ।

षट्त्रिंशच्छतषष्ट्यंशाः सहस्रं पञ्चसप्ततिः । मुहूर्तगमने वृद्धिः परिधिं प्रति सूर्ययोः ॥ ८०

। $\frac{१०७५}{३६६०}$ ।

अभ्यन्तर वलयमें सूर्य वर्तमान है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ७२ ॥ कालोद समुद्रमें संचार करनेवाले सूर्योंके मध्यमें कुछ कम अड़तीस हजार पंचानबै योजन मात्र अन्तर माना गया है — $\{८००००० - (\frac{४८}{६१} \times \frac{४२}{२})\} \div \frac{४२}{२} = ३८०९४\frac{५७८}{१२८१}$ यो. ॥ ७३ ॥ धातकीखण्ड नामक द्वीपकी जगतीसे अर्ध सूर्यान्तर ($३८०९४\frac{५७८}{१२८१} \div २$) में अवस्थित अभ्यन्तर वलयमें वर्तमान सूर्य समझना चाहिये ॥ ७४ ॥ पुष्करार्ध द्वीपमें संचार करनेवाले आधे सूर्योंके मध्यमें कुछ कम बाईस हजार दो सौ बाईस योजन मात्र अन्तर माना गया है– $\{८००००० - (\frac{४८}{६१} \times \frac{७२}{२})\} \div \frac{७२}{२} = २२२२१\frac{२३९}{५४९}$ यो. ॥ ७५ ॥ कालोदक समुद्रकी जगतीसे अर्ध सूर्यान्तर ($२२२२१\frac{२३९}{५४९} \div २$) में अवस्थित अभ्यन्तर वलयमें वर्तमान सूर्य समझना चाहिये ॥ ७६ ॥

तत्त्वदर्शियोंके द्वारा सूर्यकी आदिम मण्डलमें गजगति, मध्यमें अश्वगति और अन्तमें सिंहगति कही गई है ॥ ७७ ॥ अभीष्ट परिधिका जो प्रमाण हो उसको साठ मुहूर्तोंसे भाजित करनेपर जो लब्ध हो उतना सूर्यकी एक मुहूर्त प्रमाण गतिका प्रमाण होता है ॥ ७८ ॥

उदाहरण – प्रथम परिधि ३१५०८९ यो.; $३१५०८९ \div ६० = ५२५१\frac{२९}{६०}$ यो. । यह प्रथम परिधिमें स्थित सूर्यकी एक मुहूर्त परिमित गतिका प्रमाण है ।

प्रथम पथमें सूर्यकी इस मुहूर्त परिमित गतिका प्रमाण बावन सौ इक्यावन योजन और एक योजनके साठ भागोंमेंसे नौ व दो अर्थात् उनतीस भाग ($५२५१\frac{२९}{६०}$) मात्र है ॥७९॥

आगे प्रत्येक परिधिमें संचार करते हुए दोनों सूर्योंकी इस मुहूर्त परिमित गतिमें उत्तरोत्तर छत्तीस सौ साठ भागोंमेंसे एक हजार पचत्तर भागों ($\frac{१०७५}{३६६०}$) की वृद्धि होती गई है॥८०॥

१ आ प °मनिं । २ प °हृते । ३ ब षष्ठचंताः ।

त्रिपञ्चाशच्छतं पञ्च षष्टयंशाश्च[1] चतुर्दश । बाह्ये च परिधौ सूर्यमुहूर्तगमनं भवेत् ॥ ८१

। ५३०६ । $\frac{१४}{६०}$ ।

प्रक्षेपेण पुनर्न्यूना यान्त्या मौहूर्तिकी गतिः । उपान्त्या च तृतीया च मुहूर्तगतिरिष्यते ॥ ८२

द्विशतस्यैकविंशस्य त्रयोविंशतिरंशकाः । द्विषष्टिश्च मुहूर्ताः स्युः शशिनो मण्डले गतौ ॥ ८३

। ६२ । $\frac{२३}{२२१}$ ।

इन्दोः पञ्चसहस्राणि चतुःसप्ततिरेव च । किंचिदूना मुहूर्तेन चान्तर्मन्दगतिर्भवेत् ॥ ८४

। ५०७४ ऋणं $\frac{५९८१}{१३७२५}$ ।

त्रिभिरभ्यधिका सैव सप्तभागैश्च पञ्चभिः । किंचिदूनैर्गतिर्वेद्या शशिनः प्रतिमण्डले ॥ ८५

। ३ । $\frac{५}{७}$ ।

शतं पञ्चसहस्राणि मध्यमौहूर्तिकी गतिः । षड्विंशत्या युतं[2] तत्तु शीघ्रा भवति बाहिरे ॥ ८६

। ५१२६ ।

प्रक्षेपोनं तदेव स्याद् बाह्यानन्तरमण्डले । तावदूनं पुनश्चैव तृतीये मण्डले गतिः ॥ ८७

बाह्य परिधिमें सूर्यकी मुहूर्तप्रमित गतिका प्रमाण तिरेपन सौ पांच योजन और एक योजनके साठ भागोंमेंसे चौदह भाग मात्र है— बाह्य परिधि ३१८३१४ यो.; ३१८३१४ ÷ ६० = ५३०५$\frac{१४}{६०}$ यो. । अथवा चयका प्रमाण $\frac{१०७५}{३६६०}$ है, अतः ५२५१$\frac{२९}{६०}$ + {$\frac{१०७५}{३६६०}$ × (१८४ – १)} = ५३०५$\frac{१४}{६०}$ यो. ॥ ८१ ॥ सूर्यकी जो यह मुहूर्तप्रमाण अन्तिम गति है उसमेंसे एक प्रक्षेप ($\frac{१०७५}{३६६०}$) को कम कर देनेपर उसकी मुहूर्तप्रमित उपान्त्य गतिका प्रमाण होता है, इसमेंसे भी एक प्रक्षेपको कम कर देनेसे अन्तिम वीथीकी ओरसे उसकी तीसरी मुहूर्तप्रमित गति मानी जाती है ॥ ८२ ॥

अपनी वीथियोंमेंसे किसी भी एक वीथीमें संचार करते हुए चन्द्रके उसको पूरा करनेमें बासठ मुहूर्त और एक मुहूर्तके दो सौ इक्कीस भागोंमेंसे तेईस भाग प्रमाण (६२$\frac{२३}{२२१}$ मुहूर्त) काल लगता है ॥ ८३ ॥ [प्रथम वीथीमें] चन्द्रकी मुहूर्तप्रमित मन्द गतिका प्रमाण पांच हजार चौहत्तर (५०७४) योजनसे किंचित् कम है— परिधि ३१५०८९ = $\frac{६९६३४६६९}{२२१}$ एक वीथीको पूरा करनेका काल ६२$\frac{२३}{२२१}$ = $\frac{१३७२५}{२२१}$ मुहूर्त; $\frac{६९६३४६६९}{२२१}$ ÷ $\frac{१३७२५}{२२१}$ = ५०७३$\frac{७७४४}{१३७२५}$ = ५०७३ यो. और ३ कोससे कुछ कम ॥ ८४ ॥ वही गति आगे द्वितीय आदि वीथियों-मेंसे प्रत्येक वीथीमें उत्तरोत्तर तीन योजन और एक योजनके सात भागोंमेंसे कुछ कम पांच भागों (३$\frac{५}{७}$) से अधिक होती गई जानना चाहिये ॥ ८५ ॥ मध्यमें चन्द्रकी मुहूर्तगतिका प्रमाण पांच हजार एक सौ (५१००) योजन है, इसीमें छब्बीस (= ३$\frac{५}{७}$ × ७) योजनोंके मिला देनेपर वह (५१२६) उसकी बाह्य वीथीमें मुहूर्तप्रमित शीघ्रगतिका प्रमाण होता है ॥ ८६ ॥ एक प्रक्षेप (३$\frac{५}{७}$) से कम वही बाह्यसे अनन्तर अर्थात् उपान्त्य वीथीमें चन्द्रकी मुहूर्तप्रमित गतिका प्रमाण होता है । इसमेंसे भी उतना ही कम कर देनेपर शेष रहा बाह्यकी ओरसे तृतीय वीथीमें उसकी मुहूर्तप्रमित गतिका प्रमाण होता है ॥ ८७ ॥

---

१ आ प षष्ठ्यंशाच्च । २ ब विंशद्युतं ।

श्रावणेऽभ्यन्तरे मार्गे वर्तमाने रवौ दिने । अष्टादशमुहूर्तांश्च द्वादशैव निशा भवेत् ।। ८८
षड् द्विकं पञ्च चत्वारि नव तापोऽभ्यन्तरे पथि । दशांशान् सप्त तस्यार्धं पुरः पश्चाद्भवेद् रवेः ।।८९
। ९४५२६ । $\frac{७}{१०}$ । तस्यार्धं ४७२६३ । $\frac{७}{२०}$ ।

त्रिषष्टिं च सहस्राणि पुनः सप्तदशैव च । चतुरः पञ्च भागांश्च तमःपरिधिरिष्यते ।। ९०
। ६३०१७ । $\frac{४}{५}$ ।

वैशाखे कार्तिके मध्ये वर्तमाने दिवाकरे । पञ्चदशमुहूर्तांश्च दिनं रात्रिस्तथैव च ।। ९१
नवसप्तति सहस्राणि पञ्चसप्तति शतं पुनः । द्विभागं मध्यमे तापस्तमश्च परिधौ भवेत् ।। ९२
। ७९१७५ । $\frac{१}{२}$ ।

वर्तमाने रवौ बाह्ये माघे मासे दिनं भवेत् । द्वादशैव मुहूर्तांश्च निशाष्टादश मुहूर्तकम् ।। ९३
त्रिषष्टिं च सहस्राणि द्विषष्टिं षट्छतानि च । चतुरः पञ्चभागांश्च तापः स्याद् बाह्यमण्डले।।९४
। ६३६६२ । $\frac{४}{५}$ ।

नवतिं च सहस्राणि पञ्चान्यानि चतुःशतम् । चत्वारि नवतिं पञ्चमांशं बाह्ये तमो भवेत् ।। ९५
। ९५४९४ । $\frac{१}{५}$ ।

परिधीनां दशांशेषु[1] द्वयो रात्रिर्दिनं त्रिषु । अभ्यन्तरे स्थिते भानौ विपरीते[2] तु बाहिरे ।। ९६
। $\frac{२}{१०}$ । $\frac{३}{१०}$ ।

श्रावण मासमें सूर्यके अभ्यन्तर वीथीमें रहनेपर अठारह (१८) मुहूर्त प्रमाण दिन और बारह (१२) मुहूर्त प्रमाण रात्रि होती है ।। ८८ ।। सूर्यके अभ्यन्तर पथमें स्थित होनेपर वहां तापक्षेत्रकी परिधिका प्रमाण अंकक्रमसे छह, दो, पांच, चार और नौ अर्थात् चौरानबै हजार पांच सौ छब्बीस योजन और एक योजनके दस भागोंमेंसे सात भाग (९४५२६$\frac{७}{१०}$ यो.) मात्र होता है।।८९।।सूर्यके अभ्यन्तर पथमें स्थित होनेपर तमक्षेत्रकी परिधि तिरेसठ हजार सत्तरह योजन और एक योजनके पांच भागोंमेंसे चार भाग(६३०१७$\frac{४}{५}$)प्रमाण मानी जाती है।।९०।।

वैशाख और कार्तिक मासमें मध्यम पथमें सूर्यके वर्तमान होनेपर पन्द्रह मुहूर्त प्रमाण दिन और उतनी ही रात्रि भी होती है ।। ९१ ।। उस समय मध्यम परिधिमें तापका प्रमाण उन्यासी हजार एक सौ पचत्तर योजन और दो भाग (७९१७५$\frac{१}{२}$ यो.) मात्र होता है । तमकी परिधिका भी प्रमाण इतना ही होता है ।। ९२ ।।

माघ मासमें सूर्यके बाह्य पथमें वर्तमान होनेपर दिन बारह मुहूर्त प्रमाण और रात्रि अठारह मुहूर्त प्रमाण होती है ।। ९३ ।। उस समय बाह्य वीथीमें तापकी परिधि तिरेसठ हजार छह सौ बासठ योजन और एक योजनके पांच भागोंमेंसे चार भाग (६३६६२$\frac{४}{५}$) प्रमाण होती है ।। ९४ ।। इसी बाह्य वीथीमें तमकी परिधि नब्बै और अन्य पांच अर्थात् पंचानबै हजार चार सौ चौरानबै योजन और एक योजनके पांचवें भाग (९५४९४$\frac{१}{५}$) प्रमाण होती है ।। ९५ ।।

सूर्यके अभ्यन्तर मार्गमें स्थित रहनेपर परिधियोंके दस भागोंमेंसे दो भागोंमें रात्रि और तीन भागोंमें दिन होता है, तथा उसके बाह्य मार्गमें स्थित होनेपर उसके विपरीत अर्थात्

१ ब दशांतेषु । २ ब विपरीतौ ।

तापः सुराद्रिमध्याच्च यावल्लवणषष्ठकम् । योजनानामधश्चोर्ध्वमष्टादशशतं शतम् ॥ ९७

। ८३३३३ । $\frac{१}{३}$ । १८०० । १०० ।

षट् चतुष्कं च शून्यं च सप्तकं द्वौ च पञ्चकम् । [१]नीरधेष्वष्ट[ष्षष्ठ]भागस्य परिधिः परिकीर्तितः॥९८

। ५२७०४६ ।

अभ्यन्तरे रवौ याति मण्डले सर्वमण्डले । तापक्षेत्रस्य परिधिस्तमसश्च निशम्यताम् ॥ ९९

त्रिकैकैकाष्टपञ्चैकं चतुरः पञ्चमांशकान् । मण्डलस्याब्धिषष्ठस्य[२] तापस्य परिधिर्भवेत् ॥ १००

। १५८११३ । $\frac{४}{५}$ ।

नव शून्यं चतुः पञ्च शून्यैकं पञ्चमांशकम् । मण्डलस्याब्धिषष्ठस्य तमसः परिधिर्भवेत् ॥ १०१

। १०५४०९ । $\frac{१}{५}$ ।

चतुर्नव चतुः पञ्च नवकं पञ्चमांशकम् । तापस्य परिधिर्बाह्यमण्डलस्य भवेद् ध्रुवम् ॥ १०२

। ९५४९४ । $\frac{१}{५}$ ।

द्विकषट्कं षट् त्रिकं षट्कं [३]चतुःपञ्चांशकान् पुनः । तमसः परिधिर्बाह्यमण्डले निश्चितो भवेत् ॥

। ६३६६२ । $\frac{४}{५}$ ।

नवतिं पञ्चभिर्युक्तां सहस्राणां दशापि च । त्रिपञ्चमांशकांस्तापपरिधिर्मध्यमे पथि ॥ १०४

। ९५०१० । $\frac{३}{५}$ ।

तीन भागोंमें रात्रि और दो भागोंमें दिन होता है ॥ ९६ ॥ सूर्यताप मेरु पर्वतके मध्य भागसे लेकर लवण समुद्रके छठे भाग तक (जं. ५०००० + ल. $\frac{२०००००}{६}$ = ८३३३३$\frac{१}{३}$) नीचे अठारह सौ (१८००) और ऊपर एक सौ (१००) योजन प्रमाण माना गया है ॥ ९७ ॥ लवण समुद्रके छठे भागकी परिधिका प्रमाण अंक क्रमसे छह, चार, शून्य, सात, दो और पांच; अर्थात् पांच लाख सत्ताईस हजार छयालीस (५२७०४६) योजन कहा गया है ॥ ९८ ॥

सूर्यके अभ्यन्तर वीथीमें संचार करनेपर सब वीथियोंमें जो तापक्षेत्र और तमक्षेत्रकी परिधिका प्रमाण होता है उसे सुनिये ॥ ९९ ॥ उस समय लवण समुद्रके छठे भागमें तापकी परिधि अंकक्रमसे तीन, एक, एक, आठ, पांच और एक; अर्थात् एक लाख अट्ठावन हजार एक सौ तेरह योजन तथा एक योजनके पांच भागोंमेंसे चार भाग (१५८११३$\frac{४}{५}$) प्रमाण होती है ॥ १०० ॥ लवण समुद्रके छठे भागमें तमकी परिधि अंकक्रमसे नौ, शून्य, चार, पांच, शून्य और एक अर्थात् एक लाख पांच हजार चार सौ नौ योजन तथा एक योजनके पांचवें भाग (१०५४०९$\frac{१}{५}$)प्रमाण होती है ॥ १०१ ॥ बाह्य वीथीमें तापकी परिधि अंक क्रमसे चार, नौ, चार, पांच और नौ; अर्थात् पंचानबै हजार चार सौ चौरानबै योजन तथा एक योजनके पांचवें भाग (९५४९४$\frac{१}{५}$) मात्र होती है ॥ १०२ ॥ बाह्य वीथीमें तमकी परिधि अंकक्रमसे दो, छह, छह, तीन और छह; अर्थात् तिरेसठ हजार छह सौ बासठ योजन तथा एक योजनके पांच भागोंमेंसे चार भाग (६३६६२$\frac{४}{५}$) प्रमाण निश्चित है ॥ १०३ ॥ मध्यम मार्गमें तापकी परिधि पंचानबै हजार दस योजन और एक योजनके पांच भागोंमें तीन भाग (९५०१०$\frac{३}{५}$)

---

१ ब नीरदे॰ । २ ब ॰ब्दिपष्ठस्य । ३ आ प द्विकपट्कं पट्त्रिकं पट्कं षट्त्रिकं षट्कं चतुः ।

त्रिषष्टिं च सहस्राणि पञ्चघ्नं चाष्टषष्टिकम् । द्विपञ्चमांशकौ मध्ये तमसः परिधिः पथि ॥ १०५

। ६३३४० । $\frac{२}{५}$ ।

चतुःशतमशीतिं च षट्कं नवसहस्रकम् । त्रिपञ्चमांशकान् मेरोः परिधावातपो[१] भवेत् ॥ १०६

। ९४८६ । $\frac{३}{५}$ ।

त्रिशतं षट्सहस्रं च चतुर्विंशतिमेव च । द्विपञ्चमांशकौ मेरोः परिधौ तिमिरं भवेत् ॥ १०७

। ६३२४ । $\frac{२}{५}$ ।

मध्यमे मण्डले याति भास्करे सर्वमण्डले । तापक्षेत्रस्य परिधिस्तमसश्च समो भवेत् ॥ १०८

एकषट्[२] सप्तकैकं च त्रिकमेकं द्विभागकम् । परिधिश्चाब्धिषष्ठांशे तापस्य तमसश्च वै ॥१०९

।१३१७६१ । $\frac{१}{२}$ ।

सप्तति च सहस्राणि नवार्धं चाष्टसप्ततिम् । द्व्यंशं च परिधिस्तापतमसो बाह्यमण्डले ॥ ११०

। ७९५७८ । $\frac{१}{२}$ ।

अष्टसप्ततिसहस्राणि शतसप्त-द्विसप्ततिम् । चतुर्थांशं च तापः स्यात् तमसश्चाभ्यन्तरे पथि ॥१११

। ७८७७२ । $\frac{१}{४}$ ।

सहस्रसप्तकं पञ्चयुतं नवशतं पुनः । द्व्यंशं मेरुपरिक्षेपे तापश्च तिमिरं भवेत् ॥ ११२

। ७९०५ । $\frac{१}{२}$ ।

प्रमाण होती है ॥ १०४ ॥ मध्यम मार्गमें तमकी परिधि तिरेसठ हजार और पांचगुणित अड़सठ (६८×५) अर्थात् तीन सौ चालीस योजन तथा एक योजनके पांच भागोंमें दो भाग (६३३४०$\frac{२}{५}$) प्रमाण होती है ॥ १०५ ॥ मेरु पर्वतकी परिधिमें नौ हजार चार सौ अस्सी और छह अर्थात् छयासी योजन तथा एक योजनके पांच भागोंमेंसे तीन भाग (९४८६$\frac{३}{५}$) प्रमाण ताप होता है ॥ १०६ ॥ मेरुकी परिधिमें छह हजार तीन सौ चौबीस योजन तथा एक योजनके पांच भागोंमेंसे दो भाग (६३२४$\frac{२}{५}$) प्रमाण तम होता है ॥ १०७ ॥

सूर्यके मध्यम वीथीमें संचार करनेपर सब वीथियोंमें तापक्षेत्र और तमकी परिधि समान होती है ॥ १०८ ॥ उस समय लवण समुद्रके छठे भागमें ताप और तमकी परिधि अंकक्रमसे एक, छह, सात, एक, तीन और एक अर्थात् एक लाख इकतीस हजार सात सौ इकसठ योजन तथा एक योजनके द्वितीय भाग ($\frac{५२७०४६ \times १५}{६०}$ = १३१७६१$\frac{१}{२}$) प्रमाण होती है ॥ १०९ ॥ बाह्य वीथीमें ताप और तमकी परिधि सत्तर, नौ और अर्ध हजार अर्थात् उन्यासी हजार पांच सौ अठत्तर योजन तथा एक योजनके द्वितीय भाग ($\frac{३१८३१४ \times १५}{६०}$ = ७९५७८$\frac{१}{२}$) प्रमाण होती है ॥ ११० ॥ अभ्यन्तर मार्गमें ताप और तमकी परिधि अठत्तर हजार सात सौ बहत्तर योजन और एक योजनके चतुर्थ भाग ($\frac{३१५०८९ \times १५}{६०}$ = ७८७७२$\frac{१}{४}$) प्रमाण होती है ॥ १११ ॥ मेरुकी परिधिमें ताप और तम सात हजार नौ सौ पांच योजन तथा एक योजनके द्वितीय भाग ($\frac{३१६२२ \times १५}{६०}$ = ७९०५$\frac{१}{२}$) प्रमाण होते हैं ॥ ११२ ॥

---

१ प °वतपो । २ प एकषष्ठि सप्त° ।

वाहिरे मण्डले याति भास्करे सर्वमण्डले । परिधिश्चातपस्यापि तिमिरस्य निशम्यताम् ॥ ११३

नियुतं पञ्चसहस्राणि नवाधिकचतुःशतम् । पञ्चमांशं च तापश्च षष्ठांशे लवणोदधेः ॥ ११४

। १०५४०९ । $\frac{१}{५}$ ।

त्रीण्येकमेकमष्टौ च पञ्चैकं पञ्चमांशकान् । चतुरोऽम्बुधिषष्ठांशे तमसः परिधिर्भवेत् ॥ ११५

। १५८११३ । $\frac{४}{५}$ ।

सहस्राणां त्रिषष्टिं च त्रिशतं द्विघ्नविंशतिम् । पञ्चमांशौ भवेत्तापपरिधिर्मध्यमण्डले ॥ ११६

। ६३३४० । $\frac{२}{५}$ ।

सहस्राणां भवेत्पञ्चनवतिं दशकं पुनः । त्रिपञ्चांशान् परिक्षेपस्तमसो मध्यमण्डले ॥ ११७

। ९५०१० । $\frac{३}{५}$ ।

स त्रिषष्टि सहस्राणां सप्तादशभिरन्विताम् । चतुःपञ्चाशकांस्तापस्तिष्ठेदभ्यन्तरे पथि ॥ ११८

। ६३०१७ । $\frac{४}{५}$ ।

सहस्राणां च चत्वारि नवतिं शतपञ्चकम् । षड्विंशतिं दशांशांश्च सप्त चाभ्यन्तरे तमः ॥ ११९

। ९४५२६ । $\frac{७}{१०}$ ।

चतुर्विंशतिसंयुक्तं त्रिशतं षट्सहस्रकम् । द्वौ पञ्चमांशकौ तापः सुराद्रिपरिधौ भवेत् ॥ १२०

। ६३२४ । $\frac{२}{५}$ ।

चतुःशतं सहस्राणां नवकं[१] षडशीतिकम् । त्रिपञ्चमांशकान् मेरुपरिधौ तिमिरं भवेत् ॥ १२१

। ९४८६ । $\frac{३}{५}$ ।



सूर्यके वाह्य मार्गमें संचार करनेपर सव वीथियोमें ताप और तमकी परिधिका जो प्रमाण होता है उसे सुनिये ॥ ११३ ॥ उस समय लवण समुद्रके छठे भागमें तापकी परिधि एक लाख पांच हजार चार सौ नौ योजन तथा एक योजनके पांचवें भाग ($\frac{५२७०४६ \times १२}{६०}$ = १०५४०९$\frac{१}{५}$) प्रमाण होती है ॥ ११४ ॥ लवण समुद्रके छठे भागमें तमकी परिधि अंकक्रमसे तीन, एक, एक, आठ, पांच और एक अर्थात् एक लाख अट्ठावन हजार एक सौ तेरह योजन और एक योजनके पांच भागोंमेंसे चार भाग ($\frac{५२७०४६ \times १८}{६०}$ = १५८११३$\frac{४}{५}$) प्रमाण होती है ॥ ११५ ॥ मध्यम वीथीमें तापकी परिधि तिरेसठ हजार तीन सौ चालीस योजन तथा एक योजनके पांच भागोंमेंसे दो भाग ($\frac{३१६७०२ \times १२}{६०}$ = ६३३४०$\frac{२}{५}$) प्रमाण होती है ॥ ११६ ॥ मध्य वीथीमें तमकी परिधि पंचानवै हजार दस योजन और एक योजनके पांच भागोंमें तीन भाग ($\frac{३१६७०२ \times १८}{६०}$ = ९५०१०$\frac{३}{५}$) प्रमाण होती है ॥ ११७ ॥ अभ्यन्तर मार्गमें तापकी परिधि तिरेसठ हजार सत्तरह योजन और एक योजनके पांच भागोमें चार भाग ($\frac{३१५०८९ \times १२}{६०}$ = ६३०१७$\frac{४}{५}$) प्रमाण होती है ॥ ११८ ॥ अभ्यन्तर मार्गमें तमकी परिधिका प्रमाण चौरानवै हजार पांच सौ छव्वीस योजन और एक योजनके दस भागोंमेंसे सात भाग ($\frac{३१५०८९ \times १८}{६०}$ = ९४५२६$\frac{७}{१०}$) प्रमाण होती है ॥ ११९ ॥ मेरुकी परिधिमें तापका प्रमाण छह हजार तीन सौ चौवीस योजन और एक योजनके पांच भागोंमें दो भाग ($\frac{३१६२२ \times १२}{६०}$ = ६३२४$\frac{२}{५}$) मात्र होता है ॥ १२० ॥ मेरुकी परिधिमें तमका प्रमाण नौ हजार चार सौ छयासी योजन और एक योजनके पांच भागोंमें तीन भाग ($\frac{३१६२२ \times १८}{६०}$ = ९४८६$\frac{३}{५}$) मात्र होता है ॥ १२१ ॥

---

१ आ प नवतिं ।

शून्यत्रिकाष्टकैकेन यल्लब्धं परिधीन् हृते । सा तापतिमिरे तत्र हानिर्वृद्धिर्दिने दिने ॥ १२२

अष्टाशीतिं शते द्वे च त्रिंशदष्टशतानि तु[1] । सहस्रभागकाः षट् च हानिवृद्ध्यब्धिषष्ठके ॥ १२३

। २८८ । $\frac{६}{१८३०}$ ।

त्रिसप्तति-शतं भागाः सप्तादशशतं पुनः । चतुर्विंशतियुतं हानिर्वृद्धिः स्याद्बाह्यमण्डले ॥ १२४

। १७३ । $\frac{१७२४}{१८३०}$ ।

शतं त्रिसप्ततिर्भूयो द्वादशाग्रशतांशकाः । तापान्धकारयोर्हानिर्वृद्धिः स्यान्मध्यमण्डले ॥ १२५

। १७३ । $\frac{११२}{१८३०}$ ।

द्विसप्तति शतं व्येकत्रिंशत्त्रिशतसंशकाः[2] । तापान्धकारयोर्हानिर्वृद्धिश्च प्रथमे पथि ॥ १२६

। १७२ । $\frac{३२९}{१८३०}$ ।

सप्तादश पुनः पञ्चशतद्वादशभागकाः । आतपध्वान्तयोर्हानिर्वृद्धिः स्यान्मेरुमण्डले ॥ १२७

। १७ । $\frac{५१२}{१८३०}$ ।

उदयास्तु रवेर्नीले त्रिषष्टिर्निषधेऽपि च । हरिरम्यकयोश्च द्वौ व्येकविंशशतं जले ॥ १२८

। ६३ । ११९ ।

दशोत्तरं सहस्रार्धं चारक्षेत्रं विवस्वतः । लावणे च द्वयं तच्च षट्कं स्याद्धातकीध्वजे ॥ १२९

। ५१० ।

शून्य, तीन, आठ और एक (१८३०) अर्थात् एक हजार आठ सौ तीसका परिधियोंमें भाग देनेपर जो लब्ध हो वह प्रतिदिन होनेवाली ताप व तमकी हानि-वृद्धिका प्रमाण होता है ॥ १२२ ॥ यह हानि-वृद्धि लवण समुद्रके छठे भागमें दो सौ अठासी योजन और एक योजनके एक हजार आठ सौ तीस भागोंमेंसे छह भाग प्रमाण है— ५२७०४६ ÷ १८३० = २८८ $\frac{६}{१८३०}$ यो. ॥ १२३ ॥ यह हानि-वृद्धि बाह्य वीथीमें एक सौ तिहत्तर योजन और एक योजनके एक हजार आठ सौ तीस भागोंमेंसे सत्तारह सौ चौबीस भाग प्रमाण है— ३१८३१४ ÷ १८३० = १७३ $\frac{१७२४}{१८३०}$ यो. ॥ १२४ ॥ मध्य वीथीमें ताप और तमकी वह हानि-वृद्धि एक सौ तिहत्तर योजन और एक योजनके अठारह सौ तीस भागोंमें एक सौ बारह भाग प्रमाण है— ३१६७०२ ÷ ४१८ = १७३ $\frac{११२}{१८३०}$ यो. ॥ १२५ ॥ ताप और तमकी हानि-वृद्धि प्रथम पथमें एक सौ बहत्तर योजन और एक योजनके एक हजार आठ सौ तीस भागोंमेंसे तीन सौ उनतीस भाग मात्र है— ३१५०८९ ÷ १८३० = १७२ $\frac{३२९}{१८३०}$ यो. ॥ १२६ ॥ ताप और तमकी वह हानि-वृद्धि मेरुकी परिधिमें सत्तरह योजन और एक योजनके एक हजार आठ सौ तीस भागोंमेंसे पांच सौ बारह भाग मात्र है— ३१६२२ ÷ १८३० = १७ $\frac{५१२}{१८३०}$ यो. ॥ १२७ ॥

सूर्यके उदय (दिनगतिमान) निषध और नील पर्वतपर तिरेसठ (६३), हरि और रम्यक क्षेत्रोंमें दो (२) तथा जल अर्थात् लवण समुद्रमें एक सौ उन्नीस (११९) हैं— ६३ + २ + ११९ = १८४ ॥ १२८ ॥

सूर्यका चारक्षेत्र [जंबूद्वीपमें] सहस्रका आधा अर्थात् पांच सौ और दस योजन

---

१ ब शतान्वित° । २ आ प त्रिंशत्रिंशत ।

चारक्षेत्राणि कालोदे भवन्त्येकं च विंशतिः । षट्त्रिंशत्पुष्करार्धे च चारक्षेत्राणि सन्ति च ॥ १३०
त्र्यशीतिशतदिनानि स्युरभिजिन्मुख्येषु चायने । उत्तरेऽधिकदिवसाश्च त्रयश्चैकायने गताः ॥१३१

। १८३ ।

दिनैकषष्टिभागश्चेत्प्रत्येकपथलङ्घनम् । किं त्र्यशीतिशतस्येति गुणेऽधिकदिनानि वै ॥ १३२

प्र १ फ $\frac{१}{६१}$ । इ१८३ ।

दिने दिने मुहूर्तं तु वर्धमाना विभाव्यते । मासेन दिवसो वृद्धिर्वर्षेण द्वादशैव ते ॥ १३३
वर्षद्वयेन सार्धेन जायतेऽधिकमासकः । पञ्चवर्षयुगे [1]मासावधिकौ भवतस्तथा ॥ १३४
सत्रिपञ्चमभागं[2] च पुष्ये गत्वा चतुर्दिनम् । उत्तरायणनिष्पत्तिः शेषेष्वष्टदिनेषु च ॥ १३५

। ४$\frac{३}{५}$ ।

अधिक (१८०+३३०=५१०) है । ये चारक्षेत्र लवण समुद्रमें दो, धातकीखण्ड द्वीपमें छह कालोद समुद्रमें इक्कीस, और पुष्करार्ध द्वीपमें छत्तीस हैं ॥ १२९-३० ॥

विशेषार्थ— जंबूद्वीपमें २ सूर्य हैं । उनका चारक्षेत्र एक ही है । यह चारक्षेत्र जंबूद्वीपके भीतर १८० और लवण समुद्रमें सूर्यविम्ब ($\frac{४८}{६१}$) से अधिक ३३०$\frac{४८}{६१}$ इस प्रकार समस्त चारक्षेत्र १८०+३३०$\frac{४८}{६१}$ - ५१०$\frac{४८}{६१}$ योजन मात्र है । इतने चारक्षेत्रमें सूर्यकी १८४ वीथियां हैं । इनमेंसे क्रमशः प्रतिदिन दोनों सूर्य मिलकर एक एक वीथीमें संचार करते हैं । लवण समुद्रमें ४ सूर्य हैं । इनमेंसे दो एक ओर और दो दूसरी ओर आमने-सामने रहकर संचार करते हैं । इस प्रकार लवण समुद्रमें ५१०-५१० योजनके २ चार क्षेत्र हैं । धातकीखण्ड द्वीपमें १२ सूर्य हैं । इनमेंसे २-२ का एक ही चारक्षेत्र होनेसे वहां ५१०-५१० योजनके ६ चार क्षेत्र हैं । कालोद समुद्रमें ४२ तथा पुष्करार्धमें ७२ सूर्य हैं । अत एव उक्त रीतिसे वहां क्रमशः २१ और ३६ चार क्षेत्र हैं ।

अभिजित् आदि जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट नक्षत्रोंके उत्तरायणमें एक सौ तेरासी (१८३) दिन होते हैं । इनसे अतिरिक्त अधिक दिन होते हैं । तीन गत दिवस होते हैं ॥१३१॥ एक पथके लांघनेमें यदि दिनका इकसठवां ($\frac{१}{६१}$) भाग उपलब्ध होता है तो एक सौ तेरासी पथोंके लांघनेमें क्या उपलब्ध होगा, इस प्रकार गुणा करनेपर निश्चयसे अधिक दिन प्राप्त होते हैं । यहां प्रमाणराशि १ पथ, फलराशि दिनका ६१वां भाग ($\frac{१}{६१}$) और इच्छाराशि १८३ पथ हैं– $\frac{१}{६१}$×१८३÷१=३ दिन ॥ १३२ ॥ इस प्रकार प्रतिदिन एक एक मुहूर्तकी वृद्धि होकर एक मासमें एक दिन (३० मुहूर्त) तथा एक वर्षमें बारह दिनकी वृद्धि बतलाई गई है ॥१३३॥ उक्त क्रमसे वृद्धि होकर अढ़ाई वर्षमें एक अधिक मास तथा पांच वर्ष प्रमाण एक युगमें दो अधिक मास हो जाते हैं ॥ १३४ ॥

पुष्य नक्षत्रमें पांच भागोंमेंसे तीन भाग सहित चार (४$\frac{३}{५}$) दिन जाकर उत्तरायणकी समाप्ति होती है तथा शेष नक्षत्रोंमें आठ दिन और एक दिनके पांच भागोंमेंसे चार भाग (८$\frac{४}{५}$ दिन) जाकर उत्तरायणकी समाप्ति होती है । श्रावण कृष्णा प्रतिपदाके दिन अभ्यन्तर

---

१ प मास° । २ प पंचमागं ।

सचतुःपञ्चमांशेषु भानोरभ्यन्तरे पथि । दक्षिणस्यायनस्यादिः प्रतिपच्छ्रावणे भवेत् ॥ १३६

। ८ । ४/५ ।

आषाढपौर्णिमास्यां तु युगनिःपत्तिश्च श्रावणे । प्रारम्भः प्रतिपच्चन्द्रयोगाभिजिदि कृष्णके ॥१३७
प्रथमान्तिमवीथिभ्यां दक्षिणस्योत्तरस्य च । प्रारम्भश्चायनस्यैव[1] स्यादावृत्तिरितीष्यते ॥ १३८
दक्षिणावृत्तिरेकादिर्द्विचयोत्तरगावृतिः । द्विकादिद्विचया गच्छ उभयत्रापि पञ्च च ॥ १३९
कृष्णे सौम्ये त्रयोदश्यां द्वितीयावृत्तिरिष्यते । शुक्ले विशाखया चैव तृतीया दशमीगता ॥ १४०
सप्तम्यां खलु रेवत्यां चतुर्थी कृष्णपक्षगा । चतुर्थ्यां शुक्लपक्षे च भाग्ये भवति पञ्चमी ॥ १४१
दक्षिणे चायने पञ्च श्रावणेषु च पञ्चसु । संवत्सरेषु पञ्चैताः प्रोक्ता पूष्णो[2] निवृत्तयः ॥ १४२
माघे कृष्णे च सप्तम्यां मुहूर्ते रौद्रनामनि । हस्तेभिजिदि (?) युक्तोऽर्को दक्षिणातो निवर्तते ॥१४३
चतुर्थ्यां वारुणे शुक्ले द्वितीयावृत्तिरिष्यते । कृष्णे पुष्ये तृतीया तु प्रतिपद्यभिधीयते ॥ १४४
मूले कृष्णे त्रयोदश्यां चतुर्थी चापि जायते । कृत्तिकायां दशम्यां च शुक्ले भवति पञ्चमी ॥ १४५
उत्तरे चायने पञ्च वर्षेषु च पञ्चसु । माघमासेषु ताः प्रोक्ताः पञ्चकावृत्तयो रवेः ॥ १४६

वीथीमें सूर्यके दक्षिणायनका प्रारम्भ होता है ॥ १·३५–१३६ ॥ आषाढ मासकी पूर्णिमाके दिन पांच वर्ष प्रमाण युगकी पूर्णता और श्रावण कृष्णा प्रतिपदाके दिन चन्द्रका अभिजित् नक्षत्रके साथ योग होनेपर उस युगका प्रारम्भ होता है ॥ १३७ ॥

प्रथम वीथीसे दक्षिणायनका तथा अन्तिम वीथीसे उत्तरायणका प्रारम्भ होता है । इसको ही दक्षिणायन एवं उत्तरायणकी प्रथम आवृत्ति कहा जाता है ॥ १३८ ॥ दक्षिण आवृत्ति एकको आदि लेकर दो से अधिक (१, ३, ५, ७, ९,) तथा उत्तर आवृत्ति दोको आदि लेकर दो से अधिक (२, ४, ६, ८, १०) होती जाती है । दोनों ही आवृत्तियोंमें गच्छका प्रमाण पांच है ॥ १३९ ॥ श्रावण कृष्णा त्रयोदशीको [मृगशीर्षा नक्षत्रमें] द्वितीय आवृत्ति मानी जाती है । इसी मासमें शुक्ल पक्षकी दशमीको विशाखा नक्षत्रमें तृतीय आवृत्ति होती है ॥ १४० ॥ कृष्ण पक्षकी सप्तमीके दिन रेवती नक्षत्रके होनेपर चौथी और शुक्ल पक्षकी चतुर्थीको पूर्वा फाल्गुनी नक्षत्रमें पांचवीं आवृत्ति होती है ॥ १४१ ॥ इस प्रकार पांच वर्षोंके भीतर पांच श्रावण मासोंमें दक्षिण अयनमें ये पांच सूर्यकी आवृत्तियां कही गई हैं ॥ १४२ ॥

माघ मासमें कृष्ण पक्षकी सप्तमीको रौद्र नामक मुहूर्तमें हस्त अभिजित् (?) नक्षत्रका योग होनेपर सूर्य दक्षिणायनको छोड़कर उत्तरायणमें जाता है ॥ १४३ ॥ शुक्ल पक्षकी चतुर्थीके दिन शतभिष नक्षत्रमें द्वितीय आवृत्ति मानी जाती है । कृष्ण पक्षकी प्रतिपदाको पुष्य नक्षत्रके रहनेपर तृतीय आवृत्ति कही जाती है ॥ १४४ ॥ कृष्ण पक्षकी त्रयोदशीको मूल नक्षत्रमें चौथी तथा शुक्ल पक्षकी दशमीको कृत्तिका नक्षत्रमें पांचवीं आवृत्ति होती है ॥ १४५ ॥ पांच वर्षोंके भीतर पांच माघ मासोंमें उत्तरायणमें सूर्यकी वे पांच आवृत्तियां कही गई हैं ॥ १४६ ॥

१ आ प प्रारम्भस्यायन॰ । २ व पूष्णा ।

एकाशीतिशतं रूपहीनावृत्तिगुणं भवेत् । सैकविंशति शेषोऽश्विन्यादिभं[1] त्रिघनाप्तके ॥ १४७

त्र्यशीत्यधिकशतं[2] रूपन्यूनावृत्तिगुणं पुनः । त्रिघ्नेन गुणकारेण सैकेन च संयुतम् ॥ १४८

विभक्ते पञ्चदशभिर्यल्लब्धं पर्व तद्भवेत् । तिथयश्चावशेषाः स्युर्वर्तमानायनस्य च ॥ १४९

षण्मासार्धगतानां च ज्योतिष्काणां दिवानिशम् । समानं च भवेद्यत्र तं कालमिषुपं[3] विदुः ॥१५०

प्रथमं विषुवं चास्ति षट्स्वतीतेषु पर्वसु[4] । तृतीयायां च रोहिण्यामित्याचार्याः प्रचक्षते ॥१५१

अतीतेषु द्वितीयं च अष्टादशसु पर्वसु । नवम्यां च श्रवि[धनि]ष्ठायां भवतीति निवेदितम् ॥ १५२

एकत्रिंशत्यतीतेषु पर्वसु स्यात्तृतीयकम् । पञ्चदश्यां तिथौ चापि नक्षत्रे स्वातिनामके ॥ १५३

एक सौ इक्यासीको एक कम विवक्षित आवृत्तिसे गुणित करे । पश्चात् उसमें इकीस मिलाकर तीनके घन (३×३×३)का भाग देनेपर जो शेष रहे उतनेवां अश्विनीको आदि लेकर नक्षत्र होता है ॥ १४७ ॥

उदाहरण— जैसे यदि प्रथम आवृत्ति विवक्षित है तो एकमेंसे एकको घटानेपर शून्य शेष रहता हैं (१−१=०) । उसको १८१ से गुणित करनेपर शून्य ही प्राप्त होगा । पश्चात् उसमें इक्कीसको मिलाकर ३ के घन २७ का भाग देनेपर वह नहीं जाता है । तब २१ ही शेष रहते हैं । इस प्रकार प्रथम आवृत्तिमें अश्विनीसे लेकर २१वां नक्षत्र उत्तराषाढ़ा समझना चाहिये । यहां जो वह अभिजित् नक्षत्र बतलाया गया है वह सूक्ष्मतासे बतलाया गया है ।

एक सौ तेरासीको एक कम आवृत्तिसे गुणित करे । पश्चात् उसमें तिगुणा गुणाकार और एक मिलाकर पन्द्रहका भाग देनेपर जो लब्ध हो वह वर्तमान अयनके पर्व तथा शेष तिथियोंका प्रमाण होता है ॥ १४८−१४९ ॥

उदाहरण— जैसे यदि द्वितीय आवृत्तिकी विवक्षा है तो २ मेंसे १ को कम करनेपर १ शेप रहता है। उसको १८३ से गुणित करनेपर १८३ ही प्राप्त होते हैं । इसमें गुणकार १ के तिगुणे ३ को मिलानेपर १८३+३=१८६ हुए । उसमें १ अंक और जोड़कर १५ का भाग देनेपर $\frac{१८६+१}{१५}$= लब्ध १२ और शेप ७ रहते हैं । इस प्रकार द्वितीय आवृत्तिमें १२ पर्व और सप्तमी तिथि प्राप्त होती है । पक्षके पूर्ण होनेपर जो पूर्णिमा और अमावस्या होती है उसका नाम पर्व है । यह द्वितीय आवृत्ति उत्तरायणका प्रारम्भ हो जानेपर प्रथम माघ मासमें कृष्ण पक्षकी सप्तमी तिथिके समय होती है । तब तक युगके प्रारम्भसे १२ पर्व वीत जाते हैं । इसी क्रमसे अन्य आवृत्तियोंमें भी पर्व और तिथिको समझना चाहिये ।

ज्योतिषी देवोंके छह मास (अयन) के अर्ध भागको प्राप्त होनेपर जिस कालमें दिन और रात्रिका प्रमाण वरावर होता है उस कालको विषुप कहा जाता है ॥ १५० ॥ छह पर्वोंके वीत जानेपर तृतीया तिथिमें रोहिणी नक्षत्रके समय प्रथम विषुप होता है, ऐसा आचार्य कहते हैं ॥ १५१ ॥ अठारह पर्वोंके वीतनेपर नवमीके दिन धनिष्ठा नक्षत्रमें द्वितीय नक्षत्र होता है, ऐसा निर्दिष्ट किया गया है ॥ १५२ ॥ इकतीस पर्वोंके वीत जानेपर पंचदशी (पूर्णिमा) तिथिको

---

१ प 'श्विन्मादिमं । २ प त्र्यशीति अधिक' । ३ आ प 'मिषुपं । ४ ब सर्वसु ।

चत्वारिंशत्यतीतेषु त्र्यधिकासु च पर्वसु । पुनर्वसौ च षष्ठ्यां च चतुर्थमिषुपं[1] भवेत् ॥ १५४
पञ्चपञ्चाशत्यतीतेषु पर्वसु द्वादशे दिने । उत्तरा[2] प्रोष्ठपादा ह्वे पञ्चमं विषुवं मतम् ॥ १५५
अष्टषष्ट्यामतीतेषु समस्तेषु च पर्वसु । तृतीयायां मैत्रे च विषुवं षष्ठमिष्यते ॥ १५६
अशीत्यां समतीतेषु संपूर्णेषु तु पर्वसु । मघायां च नवम्यां च सप्तमं विषुवं भवेत् ॥ १५७
त्रिनवत्यामतीतेषु क्रमात्प्राप्तेषु पर्वसु । पञ्चदश्यां तिथौ चापि अश्वयुज्यष्टमं[3] भवेत् ॥ १५८
शते पञ्चोत्तरे यातेष्वतः कालेन पर्वसु । उत्तराषाढनक्षत्रे षष्ट्यां च नवमं भवेत् ॥ १५९
पर्वस्वेवमतीतेषु शते सप्तदशोत्तरे । द्वादश्यामुत्तराद्यायां फाल्गुन्यां दशमं भवेत् ॥ १६०
द्विहतेष्टेषुपं रूपहीनं षड्गुणितं भवेत् । पर्व तस्य दलं मानं वर्तमानायने तिथेः ॥ १६१
षड्घ्नैकोनपदं रूप-त्रियुतं तिथिमानकम् । आवृत्तेरिषुपस्येह विषमे कृष्णः समे सितः[4] ॥ १६२

स्वाति नक्षत्रमें तीसरा विषुप होता है ॥ १५३ ॥ तीन अधिक चालीस अर्थात् तेतालीस पर्वोंके वीतनेपर षष्ठी तिथिको पुनर्वसु नक्षत्रमें चौथा विषुप होता है ॥ १५४ ॥ पचवन पर्वोंके वीतनेपर द्वादशीके दिन उत्तरा भाद्रपद नक्षत्रमें पांचवां विषुप होता है ॥ १५५ ॥ समस्त अड़सठ पर्वोंके वीतनेपर तृतीया तिथिको मैत्र (अनुराधा) नक्षत्रमें छठा विषुप होता है ॥ १५६ ॥ सम्पूर्ण अस्सी पर्वोंके वीतनेपर नवमी तिथिको मघा नक्षत्रमें सातवां विषुप होता है ॥ १५७ ॥ क्रमसे प्राप्त हुए तेरानबै पर्वोंके वीत जानेपर पंचदशी (अमावस्या) तिथिको अश्विनी नक्षत्रमें आठवां विषुप होता है ॥ १५८ ॥ एक सौ पांच पर्वोंके वीत जानेपर षष्ठीके दिन उत्तराषाढ़ा नक्षत्रमें नौवां विपुप होता है ॥ १५९ ॥ इस प्रकार एक सौ सत्तरह पर्वोंके वीत जानेपर द्वादशी तिथिको उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्रमें दसवां विषुप होता है ॥ १६० ॥

दुगुणे अभीष्ट इषुप (विषुप) मेंसे एक अंकको कम करके शेषको छहसे गुणित करनेपर पर्वका प्रमाण प्राप्त होता है । उसको आधा करनेसे वर्तमान अयन (विषुप) की तिथिसंख्या होती है । [यदि वह पर्वका आधा भाग १५ से अधिक हो तो उसमें १५ का भाग देनेपर जो लब्ध हो उसे पर्वसंख्यामें जोड़कर शेषको तिथिका प्रमाण समझना चाहिये ।] ॥ १६१ ॥

उदाहरण– जैसे यदि नौवां विषुप अभीष्ट है तो नौको दुगुणा करके उसमेंसे एक अंकको कम करना चाहिये । इस प्रकारसे जो प्राप्त हो उसे छहसे गुणित करे– (९×२)–१×६=१०२ यह पर्वका प्रमाण हुआ । अब चूंकि इसका अर्ध भाग ५१ होता है जो १५ से अधिक है, अत एव ५१ में १५ का भाग देनेपर जो ३ लब्ध होते हैं उन्हे पर्वप्रमाणमें मिलाकर शेष ६ को तिथि समझना चाहिये । इस प्रकार विवक्षित नौवें विषुपमें पर्वका प्रमाण १०२+३=१०५ और तिथिका ६ (षष्ठी) प्राप्त होता है । (देखिये पीछे श्लोक १५९)

एक कम आवृत्तिके पदको छहसे गुणित करके उसमें एक अंकके मिलानेपर आवृत्तिकी तिथिसंख्या तथा तीनके मिलानेपर इषुपकी तिथिसंख्या होती है । इनमें तिथिसंख्याके विषम होनेपर कृष्ण पक्ष तथा उसके सम होनेपर शुक्ल पक्ष होता है ॥ १६२ ॥

उदाहरण— जैसे यदि हम नौवीं आवृत्तिकी तिथिको जानना चाहते हैं तो उक्त

१ प 'मिषुणं । २ ब प्रौष्ठ° । ३ प युज्ज्यष्टमं । ४ आ प स्थितः ।

आवृत्तिलब्धनक्षत्रं दशयुक्तं[1] षष्ठकेऽष्टमे । दशमे रूपहीनं च नक्षत्रमिषुपे भवेत् ॥ १६३
चन्द्रस्य षोडशो भागः शुक्ले शुक्लो विजायते । कृष्णपक्षे भवेत्कृष्ण इति शास्त्रे विनिश्चितः ॥१६४

उक्तं च त्रिलोकप्रज्ञप्तौ [७, २०५-२०८, २१०-१२, २१४-१५] -

राहूण पुरतलाणं दुवियप्पाणि हवंति गमणाणि । दिणपव्वदियप्पेहिं[2] दिणराहू ससिसरिच्छगई[3] ॥१
जस्सिं मग्गे ससहरबिंबं दीसेदि तेसु परिपुण्णं । सो होदि पुण्णिमक्खो दिवसो इह माणुसे लोए ॥ २
तव्वीहीयो लंघिय दीवस्स हुदासमारुददिसादो । तदणंतरवीहीए यंति हु दिणराहुससिबिंबा ॥ ३
ताहे ससहरमंडलसोलसभागेसु एक्कभागंसो[4] । आवरमाणो दीसइ राहूलंघणविसेसेण ॥ ४
तदणंतरमग्गाइं णिच्चं लंघंति[5] राहुससिबिंबा । पवणग्गिदिसाहिंतो एवं सेसासु वीहीसु ॥ ५
ससिबिंबस्स दिणं पडि एक्केक्कपहम्मि भागमेक्केक्कं । पच्छादेदि हु राहू पण्णरसकलाओ परियंतं ॥
इदि एक्केक्ककलाए आवरिदाए खु राहुबिंबेण । चंदेक्ककला मग्गे जस्सि दीसेदि सो य अमवासो ॥ ७

करणसूत्रके अनुसार नौमेंसे एक कम करके शेष आठको छहसे गुणित करना चाहिये । इस प्रकारसे जो राशि प्राप्त हो उसमें एक अंक और मिला देनेसे उनंचास होते हैं- (९-१)×६+१=४९. अव चूंकि यह राशि १५ से अधिक है अत एव उसमें १५ का भाग देना चाहिये-४९÷१५= ३ शेष ४. इस प्रकार जो ४ अंक शेष रहते हैं उनसे उक्त ९वीं आवृत्तिकी चतुर्थी तिथि तथा सम संख्या होनेसे शुक्ल पक्ष समझना चाहिये । (देखिये पीछे श्लोक १४१ में ५वीं दक्षिणायनकी आवृत्ति) । उपर्युक्त करण सूत्रके ही अनुसार विवक्षित नौवें विषुपकी तिथि इस प्रकारसे प्राप्त होती है- (९-१)×६+३=५१; ५१÷१५=३ शेष ६. इस प्रकार शेष ६ सम संख्यासे शुक्ल पक्षकी षष्ठी तिथि समझना चाहिये । (देखिये पीछे श्लोक १५९)

आवृत्तिमें जो नक्षत्र प्राप्त हो उसमें दस मिलाकर छठी, आठवीं और दसवीं आवृत्तिमें एक अंकके कम कर देनेपर इषुपमें नक्षत्र होता है ॥ १६३ ॥

चन्द्रका सोलहवां भाग शुक्ल पक्षमें शुक्ल तथा कृष्ण पक्षमें कृष्ण होता है, ऐसा आगममें निश्चित किया गया है ॥ १६४ ॥ त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें कहा भी है-

दिन और पर्वके भेदोंसे राहुओंके पुरतलोंके गमन दो प्रकारके होते हैं । इनमें दिनराहु चन्द्रमाके समान गतिवाला होता है ॥ १ ॥ उनमेंसे यहां मनुष्यलोकमें चन्द्रबिम्ब जिस मार्गमें पूर्ण दिखता है उस दिवसका नाम पूर्णिमा होता है ॥ २ ॥ दिनराहु और चन्द्रबिम्ब उन वीथियोंको लांघकर क्रमसे जंबूद्वीपकी आग्नेय और वायव्य दिशासे अनन्तर वीथीमें जाते हैं ॥ ३ ॥ उस समय (द्वितीय वीथीको प्राप्त होनेपर) चन्द्रमण्डलके सोलह भागोंमेंसे एक भाग राहुके लंघन (गमन) विशेपसे आच्छादित होता हुआ दिखता है ॥ ४ ॥ इस प्रकार वे राहु और चन्द्रबिम्ब शेष वीथियोंमें भी निरन्तर वायु और आग्नेय दिशासे अनन्तर मार्गोंको लांघते हैं ॥ ५॥ राहु प्रतिदिन एक एक मार्गमें पन्द्रह कलाओंके आच्छादित होने तक चन्द्रबिम्बके एक एक भागको आच्छादित करता है ॥६॥ इस प्रकार राहुबिम्बके द्वारा एक एक कलाका आवरण करनेपर जिस मार्गमें चन्द्रकी एक ही कला दिखती है वह अमावस्याका दिन होता है ॥७॥

---

१ व °युके । २ आ प दियप्पेहिं । ३ आ प सरित्थगई । ४ आ प भागस्सो । ५ आ प लग्घंति ।

पडिवाए वासरादो वीहिं पडि[1] स [सस]हरस्सस्सो राहू। एक्केक्ककलं मुंचइ पुण्णमियं जाव लंघणदो ॥
अहवा ससहरबिंबं पण्णरस दिणाइ तं सहावेण। कसणाभं सुक्कलाभं तेत्तियमेत्ताणि परिणमदि ॥९
शुक्रो जीवो बुधो भौमो राह्वरिष्टशनैश्चराः। धूमाग्निकृष्णनीलाः[2] स्यू रक्तः शीलश्च केतवः॥१६५
श्वेतकेतुर्जलाख्यश्च पुष्पकेतुरिति ग्रहाः। प्रतिचन्द्रं ग्रहा एते कृत्तिकादीनि भानि च ॥ १६६
षट्तारा: कृत्तिकाः प्रोक्ता आकृत्या व्यजनोपमाः। शकटोध्रिसमा[3] ज्ञेया रोहिण्यः पञ्चतारकाः ॥
मृगस्य शिरसा तुल्यास्तिस्रः सौम्यस्य तारकाः। दीपिकावद्ध्रुवत्यार्द्रा[4] एकतारा च सोदिता ॥१६८
पुनर्वसोश्च षट्तारा व्याख्यातास्तोरणोपमाः[5]। पुष्यस्य तिस्रस्ताराश्च समाश्छत्रेण भाषिताः ॥१६९
वल्मीकिशिखया तुल्या आश्लेषाः षडुदाहृताः। चतस्रश्च मघास्तारा गोमूत्राकृतयो मताः ॥१७०
पूर्वे द्वे शरवत्प्रोक्ते उत्तरे युगवत् स्थिते। पञ्च हस्तोपमा हस्ताः चित्रैकोत्पलसंनिभाः ॥ १७१
दीपोपमा भवेत्स्वातिरेकतारा च संख्यया। विशाखायाश्चतुस्तारास्ताश्चाधिकरणोपमाः ॥ १७२
अनुराधा षडेवोक्ता मुक्ताहारोपमाश्च ताः। वीणाशृङ्गसमा ज्येष्ठा तिस्रस्तस्याश्च तारकाः ॥ १७३
मूलो वृश्चिकवत्प्रोक्तो नव तस्यापि तारकाः। आप्यं [6]दुष्कृतवापीवच्चतस्रस्तस्य तारकाः ॥

फिर वह राहु प्रतिपदाके दिनसे प्रत्येक वीथीमें पूर्णिमा तक उसकी एक एक कलाको छोड़ता है ॥ ८ ॥ अथवा वह चन्द्रबिम्ब स्वभावसे ही पन्द्रह दिन कृष्ण कान्तिस्वरूप और उतने ही दिन धवल कान्तिस्वरूप परिणमता है ॥ ९ ॥

शुक्र, बृहस्पति, बुध, मंगल, राहु, अरिष्ट, शनैश्चर, धूम, अग्नि, कृष्ण, नील, रक्त और शीत केतव, श्वेतकेतु, जलकेतु और पुष्पकेतु ये प्रत्येक चन्द्रके ग्रह तथा कृत्तिका आदि अट्ठाईस नक्षत्र होते हैं ॥ १६५–६६ ॥

कृत्तिका नक्षत्रके छह तारा कहे गये हैं जो आकारमें वीजनाके समान होते हैं। रोहिणीके पांच तारा गाड़ीकी उद्धिकाके समान जानना चाहिये॥ १६७॥ मृगशीर्षके तीन तारा मृगके शिरके सदृश होते हैं। आर्द्रा नक्षत्र एक तारावाला है और वह दीपकके समान कहा गया है ॥ १६८ ॥ पुनर्वसुके छह तारा हैं जो तोरणके सदृश कहे गये हैं। पुष्यके तीन तारा हैं और वे छत्रके समान कहे गये हैं ॥ १६९ ॥ आश्लेषा नक्षत्र छह तारासे संयुक्त होता है, वे तारा वल्मीक (बांवीं) की शिखाके समान कहे गये हैं। मघाके चार तारा हैं जो गोमूत्रके समान आकारवाले माने गये हैं॥ १७० ॥ पूर्वाके दो तारा होते हैं और वे शर (बाण) के समान कहे गये हैं। उत्तरा नक्षत्र दो ताराओंसे सहित होता है, वे तारा युगके समान स्थित हैं। हस्त नक्षत्रके हाथके आकारके पांच तारा होते हैं। चित्रा नक्षत्रके उत्पल (नील कमल) के समान एक तारा होता है ॥१७१॥ संख्यामें एक तारावाला स्वाति नक्षत्र दीपकके समान होता है। विशाखाके चार तारा होते हैं और वे अधिकरणके सदृश होते हैं ॥१७२॥ अनुराधा नक्षत्रके छह ही तारा कहे गये हैं और वे मुक्ताहार (मोतियोंकी माला) के समान होते हैं। ज्येष्ठा नक्षत्र वीणाशृंगके समान होता है और उसके तीन तारा होते हैं ॥१७३॥ मूल नक्षत्र वृश्चिक (बिच्छू) के समान कहा गया है, उसके नौ तारा होते हैं। आप्य (पूर्वाषाढा ?) नक्षत्र दुष्कृत वापीके समान

---

१ प पड। २ आ प नीला। ३ ब शकटोद्रि°। ४ आ प °त्याद्रा। ५ अतोऽग्रे १७२तमश्लोकपर्यन्तः पाठ आ-प-प्रत्योर्नोपलभ्यते। ६ आ प दुःकृत।

वैश्वस्य सिंहकुम्भाभाश्चतस्रस्तारकाः ध्रुवम् । अभिजिद् गजकुम्भाभस्तिस्रस्तस्य च तारकाः ॥
मृदङ्गसदृशो दृष्टः श्रवणश्च त्रितारकाः । पञ्चतारा धनिष्ठाश्च पतत्पक्षिसमाश्च ताः ॥ १७६
एकादश शतं तारा वारुणा सैन्यवच्च ताः । पूर्वप्रोष्ठपदे तारे हस्तिपूर्वतनूपमे ॥ १७७
उत्तरे चोदिते तारे हस्तिनो परगात्रवत् । रेवती नौसमा तस्या द्वात्रिंशत्खलु तारकाः ॥ १७८
अश्विनी पञ्चतारा स्यान्मता साश्वशिरःसमा । भरण्योऽपि त्रिकास्ताराश्चुल्लीपाषाणसंस्थिताः ॥
सैकादशशतं चैकसहस्रं स्वस्वतारकाः । प्रमाणेनाहतं कृत्तिकादिताराप्रमा भवेत् ॥ १८०
६६६६ । ५५५५ । ३३३३ । ११११ । ६६६६ । ३३३३ । ६६६६ । ४४४४ । २२२२ ।
२२२२ । ५५५५ । ११११ । ११११ । ४४४४ । ६६६६ । ३३३३ । ९९९९ । ४४४४ ।
४४४४ । ३३३३ । ३३३३ । ५५५५ । १२३३२१ । २२२२ । २२२२ । ३५५५२ । ५५५५ ।
३३३३ ।
नवाभिजिन्मुखास्ताराः स्वातिः पूर्वोत्तरेति च । द्वादश प्रथमे मार्गे चरन्तीन्दोर्मता इति ॥ १८१

होता है, उसके चार तारा होते हैं ॥ १७४ ॥ वैश्व (उत्तराषाढा) नक्षत्रके सिंहकुम्भके समान निश्चयसे चार तारा होते हैं। अभिजित् हाथीके कुम्भके समान होता है, उसके भी चार तारा होते हैं ॥ १७५ ॥ श्रवण नक्षत्र मृदंगके समान देखा गया है, उसके तीन तारा होते हैं। धनिष्ठाके पांच तारा होते हैं और वे गिरते हुए पक्षीके समान होते हैं ॥ १७६ ॥ वारुणा (शतभिषा) नक्षत्रके एक सौ ग्यारह तारा होते हैं और वे सैन्यके समान होते हैं। पूर्व भाद्रपदाके दो तारा हाथीके पूर्व शरीरके सदृश होते हैं ॥ १७७ ॥ उत्तर भाद्रपदाके दो तारा हाथीके उत्तर शरीरके समान होते हैं। रेवती नक्षत्र नावके समान होता है, उसके निश्चयसे बत्तीस तारा होते हैं ॥ १७८ ॥ अश्विनी नक्षत्र पांच ताराओंसे सहित होता है और वह घोड़ेके शिरके सदृश होता है। भरणी तीन ताराओंसे संयुक्त होता है, वे चूल्हेके पत्थरकी आकृतिके समान होते हैं ॥ १७९ ॥

एक हजार एक सौ ग्यारहको अपने अपने ताराओंके प्रमाणसे गुणित करनेपर कृत्तिका आदिके ताराओंका प्रमाण होता है ॥ १८० ॥ यथा— कृतिका ११११×६=६६६६, रोहिणी ११११×५=५५५५, मृगशीर्षा ११११×३=३३३३, आर्द्रा ११११×१=११११, पुनर्वसु ११११×६=६६६६, पुष्य ११११×३=३३३३, आश्लेषा ११११×६=६६६६, मघा ११११ ×४=४४४४, पूर्वा ११११×२=२२२२, उत्तरा ११११×२=२२२२, हस्त ११११×५ =५५५५, चित्रा ११११×१=११११, स्वाति ११११×१=११११, विशाखा ११११×४= ४४४४, अनुराधा ११११×६=६६६६, ज्येष्ठा ११११×३=३३३३, मूल ११११×९=९९९९ आप्य ११११×४=४४४४, वैश्व ११११×४=४४४४, अभिजित् ११११×३=३३३३, श्रवण ११११×३=३३३३, धनिष्ठा ११११×५=५५५५, वारुणा (शतभिषा) ११११×१११ =१२३३२१, पूर्वभाद्रपदा ११११×२=२२२२, उत्तरभाद्रपदा ११११×२=२२२२, रेवती ११११×३२=३५५५२, अश्विनी ११११×५=५५५५, भरणी ११११×३=३३३३.

अभिजित् आदि नौ (अभिजित् श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा (वारुणा), पूर्वभाद्रपदा, उत्तरभाद्रपदा, रेवती, अश्विनी भरणी), स्वाति, पूर्वा और उत्तरा ये बारह नक्षत्र चन्द्रके प्रथम

मघा पुनर्वसू तारे तृतीये सप्तमे पथि । रोहिणी च तथा चित्रा षष्ठे मार्गे च कृत्तिका ॥ १८२
विशाखा चाष्टमे चानुराधा च दशमे पथि । ज्येष्ठा चैकादशे मार्गे शेषाः पञ्चदशेऽष्टकाः ॥१८३
हस्तमूलत्रिकं चैव मृगशीर्दद्विकं तथा । पुष्यद्वितयमित्यष्टौ शेषताराः प्रकीर्तिताः ॥१८४
कृत्तिकासु पतन्तीषु मध्यं यन्त्यष्टमा मघाः । उदयन्त्यनुराधाश्च शेषेष्वेवं च योजयेत् ॥१८५
भरणी स्वातिराश्लेषा चार्द्रा शतभिषक् तथा । ज्येष्ठेति षड् जघन्याः स्युरुत्कृष्टाश्चोत्तरात्रयम् ॥
पुनर्वसु विशाखा च रोहिणी चेति षट् पुनः । अश्विनी कृत्तिका चानुराधा चित्रा मघा तथा ॥ १८७
मूलं पूर्वत्रिकं पुष्यहस्तश्रवणरेवती । मृगशीर्षं धनिष्ठेति त्रिघ्नपञ्च च मध्यमाः ॥ १८८
रविर्जघन्यभे तिष्ठेत् ससप्तदशमांशकम् । षड्दिनं मध्यमोत्कृष्टे भे तद् द्वित्रिगुणं क्रमात् ॥ १८९

दि ६ । $\frac{७}{१०}$ । दि १३ । $\frac{२}{५}$ । दि २० । $\frac{१}{१०}$ ।

अभिजिन्नामभेनेनः सपञ्चमचतुर्दिनम् । सप्तषष्ट्याप्तशून्यत्रिषण्मुहूर्तं विधुश्चरेत् ॥ १९०

। ४ । $\frac{१}{५}$ । $\frac{६३०}{६७}$ ।

चन्द्रो जघन्यनक्षत्रे दिनार्धं मध्यमर्क्षके । दिवसं चोत्तमे भे च तिष्ठेत् सार्धदिनं ध्रुवम् ॥ १९१

मार्गमें संचार करते हैं ॥ १८१ ॥ मघा और पुनर्वसु ये दो तारा (नक्षत्र) उसके तृतीय मार्गमें
संचार करते हैं । रोहिणी तथा चित्रा ये दो नक्षत्र उसके सातवें मार्गमें संचार करते हैं ।
कृत्तिका नक्षत्र उसके छठे मार्गमें, विशाखा आठवें मार्गमें, अनुराधा दसवें मार्गमें ज्येष्ठा ग्यारहवें
मार्गमें तथा शेष आठ नक्षत्र पन्द्रहवें मार्गमें संचार करते हैं । हस्त, मूल आदि तीन (मूल,
पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा), मृगशीर्षा व आर्द्रा, तथा पुष्य और आश्लेषा ये आठ शेष तारा कहे
गये हैं ॥ १८२-८४ ॥

कृत्तिका नक्षत्रोंके पतन अर्थात् अस्त होनेके समयमें उनके आठवें मघा नक्षत्र मध्यान्ह
कालको प्राप्त होते हैं तथा मघासे आठवें अनुराधा नक्षत्र उदयको प्राप्त होते हैं । इसी क्रमकी
योजना शेष नक्षत्रोंके भी विषयमें करनी चाहिये ॥ १८५ ॥

भरणी, स्वाति, आश्लेषा, आर्द्रा, शतभिषक् तथा ज्येष्ठा ये छह नक्षत्र जघन्य हैं ।
तीन उत्तरा (उत्तरा फाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तरा भाद्रपदा), पुनर्वसु, विशाखा और रोहिणी ये
छह नक्षत्र उत्कृष्ट हैं । अश्विनी, कृत्तिका, अनुराधा, चित्रा, मघा, मूल, तीन पूर्वा (पूर्वा फाल्गुनी
पूर्वाषाढा, उत्तरा भाद्रपदा), पुष्य, हस्त, श्रवण, रेवती, मृगशीर्ष और धनिष्ठा ये तीनसे गुणित
पांच अर्थात् पन्द्रह नक्षत्र मध्यम हैं ॥ १८६-१८८ ॥

सूर्य जघन्य नक्षत्रके ऊपर छह दिन और एक दिनके दस भागोंमें सात भाग ($६\frac{७}{१०}$ दिन)
प्रमाण अर्थात् छह दिन इक्कीस मुहूर्त, इससे दूना $१३\frac{२}{५}$ दिन मध्यम नक्षत्रके ऊपर तथा उससे
तिगुना ($२०\frac{१}{१०}$) उत्कृष्ट नक्षत्रके ऊपर रहता है ॥ १८९ ॥ अभिजित् नक्षत्रके साथ चार दिन
और एक दिनके पांचवें भाग प्रमाण सूर्य तथा सड़सठसे भाजित शून्य, तीन और छह अंक प्रमाण
($\frac{६३०}{६७}$) मुहूर्त तक चन्द्र संचार करता है ॥ १९० ॥ चन्द्र जघन्य नक्षत्रके ऊपर आधा दिन,
मध्यम नक्षत्रके ऊपर एक दिन तथा उत्तम (उत्कृष्ट) नक्षत्रके ऊपर डेढ़ दिन रहता है ॥१९१॥

योजनानां भवेत् त्रिंशत् षष्टिश्च नवतिः क्रमात् । जघन्यमध्यमोत्कृष्टनक्षत्रपरिमण्डलम् ॥१९२
अभिजिन्मण्डलक्षेत्रमष्टादशकयोजनम् । घटिका अपि तासां स्युः समसंख्या हि मण्डलैः ॥ १९३
अग्निः प्रजापतिः सोमो रुद्रोऽदितिर्बृहस्पती । सर्पः पिता भगश्चैव अर्यमा सवितेति च ॥ १९४
त्वष्टाथ वायुरिन्द्राग्निर्मित्रेन्द्रौ नैर्ऋतिस्तथा । अविश्वब्रह्मविष्ण्वाख्या वसुवरुणाजसंज्ञकाः ॥
अभिवर्धी च पूषा च अश्वोऽथ यम एव च । देवताः कृत्तिकादीनां पूर्वाचार्यैः प्रकाशिताः ॥ १९६
रौद्रः श्वेतश्च मैत्रश्च ततः सारभटोऽपि च । दैत्यो वैरोचनश्चान्यो वैश्वदेवोऽभिजित्तथा ॥१९७
रौहिणो[1] बलनामा च विजयो नैर्ऋतोऽपि च । वारुणश्चार्यमाचान्यो भाग्यः पञ्चदशो दिने ॥१९८
सावित्राध्वर्यसंज्ञौ[2] च दातृको यम एव च । वायुर्हुताशनो भानुर्वैजयन्तोऽष्टमो निशि ॥ १९९
सिद्धार्थः सिद्धसेनश्च विक्षेपो योऽद्य एव च । पुष्पदन्तः सगन्धर्वो मुहूर्तोऽन्योऽरुणो मतः (?) ॥२००
अणुरण्वन्तरं काले व्यतिक्रामति यावति । स कालः समयोऽसंख्यैः समयैरावलिर्भवेत् ॥ २०१
संख्यातावलिरुच्छ्वासः[3] प्रोक्तस्तूच्छ्वाससप्तकः । स्तोकाः सप्त लवस्तेषां सार्धाष्टात्रिंशता घटी ॥
घटीद्वयं मुहूर्तोऽत्र मुहूर्तैस्त्रिंशता दिनम् । पञ्चघ्नैस्त्रिदिनैः पक्षः पक्षौ द्वौ मास इष्यते ॥ २०३
ऋतुर्मासद्वयेनैव त्रिभिस्तैरयनं मतम् । तद्द्वयं वत्सरः पञ्च वत्सरा युगमिष्यते ॥ २०४

जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट नक्षत्रोंका मण्डलक्षेत्र यथाक्रमसे तीस, साठ और नव्वे योजन प्रमाण है ॥ १९२ ॥ अभिजित् नक्षत्रका मण्डलक्षेत्र अठारह योजन प्रमाण है । उनकी घटिकायें भी मण्डलोंके समान संख्यावाली हैं ॥ १९३ ॥

१ अग्नि २ प्रजापति ३ सोम ४ रुद्र ५ अदिति ६ वृहस्पति ७ सर्प ८ पिता ९ भग १० अर्यमा ११ सविता १२ त्वष्टा १३ वायु १४ इन्द्राग्नि १५ मित्र १६ इन्द्र १७ नैर्ऋति १८ जल १९ विश्व २० ब्रह्म २१ विष्णु २२ वसु २३ वरुण २४ अज २५ अभिवर्धी (अभिवृद्धि) २६ पूषा २७ अश्व और २८ यम; ये पूर्व आचार्योंके द्वारा उन कृत्तिका आदि नक्षत्रोंके देवता प्रकाशित किये गये हैं ॥ १९४-१९६ ॥

रौद्र, श्वेत, मैत्र, सारभट, दैत्य, वैरोचन, वैश्वदेव, अभिजित्, रौहिण, बल, विजय, नैर्ऋत्य, वारुण, अर्यमा और भाग्य ये पन्द्रह दिनमें; सावित्र, अध्वर्य, दातृक, यम, वायु, हुताशन, भानु और आठवां वैजन्त ये आठ रात्रिमें; तथा सिद्धार्थ, सिद्धसेन, विक्षेप · · · · · · · · · · · (?) ॥ १९७-२०० ॥

जितने कालमें एक परमाणु दूसरे परमाणुको लांघता है उतने कालको समय कहते हैं । ऐसे असंख्यात समयोंकी एक आवली होती है । संख्यात आवलियोंका एक उच्छ्वास, सात उच्छ्वासोंका एक स्तोक, सात स्तोकोंका एक लव, साढ़े अड़तीस लवोंकी एक घटिका (घड़ी–नाली), दो घटिकाओंका एक मुहूर्त, तीस मुहूर्तोका एक दिन, पांच गुणित तीन (५×३) अर्थात् पन्द्रह दिनोंका एक पक्ष और दो पक्षोंका एक मास माना जाता है । दो मासोंकी एक ऋतु, तीन ऋतुओंका एक अयन, दो अयनोंका एक वर्ष तथा पांच वर्षोंका एक युग माना

१ प रोहिणो । २ ब 'त्राद्वर्य' । ३ [स्तोकस्तू°] ।

उच्छ्वासानां सहस्राणि त्रीणि सप्त शतानि च । त्रिसप्ततिः पुनस्तेषां[1] मुहूर्तो ह्येक इष्यते॥२०५

। ३७७३ ।

मण्डलेऽभ्यन्तरे याति सर्ववास्येषु भास्करे । अष्टादश मुहूर्ताः स्युस्तदाहो द्वादश क्षपा ॥ २०६

षष्ट्याप्तश्च परिक्षेपः प्रथमो[2] नवताडितः । चक्षुस्पर्शनमार्गस्त्रिषट्द्विसप्तचतुःप्रमः ॥ २०७

साधिकेन[3] च तेनोनं निषधस्य धनुर्दलम् । यन्मानमिदमेकद्विषट्चतुष्कैकक कलाः ॥२०८

। १४६२१ [$\frac{४७}{३८०}$] ।

आगत्य निषधेऽयोध्यामध्यस्थैर्दृश्यते रविः । तेनोनो[4] निषधस्याद्रेः पार्श्वबाहुश्च योऽस्ति सः ॥



जाता है ॥ २०१–२०४ ॥ तीन हजार सात सौ तिहत्तर उच्छ्वासोंका एक मुहूर्त माना जाता
है— उच्छ्वास $७\times७\times३८\frac{१}{२}\times२=३७७३$ ॥ २०५ ॥
सूर्यके सब मण्डलोंमेंसे अभ्यन्तर मण्डलमें प्राप्त होनेपर उस समय दिनका प्रमाण
सब क्षेत्रोंमें अठारह मुहूर्त और रात्रिका प्रमाण बारह मुहूर्त होता है ॥ २०६ ॥ प्रथम मण्डलको
साठसे भाजित करके लब्धको नौसे गुणित करनेपर चक्षुके स्पर्शनका मार्ग अर्थात् चक्षु इन्द्रियके
विषयभूत उत्कृष्ट क्षेत्रका प्रमाण प्राप्त होता है जो तीन, छह, दो, सात और चार अंक
(४७२६३ यो.) प्रमाण है ॥ २०७ ॥

विशेषार्थ— जब सूर्य प्रथम वीथीमें प्राप्त होता है तब अयोध्या नगरीके भीतर अपने भवनके
ऊपर स्थित चक्रवर्ती सूर्यविमानके भीतर स्थित जिनबिम्बका दर्शन करता है। वह सूर्य उक्त
वीथी (३१५०८९ यो.) को ६० मुहूर्तमें पूर्ण करता है। जब चक्रवर्ती सूर्यविमानमें जिनबिम्बका
दर्शन करता है तब वह निषध पर्वतके ऊपर उदयको प्राप्त होता है। उसको अयोध्याके ऊपर
आने तक ९ मुहूर्त लगते हैं। अब जब वह ३१५०८९ योजन प्रमाण उस वीथीको ६० मुहूर्तमें
पूर्ण करता है तब वह ९ मुहूर्तमें कितने क्षेत्रको पूरा करेगा, इस प्रकार त्रैराशिक करनेपर
उपर्युक्त चक्षुके स्पर्शक्षेत्रका प्रमाण प्राप्त होता है। यथा— $\frac{३१५०८९\times९}{६०}=\frac{३१५०८९\times३}{२०}$
$=\frac{९४५२६७}{२०}=४७२६३\frac{७}{२०}$ योजन।

निषध पर्वतके धनुषका जो प्रमाण है उसको आधा करके उसमेंसे कुछ ($\frac{७}{२०}$) अधिक
इस चक्षुके स्पर्शक्षेत्रको कम कर देनेपर जो प्रमाण होता है वह एक, दो, छह, चार और एक;
इन अंकोंसे निर्मित संख्या (१४६२१) प्रमाण होकर [$\frac{४७}{३८०}$] कलाओंसे अधिक होता है ॥२०८॥
जैसे— निषध पर्वतका धनुष $१२३७६८\frac{९}{१९}$; इसका आधा $६१८८४\frac{९}{१९}$; $६१८८४\frac{९}{१९}$
$-४७२६३\frac{७}{२०}=१४६२१\frac{४७}{३८०}$.

निषध पर्वतके ऊपर इतने ($१४६२१\frac{४७}{३८०}$) योजन आकर सूर्य अयोध्या नगरीके
मध्यमें स्थित महापुरुषोंके द्वारा देखा जाता है। इसको निषध पर्वतकी पार्श्वभुजामेंसे कम कर
देनेपर जो शेष रहता है वह कुछ ($\frac{१४७}{३८०}$) कम बाण (५), पर्वत (७) पांच और पांच अर्थात्

---

१ आ प अतोऽग्रे (सार्धाष्टा त्रिंशता घटी । घटीद्वयं मुहूर्तोत्र) इत्ययं पाठः कोष्ठकस्थ अधिक उपलम्भते । २ आ प °क्षेपश्च प्रथमो । ३ ब सादिकेन । ४ प तेनोनं ।

देशोनबाणपर्वतपञ्चपञ्चप्रमाणकः । तत्प्रमां निषधे गत्वा चास्तं याति दिवाकरः ॥ २१०

। ५५७५ । ऋणं $\frac{१४७}{३८०}$ ।

जम्बूचारधरोनौ च हरिभूनिषधाशुगौ[1] । इह बाणौ पुनर्वृत्तमाद्यवीथ्याश्च विस्तृतिः ॥ २११

हरिभूगिरिकोदण्डविशेषार्धं च नैषधः । पार्श्वबाहुः स देशोनषड्नवैकखदृक्प्रमः ॥२१२

२०१९६ । ऋणं $\frac{५}{१९}$ ।

हरिभूधनुराद्ये[2] च मण्डले सप्तसप्तकम् । त्रिकत्रिकाष्टकं वेकविंशत्याश्च कला नव ॥ २१३

८३३७७ । $\frac{९}{१९}$ ।

आद्ये च निषधे मार्गे धनुरष्टौ षट्कसप्तकम् । त्रिद्व्येकं व्येकविंशत्याश्चाष्टादशकला[3] भवेत् ॥२१४

१२३७६८ [$\frac{१८}{१९}$]

मध्यमे मण्डले याति सर्ववास्येषु भास्करे । इषुपेषु च सर्वेषु तदा दिन-निशे समे ॥२१५

मण्डले बाहिरे याति सर्ववास्येषु भास्करे । द्वादशाह्नि मुहूर्ताः स्युर्निशि चाष्टादशैव च ॥ २१६

ज्योतिषां भास्करादीनामपरस्यां मुखं दिशि । उत्तरं च भवेत् सव्यमपसव्यं च दक्षिणम् ॥ २१७

पांच हजार पांच सौ पचत्तर (२०१९६ – १४६२१ = ५५७५) योजन प्रमाण होता है। इतने प्रमाण निषध पर्वतके ऊपर जाकर वह सूर्य अस्त हो जाता है ॥ २०९–२१० ॥

जम्बूद्वीपके चारक्षेत्रसे रहित जो हरिवर्ष और निषध पर्वतके बाण हैं वे यहां चक्षुके स्पर्शक्षेत्रके लानेमें बाण होते हैं। इनका जो वृत्त विस्तार है वह प्रथम वीथीका विस्तार (९९६४०) होता है ॥ २११ ॥ यथा— हरिवर्षका बाण $\frac{३१००००}{१९}$; निषध पर्वतका बाण $\frac{६३००००}{१९}$; जम्बूद्वीपका चारक्षेत्र $१८० = \frac{३४२०}{१९}$; $\frac{३१००००}{१९} - \frac{३४२०}{१९} = \frac{३०६५८०}{१९}$ च. ह. व. बाण; $\frac{६३००००}{१९} - \frac{३४२०}{१९} = \frac{६२६५८०}{१९}$ च. नि. प. बाण।

हरिवर्षके धनुषको निषध पर्वतके धनुषमेंसे कम करके शेषको आधा करनेपर जो प्राप्त हो वह निषध पर्वतकी पार्श्वभुजाका प्रमाण होता है। वह कुछ कम छह, नौ, एक, शून्य और दृष्टि अर्थात् दो इन अंकोंके बराबर है— $(१२३७६८\frac{१८}{१९} - ८३३७७\frac{९}{१९}) \div २ = २०१९५\frac{१४}{१९}$ $= (२०१९६ - \frac{५}{१९})$ ॥ २१२ ॥

प्रथम वीथीमें हरिवर्षका धनुष सात, सात, तीन, तीन और आठ इन अंकोंके प्रमाण होकर उन्नीसमेंसे नौ कलाओंसे अधिक होता है – $८३३७७\frac{९}{१९}$ ॥ २१३ ॥ प्रथम वीथीमें निषध पर्वतका धनुष आठ, छह, सात, तीन, दो और एक इन अंकोंके प्रमाण होकर एक अंकके उन्नीस भागोंमेंसे अठारह भागोंसे अधिक होता है – $१२३७६८\frac{१८}{१९}$ ॥ २१४ ॥

सूर्यके सब वीथियोंमेंसे मध्यम वीथीमें जानेपर सब क्षेत्रों और सब इषुपों (विषुपों) में दिन और रात बराबर अर्थात् पन्द्रह पन्द्रह मुहूर्त प्रमाण होते हैं ॥ २१५ ॥ सूर्यके सब वीथियोंमेंसे बाह्य वीथीमें जानेपर सब क्षेत्रोंमें दिनमें बारह मुहूर्त और रात्रिमें अठारह मुहूर्त ही होते हैं ॥ २१६ ॥ सूर्य आदि सब ज्योतिषियोंका मुख पश्चिम दिशामें होता है। उनका वामभाग

१ ब निषदाशुगौ। २ आ प °राध्ये। ३ ब विंशत्या चाष्टा°।

आवृत्तयो ग्रहाणां[1] च आग्नेय्य इति भाषिताः । दीपस्य खलु वायव्यः सकलागमकोविदैः ॥२१८
रविरिन्दुर्गृहाश्चैव नक्षत्राणि च तारकाः । परियान्ति क्रमेणैव जम्बूद्वीपादिमण्डले ॥ २१९
शतानि सप्त पञ्चापि कोटीकोटयः प्रकाशिताः । भरतस्योर्ध्वयायिन्यस्तारका ज्ञानपारगैः ॥ २२०
। ७०५०००००००००००००० ।
द्विगुणा द्विगुणास्ताभ्यः क्रमात्पर्वतभूमिषु । आ विदेहेभ्य इत्युक्ता[2] हानिश्च परतस्तथा ॥ २२१
हि १४१ ।$^{०}_{१५}$। है २८२ ।$^{०}_{१५}$। म ५६४ ।$^{०}_{१५}$। ह ११२८ ।$^{०}_{१५}$। नि २२५६ ।$^{०}_{१५}$। वि ४५१२ ।$^{०}_{१५}$।
जम्बूद्वीपे सहस्राणां शतं त्रिंशत्त्रिकं पुनः । शतानि नव पञ्चाशत् कोटीकोटयोऽत्र तारकाः ॥२२२
१३३९५ ।$^{०}_{१५}$।
द्विगुणा लवणोदे ताः षड्गुणा धातकीध्वजे । गुणिता एकविंशत्या कालोदे स्युश्च तारकाः ॥ २२३
२६७९ ।$^{०}_{१६}$। धा ८०३७ ।$^{०}_{१६}$। २८१२९५ ।$^{०}_{१५}$।
षट्त्रिंशद्गुणिता ज्ञेयाः पुष्करार्धे च तारकाः । केवलज्ञानिभिर्दृष्टाः प्रत्यक्षं तास्तथा स्थिताः ॥ २२४
४८२२२ ।$^{०}_{१६}$।
षट्त्रिंशच्च शतानि स्युः षण्णवत्या युतानि च । द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु नक्षत्राणि प्रसंख्यया ॥ २२५
। ३६९६ ।

उत्तरमें और दक्षिणभाग दक्षिणमें होता है (?) ॥ २१७ ॥ समस्त आगमके ज्ञाता श्रुतकेवलियोंके द्वारा ग्रहोंकी आवृत्तियां निश्चयसे आग्नेयी तथा दीप (चन्द्र) की आवृत्तियां वायवी बतलाई गई हैं ॥ २१८ ॥ सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा ये क्रमसे ही जम्बूद्वीपके प्रथम मण्डलमें परिक्रमा करते हैं ॥ २१९ ॥

ज्ञानके पारको प्राप्त हुए सर्वज्ञ देवोंके द्वारा भरत क्षेत्रके ऊपर गमन करनेवाले तारे संख्यामें सात सौ पांच कोड़कोड़ि प्रमाण बतलाये गये हैं ७०५०००००००००००००० ॥ २२० ॥ इसके आगे वे विदेह क्षेत्र तक पर्वत और क्षेत्रोंमें क्रमसे इनसे दूने दूने कहे गये हैं । उसके आगे उनकी उसी क्रमसे हानि होती गई है । जैसे— हिमवान् १४१ शून्य (०) १५, हैमवत २८२ शून्य १५, महाहिमवान् ५६४ शून्य १५, हरिवर्ष ११२८ शून्य १५, निषध २२५६ शून्य १५, विदेह ४५१२ शून्य १५, नील २२५६ शून्य १५, रम्यक ११२८ शून्य १५, रुक्मि ५६४ शून्य १५, हैरण्यवत २८२ शून्य १५, शिखरी १४१ शून्य १५, ऐरावत ७०५ शून्य १४ ॥ २२१ ॥ जम्बूद्वीपमें एक सौ तेतीस हजार नौ सौ पचास कोड़ाकोड़ी तारे हैं । शून्य (०) १४ के साथ ७०५ + १४१० + २८२० + ५६४० + ११२८० + २२५६० + ४५१२० + २२५६० + ११२८० + ५६४० + २८२० + १४१० + ७०५ = १३३९५ शून्य १५ ॥ २२२ ॥ वे तारे इनसे दूने लवण समुद्रमें, छहगुणे धातकीखण्ड द्वीपमें, और इक्कीसगुणे कालोद समुद्रमें हैं— लवणोद २६७९ शून्य १६, धातकीखण्ड ८०३७ शून्य १६, कालोद २८१२९५ शून्य १५ ॥ २२३ ॥ जम्बूदीपस्थ ताराओंसे छत्तीसगुणे तारे पुष्करार्ध द्वीपमें स्थित जानना चाहिये १३३९५० × ३६ = ४८२२२ शून्य १६ । वे तारे केवलज्ञानियोंके द्वारा प्रत्यक्षमें उसी प्रकारसे स्थित देखे गये हैं ॥ २२४ ॥ अढ़ाई द्वीपमें सब नक्षत्र संख्यामें छत्तीस सौ छयानबै हैं— जं. ५६ + ल. ११२ + धा. ३३६ + का ११७६ + पु.

---

१ प गृहाणां । २ प इत्युक्त्वा ।

एकादश सहस्राणि षट्छतान्यपि षोडश। द्वीपे द्वये तथार्धे च ग्रहाणां[1] गणितं भवेत् ॥ २२६

। ११६१६ ।

अष्टाशीतिशतं चैकं सहस्रं चाल्पकेतवः। महान्तः केतवस्तेभ्यो द्विगुणा इति वर्णिताः ॥ २२७

। ११८८ । २३७६ ।

सहस्रं दशकेनोनं चन्द्रवीथ्यो रवेः पुनः। द्वादशैव सहस्राणि चाष्टादशगुणाष्टकम् ॥ २२८

।९९०। १२१४४।

अष्टाशीतिश्च लक्षाणां चत्वारिंशत्सहस्रकम्। शतानि सप्त ताराणां कोटीकोट्यो नरावनौ ॥ २२९

। ८८४०७ । $^{0}_{१६}$ ।

इन्दोरिनस्य शुक्रस्य वर्षाणां नियुतेन च। सहस्रेण शतेनायुः सह पल्यं क्रमाद्भवेत् ॥ २३०

प १ व १००००० । प १ व १००० । प १ व १०० ।

गुरोरन्यग्रहस्यापि[2] पल्यं पल्यस्य चार्धकम्। वरावरायुस्ताराणां पादः पादार्धकं भवेत् ॥ २३१

प १ । प $\frac{१}{२}$ । प $\frac{१}{४}$ । प $\frac{१}{८}$ ।

चन्द्राभा च सुसीमा च संज्ञया तु प्रभंकरा। देव्योऽर्चिमालिनी चेति चतस्रो मृगधरस्य च ॥ २३२

द्युतिः सूर्यप्रभा चान्या तथा नाम्ना प्रभंकरा। देव्योऽर्चिमालिनी चेति चतस्रो भास्करस्य च॥२३३

चतस्रश्च सहस्राणां परिवारसुराङ्गनाः। तासां पृथक् पृथक् ताश्च विकुर्वन्ति च तत्प्रमाः ॥२३४

२०१६=३६९६ ॥ २२५ ॥ अढ़ाई द्वीपमें ग्रहोंका प्रमाण ग्यारह हजार छह सौ सोलह है — जं. १७६+ल. ३५२+धा १०५६+का. ३६९६+पु. ६३३६=११६१६ ॥२२६॥ अढ़ाई द्वीपमें एक हजार एक सौ अठासी (११८८) अल्पकेतु और उनसे दूने २३७६ महाकेतु कहे गये हैं ॥ २२७ ॥ दस कम एक हजार (९९०) चन्द्रवीथियां तथा बारह हजार और आठगुणित अठारह अर्थात् एक सौ चवालीस (१२१४४) सूर्यवीथियां हैं ॥ २२८ ॥ मनुष्यक्षेत्रमें अठासी लाख चालीस हजार सात सौ कोड़ाकोड़ी (८८४०७ शून्य १६) तारे हैं ॥ २२९ ॥

उत्कृष्ट आयु चन्द्रकी क्रमसे एक पल्य और एक लाख वर्ष, सूर्यकी एक पल्य और एक हजार वर्ष, तथा शुक्रकी एक पल्य और एक सौ वर्ष प्रमाण होती है— चन्द्र पल्य १ वर्ष १०००००, सूर्य पल्य १ वर्ष १०००, शुक्र पल्य १ वर्ष १०० ॥ २३० ॥ बृहस्पतिकी उत्कृष्ट आयु एक पल्य तथा अन्य बुध आदि ग्रहोंकी उत्कृष्ट आयु आधा पल्य प्रमाण होती है। ताराओंकी उत्कृष्ट आयु पाव पल्य और जघन्य आयु इसके अर्ध भाग प्रमाण होती है– बृह. १ पल्य, अन्य ग्रह $\frac{१}{२}$ पल्य, तारा उ. आयु $\frac{१}{४}$ पल्य, जघन्य $\frac{१}{८}$ पल्य ॥ २३१ ॥ चन्द्राभा, सुसीमा, प्रभंकरा और अर्चिमालिनी नामकी चार देवियां चन्द्रके होती हैं ॥ २३२ ॥ द्युति, सूर्यप्रभा, प्रभंकरा और अर्चिमालिनी नामकी चार देवियां सूर्यके होती हैं ॥ २३३ ॥ उनकी पृथक् पृथक् चार हजार परिवार देवियां होती हैं। वे प्रमुख देवियां उक्त परिवार देवियोंके प्रमाण (४०००)

---

१ प गृहाणां। २ ब गृहस्यापि।

आयुर्ज्योतिष्कदेवीनां स्वस्वदेवायुरर्धकम् । सर्वेभ्यश्च निकृष्टानां देव्यो द्वात्रिंशदेव च ॥ २३५

[1]अष्टाशीत्यस्तारकोरुग्रहाणां
चारो वक्रं विप्रवासोदयाश्च ।
मार्गा वीथ्यो मण्डलादीनि चापि
ग्राह्यं शेषं ज्यौतिषग्रन्थदृष्टम् ॥ २३६

इति लोकविभागे तिर्यग्लोक [ज्योतिर्लोक] विभागो नाम षष्ठं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ६ ॥

विक्रिया करती हैं ॥ २३४ ॥ ज्योतिष्क देवियोंकी आयु अपने अपने देवोंकी आयुके अर्ध भाग प्रमाण होती है। सबसे निकृष्ट देवोंके बत्तीस ही देवियां होती हैं ॥ २३५ ॥ अठासी नक्षत्र, तारका और महाग्रहोंके संचार, वक्र, विप्रवास (?) उदय, मार्ग, वीथियां और मण्डल आदिका शेष कथन ज्योतिष ग्रन्थोंमें देखकर जानना चाहिये ॥ २३६ ॥

इस प्रकार लोकविभागमें ज्योतिर्लोक विभाग नामक छठा प्रकरण समाप्त हुआ ॥६॥

---

१ आ 'अष्टाशीत्या°'।

[सप्तमो विभागः]

वक्ष्ये स्तुत्वा नुतानीशान् मनुष्यविबुधैर्बुधैः । अधोलोकस्य संक्षेपं मुदा लब्धामृतोपमम् ॥ १
चित्रा वज्रा च वैडूर्या लोहिताक्षा च मेदिनी । मसारकल्पा गोमेदा प्रवालेति च सप्तमी ॥ २
ज्योतिरसाञ्जना चैव तथैवाञ्जनमूलिका[1] । अङ्का स्फटिकसंज्ञा च चन्दना वर्वकेति च ॥ ३
वकुला पञ्चदश्युक्ता षोडशी च शिलाह्वया । सहस्रमाना चैकैकाप्यालोकान्ताच्च विस्तृता ॥ ४
इयं चित्रा ततो वज्रा वैडूर्या तु परा ततः । क्रमशोऽधःस्थिता एवं षोडशैता वसुंधराः ॥ ५
सहस्राणामशीतिश्च वाहल्यं चतुरुत्तरा । ततः सप्तदशी भूमिः पङ्काद्या किल नामतः ॥ ६

। ८४००० ।

ततोऽन्त्याष्टादशा भूमिर्वाहल्येन सहस्रिका । अशीतिगुणिता नाम्नाप्येषा चाब्वहुला[2] किल ॥ ७

। ८०००० ।

योजनानामधस्त्यक्त्वा सहस्रमवनाविह । स्थानानि सन्ति देवीनां (?) प्रकीर्णानि समन्ततः ॥ ८
रत्नप्रभेति तेनेयं भूरुक्ता गुणनामतः । तिर्यग्लोकाश्रिते तस्याः सहस्रे चित्रनामके ॥ ९
व्यन्तराणामसंख्येया आलया जन्मभूमयः । संख्येयविस्तृता एव सर्वे ते चात्र भाषिताः ॥१०

विद्वान् मनुष्यों और देवोंके द्वारा वन्दित ऐसे जिनेन्द्रोंकी स्तुति करके हर्षसे प्राप्त हुए अमृतके समान अधोलोकके संक्षेपको कहता हूं ॥ १ ॥ चित्रा, वज्रा, वैडूर्या, लोहिताक्षा, मसारकल्पा, गोमेदा, सातवीं प्रवाला, ज्योतिरसा, अंजना, अंजनमूलिका, अंका, स्फटिका, चन्दना, वर्वका, पन्द्रहवीं वकुला और सोलहवीं शिला नामकी; इन सोलह पृथिवियोंमें एक एकका प्रमाण (वाहल्य) एक हजार योजन है। ये सव पृथिवियां लोक पर्यन्त विस्तृत हैं ॥ २-४ ॥ यह सवसे ऊपर चित्रा पृथिवी स्थित है, उसके नीचे वज्रा, उसके नीचे वैडूर्या; इस प्रकारसे ये सोलह पृथिवियां क्रमसे नीचे नीचे स्थित हैं ॥५॥ उनके नीचे सत्तरहवीं पंका नामकी पृथिवी स्थित है। उसका वाहल्य चौरासी हजार (८४०००) योजन प्रमाण है॥ ६ ॥ उसके नीचे अन्तिम अव्वहुला नामकी अठारहवीं पृथिवी है। उसका वाहल्य अस्सी हजार (८००००) योजन मात्र है ॥ ७ ॥

इस पृथिवीमें नीचे एक हजार (१०००) योजन छोड़कर सव ओर देवियोंके प्रकीर्णक स्थान हैं (?) ॥८॥ इसलिये इस पृथिवीका 'रत्नप्रभा' यह सार्थक नाम कहा गया है। तिर्यग्लोकके आश्रित एवं एक हजार योजन मोठी चित्रा नामक पृथिवीके ऊपर व्यन्तर देवोंके जन्मभूमिस्वरूप असंख्यात भवन हैं। यहां वे सव संख्यात योजन विस्तृत कहे गये हैं॥ ९-१० ॥ अठत्तर

---

१ आ प चूलिका । २ व चावहुला ।

सहस्रैरष्टसप्तत्या युक्तलक्षकरुन्द्रके[१] । मध्ये रत्नप्रभायां स्युर्भावना भवनालया ॥ ११
। १७८००० ।
असुरा नागनामानः सुपर्णा द्वीपसंज्ञकाः । समुद्रास्तनिता विद्युद्दिगग्निपवनाह्वकाः ॥ १२
भावना दशधा देवाः कुमारोत्तरनामकाः । भवनानां तु संख्यानं शास्त्रदृष्टं निशम्यताम् ॥ १३
नियुतानां चतुःषष्टिरसुराणामुदाहृता । भवनान्यथ नागानामशीतिश्चतुरुत्तरा ॥१४
। ६४००००० । [८४०००००]।
द्विसप्ततिः सुपर्णानां नियुतानां च लक्षयेत्[२] । नवतिः षट् च वातानां संख्यया भवनानि तु ॥ १५
[७२०००००] । ९६००००० ।
शेषषण्णां च लक्षाणि प्रत्येकं षट् च सप्ततिः । सप्तकोटयो द्विसप्ततिनियुताः सर्वसंग्रहः ॥ १६
। ७६००००० । [७७२०००००] ।
तावत्प्रमा जिनेन्द्राणामालयाः शुभदर्शनाः । सदा रत्नमया भान्ति भव्यानां मुक्तिहेतवः ॥ १७
योजनासंख्यकोटीश्च विस्तृतानि हि कानिचित् । संख्येययोजनानीति दृष्टान्युक्तानि चार्हता ॥१८
उक्तं च द्वयम् [त्रि. सा. २२०, ·····]--
जोयणसंखासंखाकोडी तव्वित्थडं तु चउरस्सा । तिसयं बहलं मज्झं पडि सयतुंगेक्ककूडं च ॥१

एक लाख अठत्तर हजार सहित एक लाख (१७८०००) योजन विस्तार युक्त रत्नप्रभा पृथिवीके मध्य भागमें भवनवासियोंके भवन हैं ॥ ११ ॥

असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, दीपकुमार, उदधिकुमार, स्तनितकुमार, विद्युत्कुमार, दिक्कुमार, अग्निकुमार और पवन (वात) कुमार; ये दस प्रकारके भवनवासी देव हैं। इन सबके नामोंके आगे 'कुमार' शब्दका प्रयोग किया जाता है। उनके भवनोंकी जो संख्या शास्त्रमें देखी गई है उसे सुनिये ॥ १२-१३ ॥ ये भवन असुरकुमारोंके चौंसठ (६४) लाख, नागकुमारोंके चौरासी (८४) लाख, सुपर्णकुमारोंके वहत्तर (७२) लाख, वातकुमारोंके छयानवै (९६) लाख, तथा शेष छह कुमारोंके वे छयत्तर (७६) लाख कहे गये हैं। इन सबकी समस्त संख्याका प्रमाण सात करोड़ वहत्तर लाख (७७२०००००) है ॥ १४-१६ ॥ इन भवनोंमें उतने ही रत्नमय जिनेन्द्र देवोंके आलय (जिनभवन) सदा शोभायमान रहते हैं। उनका दर्शन पुण्यवन्धक है। ये जिनभवन भव्य जीवोंके लिये मुक्तिप्राप्तिके कारण हैं ॥ १७ ॥ उनमें कितने ही भवन असंख्यात करोड़ योजन तथा कितने ही संख्यात योजन विस्तृत हैं, यह विस्तार अर्हन्त भगवान्के द्वारा प्रत्यक्ष देखकर कहा गया है ॥ १८ ॥ यहां दो गाथायें कही गई हैं--

उनका विस्तार जघन्यसे संख्यात करोड़ योजन और उत्कर्षसे असंख्यात करोड़ योजन है। आकारमें वे समचतुष्कोण हैं। उनका बाहल्य तीन सौ (३००) योजन मात्र है। इनमेंसे प्रत्येकके मध्यमें एक सौ (१००) योजन ऊंचा एक एक कूट स्थित है [जिसके ऊपर चैत्यालय विराजमान है] ॥ १ ॥

---

१ प लक्षण° । २ ब सुपर्णाणां तु लक्षयेत् ।

कूडुवरिं जिणगेहा अकट्टिमा पउमरायमणिकलसा। चउगोउरमणिसालत्तिवणधयमाला विराजंति ॥
चतुरस्राणि भास्वन्ति रत्नैरुन्मिषितानि च । घ्राणानन्दनगन्धानि नित्योद्योतशुभानि च ॥१९
सुगन्धकुसुमाच्छन्नरत्नभूम्युज्ज्वलानि च । अवलम्बितधामानि धूपस्रोतोवहानि च ॥२०
तुरुष्कागरुगोशीर्षपत्रकुङ्कुमगन्धितैः । उपस्थानसभाहर्म्यवासगेहैर्युतानि च ॥ २१
शब्दरूपरसस्पर्शगन्धैर्दिव्यमनोहरैः । भवनान्यतिपूर्णानि[1] भोगैर्नित्यमनःप्रियैः ॥ २२
अमलान्यरजस्कानि वरशय्यासनानि च । श्लक्ष्णानि नयनेष्टानि इहात्यनुपमानि च ॥२३
रत्नाभरणदीप्ताङ्गाः संततानङ्गसंगिनः । अङ्गनाभिर्वराङ्गाभिर्मोदन्ते तेषु भावनाः ॥ २४
तत्राष्टगुणमैश्वर्यं स्वपूर्वतपसः फलम् । अव्याकुलमतिश्लाघ्यं प्राप्नुवन्त्यन्यदुर्लभम् ॥२५
असुरेन्द्रो हि चमरस्ततो वैरोचनोऽपि च । भूतानन्दश्च नागानां धरणानन्द एव च ॥ २६
वेणुदेवः सुपर्णानां वेणुधारी च नामतः । पूर्ण इन्द्रो वशिष्ठश्च द्वीपनाम्नां च भाषितः ॥२७
जलप्रभः समुद्राणां जलकान्तश्च देवराट् । स्तनितानां पतिर्घोषो महाघोषश्च नामतः ॥२८
विद्युतां हरिषेणश्च हरिकान्तश्च भाषितौ । दिशां चामितगत्याख्यो नाम्ना चामितवाहनः ॥२९
अग्नीन्द्रोऽग्निशिखो नाम्ना अग्निवाहन इत्यपि । वैलम्बो नाम वातानां द्वितीयश्च प्रभञ्जनः ॥३०

कूटोंके ऊपर पद्मराग मणिमय कलशोंसे सुशोभित, तथा चार गोपुर, तीन मणिमय प्राकार, वन, ध्वजाओं एवं मालाओंसे संयुक्त जिनगृह विराजते हैं ॥ २ ॥

भवनवासी देवोंके वे भवन चतुष्कोण, रत्नोंसे प्रकाशमान, विकसित, घ्राणेन्द्रियको आनन्दित करनेवाले गन्धसे संयुक्त, नित्य उद्योतसे शुभ; सुगन्धित कुसुमोंसे व्याप्त ऐसी रत्नमय भूमियोंसे उज्ज्वल, तेजका अवलम्बन करनेवाले, धूपके प्रवाहको धारण करनेवाले; तुरुष्क (लोभान), अगरु, गोशीर्ष, पत्र एवं कुंकुमसे सुवासित ऐसे उपस्थानों, सभाभवनों एवं वासगृहोंसे संयुक्त तथा दिव्य व मनोहर ऐसे शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्धसे एवं नित्य ही मनको मुदित करनेवाले भोगोंसे परिपूर्ण हैं ॥ १९-२२ ॥ इन भवनोंमें निर्मल, धूलिसे रहित, चिक्कण एवं नेत्रोंको सन्तुष्ट करनेवाली सर्वोत्कृष्ट शय्यायें और आसन सुशोभित हैं ॥ २३ ॥ उन भवनोंमें रत्नमय आभरणोंसे विभूषित शरीरसे संयुक्त और निरन्तर काममें आसक्त रहनेवाले वे भवनवासी देव सुन्दर शरीरवाली देवांगनाओंके साथ आनन्दको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥ वहांपर वे देव अपने पूर्वकृत तपके प्रभावसे उत्पन्न, निराकुल, अतिशय प्रशंसनीय और दूसरोंको दुर्लभ ऐसे अणिमा-महिमादि रूप आठ प्रकारके ऐश्वर्यको प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

इनमें असुरकुमारोंके इन्द्र चमर और वैरोचन, नागकुमारोंके भूतानन्द और धरणानन्द, सुपर्णकुमारोंके वेणुदेव और वेणुधारी, द्वीपकुमारोंके पूर्ण और वशिष्ठ इन्द्र, उदधिकुमारोंके जलप्रभ और जलकान्त इन्द्र, स्तनितकुमारोंके अधिपति घोष और महाघोष, विद्युत्कुमारोंके हरिषेण और हरिकान्त, दिक्कुमारोंके अमितगति और अमितवाहन, अग्निकुमारोंके अग्निशिख और अग्निवाहन तथा वातकुमारोंके वैलम्ब और दूसरा प्रभंजन; इस प्रकार उन दस प्रकारके

१ प ब पूर्वानि ।

दश पूर्वोदिता येषामिन्द्रा ये स्युर्द्वयोर्द्वयोः । दिशि ते दक्षिणस्यां च शेषास्तिष्ठन्ति चोत्तरे ॥३१
चमरस्य चतुस्त्रिंश[त्रिंश]द्वैरोचनस्य तु । नियुतानामिति ज्ञेयं भवनानि प्रमाणतः ॥ ३२
भूतानन्दस्य लक्षाणां चत्वारिंशच्चतुर्युता । भवनानि धरणस्यैव चत्वारिंशद्भवन्ति च ॥३३
त्रिंशदष्टौ च वेणोः स्युश्चतुस्त्रिंशत्तु धारिणः । चत्वारिंशच्च पूर्णस्य वशिष्ठे षट्कृतिं[1] भजेत् ॥३४
जलप्रभश्च घोषश्च हरिषेणोऽमिताह्वयः । तुल्या अग्निशिखाश्चैते पूर्णस्येव प्रसंख्यया ॥ ३५

। ४०००००० ।

जलकान्तो महाघोषो हरिकान्तोऽमितवाहनः । वशिष्ठेन समा एते पञ्चमश्चाग्निवाहनः ॥३६

। ३६००००० ।

वैलम्बनस्य पञ्चाशत् षट्चत्वारिंशदेव च । प्रभञ्जनस्य वेद्यानि नियुतानीह संख्यया ॥३७

। ५०००००० । ४६००००० ।

विंशतिर्भवनेन्द्राणां उपेन्द्रा अपि विंशतिः । यौवराज्येन तेनैव यान्त्यन्तं जीवितस्य ते ॥३८

अत्रोपयोगिन्यस्त्रिलोकप्रज्ञप्तिगाथाः [३, ६३-६८] —

एक्केक्कंसिं इंदे परिवारसुरा हवंति दसभेया । पडिइंदा तेत्तीसं तिदसा सामाणिया दिसाइंदा ॥३
तणुरक्खा तिप्परिसा सत्ताणीया पइण्णगभियोगा । किब्भिसया इदि कमसो पवण्णिदा इंदपरिवारा ॥
इंदा रायसरिच्छा जुवरायसमा हवंति पडिइंदा । पुत्तणिहा तेत्तीसं तिदसा सामाणिया कलत्तं वा ॥५

दस भवनवासियोंमें ये दो दो इन्द्र हैं । इन दो दो इन्द्रोंमें जिन (चमर व भूतानन्द आदि) दस इन्द्रोंका पूर्वमें निर्देश किया गया है वे दक्षिण दिशामें तथा शेष (वैरोचन व धरणानन्द आदि) दस इन्द्र उत्तर दिशामें स्थित हैं ॥ २९-३१ ॥

उक्त बीस इन्द्रोंमेंसे चमरेन्द्रके चौंतीस (३४) लाख और वैरोचनके तीस (३०) लाख प्रमाण भवन जानना चाहिये । भूतानन्दके चवालीस (४४) लाख और धरणानन्दके चालीस (४०) लाख ही भवन हैं । वेणुके अड़तीस (३८) लाख और वेणुधारीके चौंतीस (३४) लाख, पूर्णके चालीस (४०) लाख और वशिष्ठके छहके वर्ग अर्थात् छत्तीस (६×६=३६) लाख; जलप्रभ, घोष, हरिषेण, अमित और अग्निशिख इनमेंसे प्रत्येकके संख्यामें पूर्ण इन्द्रके समान चालीस चालीस लाख (४००००००); जलकान्त, महाघोष, हरिकान्त, अमितवाहन और पांचवां अग्निवाहन; इनमेंसे प्रत्येकके वशिष्ठके समान छत्तीस छत्तीस (३६०००००) लाख तथा वैलम्बके पचास लाख (५००००००) और प्रभंजनके छयालीस लाख (४६०००००) संख्या प्रमाण भवन जानना चाहिये ॥ ३२-३७ ॥ उपर्युक्त बीस भवनवासी इन्द्रोंके बीस उपेन्द्र भी होते हैं । वे उनके युवराजके समान होते हुए जीवितके अन्त अर्थात् मरणको प्राप्त होते हैं ॥ ३८ ॥ यहां त्रिलोकप्रज्ञप्तिकी उपयोगी गाथायें —

एक एक इन्द्रके दस प्रकारके परिवार देव होते हैं – प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिंश देव, सामानिक, दिशाइन्द्र (लोकपाल), तनुरक्ष (आत्मरक्ष), तीन पारिषद, सात अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक; ये क्रमसे इन्द्रके परिवार देव कहे गये हैं । इनमें इन्द्र राजाके सदृश, प्रतीन्द्र युवराजके समान, त्रायस्त्रिंश देव पुत्रके सदृश, सामानिक देव पत्नीके समान, चार

---

१ आ प वशिष्ठव्वट° ।

चत्तारि लोयवाला सारिच्छा होंति तंतवालाणं। तणुरक्खाण समाणा सरीररक्खा सुरा सव्वे ॥६
बाहिरमज्झब्भंतरतंडयसरिसा हवंति तिप्परिसा। सेणोवमा अणीया पइण्णया[1] पुरजणसरिच्छा ॥
परिवारसमाणा ते अभियोगसुरा हवन्ति किब्भिसया। पाणोवमाणधारी[2] देवाण णिदंसणा एवं ॥८
सामानिकसहस्राणि चतुःषष्टिर्भवन्ति हि। [3]चमरस्योत्तरस्यापि तेषां षष्टिरुदाहृता ॥३९

।च ६४०००। वै ६००००।

भूतानन्दस्य पञ्चाशत्सहस्राणि पुनश्च षट्। पञ्चाशदेव शेषाणां प्रत्येकमिति वर्ण्यते ॥४०

।भू ५६०००। शे ५००००।

त्रायस्त्रिंशाः सुरास्तेषां त्र्यधिका त्रिंशदेकशः। चत्वारो लोकपालाश्च प्रत्येकं ते च दिग्गताः ॥ ४१
षट्पञ्चाशत्सहस्राणि चमरे नियुतद्वयम्। चत्वारिंशत्सहस्राणि नियुते द्वे परस्य च ॥४२

।च २५६०००। वै २४००००।

चतुर्विंशतिसहस्राणि भूतानन्दस्य लक्षक-। द्वितयं[4] चात्मरक्षाश्च शेषाणां नियुतद्वयम् ॥४३

।भू २२४०००। शे २०००००।

चमरस्य सहस्रं स्यादष्टाविंशतिताडितम्। षड्विंशत्येतरस्यापि भूतानन्दस्य षड्गुणम् ॥४४
चतुर्गुणं तु शेषाणां [5]परिषद्यान्तराश्रिता। द्वाभ्यां द्वाभ्यां सहस्राभ्यामधिका मध्यमान्तिमा ॥४५

अं च २८०००। वै २६०००। भू ६०००। शे ४०००। म च ३००००। वै २८०००।
भू ८०००। शे ६०००। बा च ३२०००। वै ३००००। भू १००००। शे ८०००।

लोकपाल कोतवालोंके सदृश, सब तनुरक्ष देव अंगरक्षकोंके समान; तीन पारिषद बाह्य, मध्य और अभ्यन्तर समितिके सदस्योंके समान; अनीक देव सेनाके सदृश, प्रकीर्णक पुरवासी (प्रजा) जनोंके सदृश, आभियोग्य देव परिचारक (दास)के सदृश, और किल्विषिक देव चाण्डालके सदृश होते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त देवपरिवारोंके लिये ये लौकिक दृष्टान्त हैं ॥ ३-८॥

सामानिक देव चमरेन्द्रके चौंसठ हजार (६४०००) तथा उत्तर इन्द्र (वैरोचन)के साठ हजार (६००००) कहे गये हैं ॥ ३९॥ ये देव भूतानन्दके पचास और छह अर्थात् छप्पन हजार (५६०००) तथा शेष सत्तरह इन्द्रोंमें प्रत्येकके पचास हजार (५००००)ही कहे जाते हैं॥४०॥ उपर्युक्त बीस इन्द्रोंमेंसे प्रत्येकके त्रायस्त्रिंश देव तेतीस तथा लोकपाल चार होते हैं और वे एक एक दिशामें स्थित होते हैं ॥४१॥ आत्मरक्ष देव चमरेन्द्रके दो लाख छप्पन हजार (२५६०००), वैरोचनके दो लाख चालीस हजार (२४००००), भूतानन्दके दो लाख चौबीस हजार (२२४०००) तथा शेष सत्तरह इन्द्रोंके दो दो लाख (२०००००) होते हैं ॥४२-४३॥ पारिषदोंमें अभ्यन्तर परिषद्के आश्रित देव चमरेन्द्रके अट्ठाईस हजार (२८०००), वैरोचनके छब्बीस हजार (२६०००), भूतानन्दके छह हजार (६०००), तथा शेष सत्तरहके चार चार हजार (४०००) होते हैं। मध्यम परिषद्के आश्रित वे देव इनसे क्रमशः दो हजार अधिक (३००००,

---

१ आ प परिण्णया। २ ब °दारी। ३ आ प चरम°। ४ प द्वितीयं। ५ प परिष्या°।

जतुश्चन्द्रा च समिता बाह्यमध्यान्तराश्रिताः। संज्ञाः परिषदामेता[1] याथासंख्येन भाषिताः ॥४६
सप्तैव च स्युरानीकाः सप्तकक्षाः पृथक् पृथक्। स्वसामानिकतुल्यः स्यात्प्रथमो द्विगुण आन्तिमात्[2] ॥
असुरस्य लुलापाश्वरथदन्तिपदातिक-। गन्धर्वनर्तनानीकाः सप्तेत्येते भवन्ति च ॥ ४८॥
एषां महत्तराः षट् च प्रोक्ता एका महत्तरी। शेषेषु प्रथमानीकाः क्रमान्नौताक्ष्यवारणाः ॥ ४९
मकरः खड्गी च करभो मृगारिशिबिकाश्वकाः। शेषानीकाश्च [3]पूर्वोक्तवद्भवन्तीति निश्चिता॥
पदमात्रगुणसंवर्गगुणितादिर्मुखोनकः। रूपोनकगुणाप्तश्च गुणसंकलितं भवेत् ॥ ५१

चमरस्यैकानीकाः ८१२८००० । समस्तानीकाः ५६८९६००० ।
वैरोचनस्यैकानीकाः ७६२०००० । समस्तानीकाः ५३३४०००० ।
भूतानन्दस्य एकानीकाः ७११२००० । समस्तानीकाः ४९७८४००० ।
शेषस्य एकानीकाः ६३५०००० । समस्तानीकाः ४४४५०००० ।

२८०००, ८०००, ६०००), तथा इनसे भी दो हजार अधिक (३२०००, ३००००, १००००, ८०००) वे देव बाह्य परिषद्के आश्रित होते हैं ॥ ४४-४५ ॥

उन तीन परिषदोंमेंसे बाह्य, मध्यम और अभ्यन्तर परिषदकी यथाक्रमसे जतु, चन्द्रा और समिता ये संज्ञायें कही गई हैं ॥ ४६ ॥

अनीक देव सात ही होते हैं। उनमें अलग अलग सात कक्षायें होती हैं। उनमेंसे प्रथम कक्षामें संख्याकी अपेक्षा अपने सामानिक देवोंके बराबर देव रहते हैं, आगे वे अन्तिम कक्षा तक उत्तरोत्तर दूने दूने होते गये हैं ॥ ४७॥ असुर जातिके देवोंमें महिष, अश्व, रथ, हाथी, पादचारी, गन्धर्व और नर्तक ये सात अनीक देव होते हैं। इनमें छह महत्तर और एक महत्तरी कही गई है। शेष नौ भवनवासी देवोंमें क्रमसे नाव, गरुड पक्षी, हाथी, मगर, खड्गी, ऊंट, सिंह, शिविक (गेंडा) और अश्व ये प्रथम अनीक देव तथा शेष (द्वितीय आदि)अनीक देव पूर्वोक्त अनीकोंके ही समान होते हैं, यह निश्चित समझना चाहिये ॥ ४८-५० ॥

गच्छ प्रमाण गुणकारोंको परस्पर गुणित करके प्राप्त राशिसे आदि (मुख) को गुणित करनेपर जो संख्या प्राप्त हो उसमेंसे मुखको कम करके शेषमें एक कम गुणकारका भाग देनेपर गुणसंकलनका प्रमाण होता है ॥ ५१ ॥

उदाहरण-- प्रकृतमें गच्छका प्रमाण ७, गुणकारका प्रमाण २, और मुखका प्रमाण ६४००० है। अत एव इस गणितसूत्रके अनुसार (२×२×२×२×२×२×२)×६४०००-६४०००÷(२-१)=८१२८०००; इतना चमरेन्द्रकी सातों कक्षाओंके महिष आदि ७ अनीकोंमेंसे एक एकका प्रमाण होता है। इसे ७ से गुणा कर देनेपर उसकी सातों अनीकोंका समस्त प्रमाण इतना होता है- ८१२८०००×७=५६८९६०००। वैरोचनकी एक अनीक ७६२०००० समस्त अनीक ५३३४०००० । भूतानन्दकी एक अनीक ७११२०००, समस्त अनीक ४९७८४०००, शेष इन्द्रोंकी एक अनीक ६३५००००, समस्त अनीक ४४४५०००० ।

---

१ द ब परिषधा॰। २ प अन्तिमात्। ३ द ब प पूर्वोदिता।

प्रकीर्णकादिसंख्यानं सर्वेष्विन्द्रेषु यद्भवेत् । तत्संख्यानोपदेशश्च नष्टः कालवशादिह ॥ ५२
षट्पञ्चाशत्सहस्राणि चमरस्य वरस्त्रियः। षोडशात्र सहस्राणि तस्य वल्लभिका मताः ॥ ५३
कृष्णा सुमेघनाभा च सुकाख्या च सुकाढ्यया । रत्निका च महादेव्यः पञ्चैताश्चमरस्य च ॥ ५४
एकोनाष्टसहस्राणि पृथक् ताश्च विकुर्वते । वैरोचनस्य चेन्द्रस्य तथा तावत्य एव च ॥ ५५
पद्मदेवी महापद्मा पद्मश्रीः कनकश्रिया । युक्ता कनकमाला च महादेव्योऽस्य पञ्च च ॥ ५६
नागानां च सहस्राणि पञ्चाशत्प्रवरस्त्रियः । दश तासु सहस्राणि मता वल्लभिकाङ्गनाः ॥ ५७
सुपर्णानां सहस्राणां चत्वारिंशच्चतुर्युता । योषितस्तासु चत्वारि सहस्राणि प्रियाङ्गनाः ॥ ५८
द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशत्सहस्राणि च योषिताम् । शेषाणां च सहस्रे द्वे द्वेऽत्र वल्लभिकाङ्गनाः ॥ ५९
पञ्च पञ्चाग्रदेव्यश्च विक्रियाः पूर्ववन्मताः । शेषाणां च रूपोनषट्सहस्रं विकुर्वते ॥ ६०
। ५९९९ ।
पञ्च चत्वारि च त्रीणि पञ्चाशद्घ्नानि योषिताम् । चमरे पारिषद्यानामासन्नादिक्रमाच्च ताः ॥६१
।२५०।२००।१५०।
पञ्चाशद्घ्नानि षट् पञ्च चत्वार्येवं परस्य च । नागानां द्विशतं षष्टि-चत्वारिंशद्युतं शतम् ॥६२
३०० । २५० । २०० । २०० । १६० । १४० ।

सब इन्द्रोंमें प्रकीर्णक आदि देवोंकी जितनी संख्या है उस संख्याका उपदेश कालवश यहां नष्ट हो चुका है ॥ ५२ ॥

चमरेन्द्रके छप्पन हजार (५६०००)उत्तम देवियां होती हैं । इनमेंसे सोलह हजार उसकी वल्लभायें मानी गई हैं ॥ ५३ ॥ कृष्णा, सुमेघा, सुका, सुकाढचा और रत्निका ये पांच चमरेन्द्रकी महादेवी मानी गई हैं ॥ ५४ ॥ वे देवियां एक कम आठ हजार (७९९९) रूपोंकी पृथक् विक्रिया करती हैं। उतनी (५६०००) ही देवियां वैरोचन इन्द्रके भी हैं ॥ ५५ ॥ इस वैरोचन इन्द्रकी पांच महादेवियोंके नाम ये हैं– पद्मादेवी, महापद्मा, पद्मश्री, कनकश्री और कनकमाला ॥ ५६ ॥

नागकुमारोंके इन्द्रों (भूतानन्द और धरणानन्द) के पचास हजार (५००००) उत्तम देवांगनायें हैं, उनमें दस हजार (१००००) देवियां वल्लभा मानी गई हैं ॥ ५७ ॥ सुपर्णकुमारेन्द्रों (वेणु और वेणुधारी)के चवालीस हजार (४४०००)देवांगनायें हैं, उनमें चार हजार (४०००) वल्लभायें हैं ॥ ५८ ॥ शेष (पूर्ण और वशिष्ठ आदि) इन्द्रोंके बत्तीस हजार बत्तीस हजार(३२०००–३२०००) देवांगनायें हैं, इनमेंसे दो दो हजार (२०००–२०००) वल्लभायें हैं ॥ ५९ ॥ शेष इन्द्रोंके विक्रियाको करनेवाली अग्रदेवियां पूर्वके समान पांच पांच मानी गई हैं वे एक कम छह हजार (५९९९) रूपोंकी विक्रिया करती हैं ॥ ६० ॥

वे देवियां चमरेन्द्रके पारिषद देवोंके अभ्यन्तर परिषद् आदिके क्रमसे पचाससे गुणित पांच, चार और तीन अर्थात् अढ़ाई सौ ($५० \times ५ = २५०$), दो सौ (५०×४) और डेढ़ सौ (५०×३)हैं— अभ्यन्तर पारिषद २५०, मध्यम पा. २००, बाह्य पा. १५० ॥६१॥ वे देवियां द्वितीय वैरोचन इन्द्रके पारिषदोंके यथाक्रमसे पचास गुणित छह (३००), पांच (२५०) और

गरुडानां षष्टिसंयुक्तं चत्वारिंशद्युतं पुनः। सविंशतिशतं परिषद्देवीनां च यथाक्रमम् ॥ ६३
१६० । १४० । १२० ।
चत्वारिंशद्युतं विंशयुतं शुद्धं शतं भवेत् । द्वीपादीनां च शेषाणां परिषत्सुरयोषिताम् ॥ ६४
१४० । १२० । १०० ।
सेनामहत्तराणां च देव्यश्चात्मरक्षिणाम् । पृथक् पृथक् शतं सेनासुराणां च तदर्धकम् ॥६५
प्रकीर्णकत्रयस्यापि जिनदृष्टप्रमाणकाः । देव्यः सर्वनिकृष्टानां द्वात्रिंशदिति भाषिताः ॥ ६६
प्रधानपरिवाराः स्युरिन्द्राणामिमे सुराः । अप्रधानपरीवाराः संख्यातीतान्यनिर्जराः ॥ ६७
सामानिकप्रतीन्द्रेषु त्रायस्त्रिंशाह्वकेषु च । विक्रियापरिवारर्धिस्थितयः पतिभिः समाः ॥ ६८
सर्वे कायप्रवीचारा इन्द्राः केवलयाज्ञया । छत्रसिंहासनाभ्यां च चामरैरपि चाधिकाः ॥ ६९
चमरे सागरायुः स्यात्पक्षादुच्छ्वसनं भवेत् । समासहस्रेणाहारश्चान्यस्मिन्नधिकं त्रयम् ॥ ७०
भूतानन्दे त्रिपल्यायुर्धरणस्य तु साधिकम् । सुपर्णद्वीपसंज्ञानां द्विपल्यं सार्धसाधिकम् $\frac{5}{2}$ ॥ ७१
सार्धेन द्वादशाह्नेन आहारश्चोपतिष्ठते । तावन्मुहूर्तैरुच्छ्वासस्तेषां खल्वपि जायते ॥ ७२

चार (२००) मात्र हैं। उक्त देवियां नागेन्द्रोंके पारिषदोंके पूर्वोक्त क्रमसे दो सौ (२००), एक सौ साठ (१६०) और एक सौ चालीस (१४०) हैं ॥ ६२ ॥ गरुडेन्द्रोंके पारिषदोंके वे देवियां यथाक्रमसे एक सौ साठ (१६०), एक सौ चालीस (१४०) और एक सौ बीस (१२०) हैं ॥ ६३ ॥ शेष द्वीपकुमारेन्द्रादिकोंमें प्रत्येकके पारिषद देवोंके वे देवियां क्रमशः एक सौ चालीस (१४०), एक सौ बीस (१२०) और केवल सौ (१००) मात्र हैं ॥ ६४ ॥

वे देवियां सेनामहत्तरोंके और आत्मरक्षक देवोंके पृथक् पृथक् सौ (१००) तथा अनीक देवोंके उनसे आधी (५०) हैं ॥ ६५॥ शेष प्रकीर्णक आदि तीन प्रकारके देवोंके जिन भगवान्‌के द्वारा देखी गई संख्या प्रमाण देवियां होती हैं [अभिप्राय यह कि उनकी संख्याके प्रमाणका प्ररूपक उपदेश इस समय उपलब्ध नहीं हैं] । सबसे निकृष्ट देवोंके बत्तीस (३२) देवियां कहीं गई हैं ॥ ६६ ॥

उपर्युक्त ये सामानिक आदि देव इन्द्रोंके प्रधान परिवारस्वरूप हैं । उनके अप्रधान परिवारस्वरूप अन्य देव असंख्यात हैं ॥ ६७ ॥

सामानिक, प्रतीन्द्र और त्रायस्त्रिंश नामक देवोंमें विक्रिया, परिवार, ऋद्धि और आयु-स्थिति अपने अपने इन्द्रोंके समान होती हैं ॥६८॥ ये सब देव कायप्रवीचारसे सहित हैं । इन्द्र उन सामानिक आदि देवोंकी अपेक्षा केवल आज्ञा, छत्र, सिंहासन और चामरोंसे अधिक होते हैं॥६९॥

चमरेन्द्रकी उत्कृष्ट आयु एक सागरोपम प्रमाण होती है । उसके पक्ष (१५ दिन) में एक वार उच्छ्वास और एक हजार वर्षमें आहारग्रहण होता है । वैरोचन इन्द्रकी आयु आदि उन तीनका प्रमाण चमरेन्द्रकी अपेक्षा कुछ अधिक होता है ॥ ७० ॥ भूतानन्दकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम प्रमाण तथा धरणानन्दकी उससे कुछ अधिक होती है । सुपर्ण और द्वीपकुमारोंके इन्द्रोंकी वह आयु अढ़ाई ($\frac{5}{2}$) पल्योपम प्रमाण होती है । उनमें वेणुधारी और वशिष्ठकी आयु वेणु और पूर्ण इन्द्रसे कुछ अधिक होती है ॥ ७१ ॥ वे साढ़े बारह दिनमें आहार ग्रहण करते हैं।

समुद्रविद्युतस्तनिता द्विपल्याधिकजीविनः । द्वादशाह्नेन चाहारः श्वासस्तावन्मुहूर्तकैः ॥ ७३
दिगग्निवातसंज्ञानां पल्यं सार्धं च साधिकम् । सार्धसप्तदिनैर्भुक्तिः श्वासस्तावन्मुहूर्तकैः ॥ ७४
त्रायस्त्रिंशत्प्रतीन्द्राणां सामानिकदिवौकसाम् । आयुराहारकोच्छ्वासाः स्वैः स्वैरिन्द्रैः समाः खलु ॥७५

उक्तं च द्वयम् [त्रि. सा. २४१–४२]–

असुरचउक्के सेसे उवही पल्लत्तयं दलूणकमं[1] । उत्तरइंदाणहियं सरिसं इंदादिपंचण्हं ॥ ९

सा १ । प ३ । प $\frac{5}{2}$ । प २ । प $\frac{3}{2}$ ।

आऊपरिवारिड्ढीविक्किरियाहि पडिंदयाइचऊ । सगसगइंदेहि समा दहरज्छत्तादिसंजुत्ता ॥ १०

सार्धद्विपल्यमायुष्यं चमरस्य तु योषिताम् । पल्यत्रयं परस्यापि भोगिनां पल्यकाष्टमः $\frac{1}{8}$ ॥ ७६
पूर्वकोटित्रयं चायुः सुपर्णेन्द्राङ्गनास्वपि । द्वीपादिशेषकेन्द्राणां वर्षकोटित्रयं भवेत् ॥ ७७
सेनामहत्तराणां च चमरस्यात्मरक्षिणाम् । पल्यमायुस्तदर्धं स्याद्वाहनानीकवासिनाम् ॥ ७८

१ । $\frac{1}{2}$ ।

वैरोचनेऽधिकं तच्च तत्स्थाने भोगिनां पुनः । जीवितं पूर्वकोटिश्च वर्षकोटिः क्रमाद्भवेत् ॥ ७९

तथा उतने (१२$\frac{1}{2}$) ही मुहूर्तोंमें उच्छ्वास भी लेते हैं ॥ ७२ ॥ उदधिकुमार, विद्युत्कुमार और स्तनितकुमार देवोंमें दक्षिण इन्द्रोंकी आयु दो पल्य और उत्तर इन्द्रोंकी उससे कुछ अधिक होती है। वे बारह दिनोंमें आहार ग्रहण करते हैं तथा उतने (१२) ही मुहूर्तोंमें उच्छ्वास लेते हैं ॥७३॥ दिक्कुमार, अग्निकुमार और वायुकुमार देवोंमें दक्षिण इन्द्रोंकी आयु डेढ़ पल्य और उत्तर इन्द्रोंकी उससे कुछ अधिक होती है। वे साढ़े सात (७$\frac{1}{2}$) दिनोंमें आहार ग्रहण करते हैं तथा उतने (७$\frac{1}{2}$) ही मुहूर्तोंमें उच्छ्वास लेते हैं ॥ ७४ ॥

त्रायस्त्रिंश, प्रतीन्द्र और सामानिक देवोंकी आयु, आहारग्रहण एवं उच्छ्वासका काल अपने अपने इन्द्रोंके समान है ॥ ७५ ॥ यहां दो गाथायें कही गई हैं—

असुरकुमार आदि चार तथा शेष छह भवनवासी देवोंकी आयु क्रमशः एक सागर तीन पल्य तथा आगे आधे पल्यसे कम होती गई है – असुर १ सागर, नागकुमार ३ पल्य, सुपर्ण. २$\frac{1}{2}$ प., द्वीप. २ प., शेष १$\frac{1}{2}$ प.। उत्तर इन्द्रोंकी आयु दक्षिण इन्द्रोंकी अपेक्षा कुछ अधिक होती है। यह आयुका प्रमाण इन्द्रादिक पांचके समान रूपमें होता है। प्रतीन्द्र आदि चार प्रकारके देव आयु, परिवार, ऋद्धि तथा विक्रियामें अपने अपने इन्द्रोंके समान होते हैं। इनके छत्र आदि इन्द्रोंकी अपेक्षा कुछ हीन होते हैं ॥९-१०॥

चमरेन्द्रकी देवियोंकी आयु अढ़ाई (२$\frac{1}{2}$) पल्य, वैरोचन इन्द्रकी देवियोंकी तीन (३) पल्य, नागकुमार देवियोंकी आयु पल्यके आठवें भाग ($\frac{1}{8}$), सुपर्णकुमार इन्द्रोंकी देवांगनाओंकी वह आयु तीन पूर्वकोटि, तथा द्वीपकुमार आदि शेष इन्द्रोंकी देवियोंकी आयु तीन करोड़ (३००००००००) वर्ष प्रमाण होती है ॥ ७६–७७ ॥

चमरेन्द्रके सेनामहत्तरों और आत्मरक्षकोंकी आयु एक पल्य प्रमाण तथा वाहन एवं अनीक देवोंकी आयु उससे आधी ($\frac{1}{2}$ पल्य) होती है ॥ ७८ ॥ इनसे वैरोचन इन्द्रके इन देवोंकी आयु कुछ अधिक होती है। नागकुमार इन्द्रोंके इन देवोंकी आयु क्रमसे एक पूर्वकोटि

---

[1] आ प थलूणकमं।

सुपर्णानां च तत्स्थाने वर्षकोटिश्च जीवितम् । वर्षलक्षं च शेषाणां नियुतं नियुतार्धकम् ॥ ८०
चमरेऽभ्यन्तरादीनां पारिषद्यदिवौकसाम् । सार्धद्विपल्यकं पल्यद्विकं सार्धैकपल्यकम् ॥ ८१

$\frac{5}{2}$ । २ । $\frac{3}{2}$ ।

वैरोचने त्रिपल्यं च क्रमादर्धार्धहीनकम् । पल्याष्टमश्च नागानां तदर्धं स्यात्तदर्धकम् ॥ ८२

३ । $\frac{5}{2}$ । २ । $\frac{1}{8}$ । $\frac{1}{16}$ ।

गरुडेषु पूर्वकोटीनां त्रयं द्वितयमेककम् । शेषेषु वर्षकोटीनां त्रिकं च द्विकमेककम् ॥ ८३
असुराणां तनूत्सेधश्चापानां पञ्चविंशतिः । शेषाणां च कुमाराणां दश दण्डा भवन्ति च ॥ ८४
इन्द्राणां भवनस्थानि अर्हदायतनानि च । विंशतिर्नैषधैश्चैत्यैर्भाषितानि समानि च ॥ ८५
अश्वत्थः सप्तपर्णश्च शालमलिश्च क्रमेण तु । जम्बूर्वेतसनामा च कदम्बप्रियकोऽपि च ॥ ८६
शिरीषश्च पलाशश्च कृतमालश्च पश्चिमः । असुरादिकुमाराणामेते स्युश्चैत्यपादपाः ॥ ८७
मूले च चैत्यवृक्षाणां प्रत्येकं च चतुर्दिशम् । जिनार्चाः पञ्च राजन्ते पर्यङ्कासनसंस्थिताः ॥ ८८
विंशती रत्नसुस्तम्भाश्चैत्यैस्ते समपीठिकाः । प्रत्येकं प्रतिमाः सप्त स्थितास्तेषु चतुर्गुणाः ॥ ८९

उक्तं च [　　　]–

ककुभं प्रति मूर्धस्थसप्तार्हद्बिम्बशोभितः । तुङ्गा रत्नमया मानस्तम्भाः पञ्च दिशं प्रति ॥ ११

और एक करोड़ वर्ष प्रमाण होती है ॥ ७९ ॥ सुपर्णकुमार इन्द्रोंके उक्त देवोंकी आयु एक करोड़ वर्ष व एक लाख वर्ष तथा शेष इन्द्रोंके इन देवोंकी आयु एक लाख और अर्ध लाख वर्ष प्रमाण होती है ॥ ८० ॥

चमरेन्द्रके अभ्यन्तर आदि पारिषद देवोंकी आयु क्रमसे अढ़ाई पल्य, दो पल्य और डेढ़ पल्य ($\frac{5}{2}$, २, $\frac{3}{2}$) प्रमाण होती है ॥ ८१ ॥ वैरोचन इन्द्रके उन देवोंकी आयु क्रमसे तीन पल्य, अढ़ाई पल्य और दो (३, $\frac{5}{2}$, २) पल्य मात्र होती है। नागकुमारोंके इन देवोंकी आयु क्रमसे पल्यके आठवें भाग ($\frac{1}{8}$), इससे आधी ($\frac{1}{16}$ पल्य) और उससे भी आधी ($\frac{1}{32}$ पल्य) होती है ॥ ८२ ॥ गरुडकुमारेन्द्रोंमें उक्त देवोंकी आयु क्रमसे तीन पूर्वकोटि, दो पूर्वकोटि और एक पूर्वकोटि मात्र होती है। शेष इन्द्रोंके इन देवोंकी आयु तीन करोड़ वर्ष, दो करोड़ वर्ष और एक करोड़ वर्ष मात्र होती है ॥ ८३ ॥

असुरकुमारोंके शरीरकी ऊंचाई पच्चीस (२५) धनुष और शेष कुमार देवोंके शरीरकी ऊंचाई दस (१०) धनुष मात्र होती है ॥ ८४ ॥

इन्द्रोंके भवनोंमें स्थित जिनभवनोंकी संख्या बीस (२०) है। ये जिनभवन प्रमाण आदिमें निषधपर्वतस्थ जिनभवनोंके समान कहे गये हैं ॥ ८५ ॥

अश्वत्थ, सप्तपर्ण, शालमलि, जामुन, वेतस, कदम्ब, प्रियक (प्रियंगु), शिरीष, पलाश और अन्तिम कृतमाल (राजद्रुम); ये यथाक्रमसे उन असुरकुमारादि भवनवासी देवोंके चैत्यवृक्ष हैं ॥ ८६–८७ ॥ इन चैत्यवृक्षोंमेंसे प्रत्येकके मूलमें चारों दिशाओंमेंसे प्रत्येक दिशामें पर्यंक आसनसे स्थित पांच जिनप्रतिमायें विराजमान हैं ॥ ८८ ॥ वहां रत्नमय सुन्दर बीस स्तम्भ हैं। वे प्रतिमाओंके पीठके समान पीठसे संयुक्त हैं। उनमेंसे प्रत्येकके ऊपर चतुर्गुणित सात अर्थात् अट्ठाईस प्रतिमायें स्थित हैं ॥ ८९ ॥ कहा भी है –

प्रत्येक दिशामें शिरके ऊपर स्थित सात जिनबिम्बोंसे शोभायमान रत्नमय पांच ऊंचे मानस्तम्भ हैं ॥ ११ ॥

चिह्नं चूडामणिर्मौलौ स्फटामकुटमेव च। गरुडश्च गजश्चैव मकरो वर्धमानकः ॥ ९०
वज्रं सिंहश्च कलशो मकुटं चाश्वचिह्नकम्। क्रमेण भावनेन्द्राणामथ चैत्यद्रुमा ध्वजाः ॥ ९१
प्रकृत्या प्रेम नास्त्येव शक्रस्य चमरस्य च। ईशानवैरोचनयोस्तथा प्रेमविपर्ययः ॥९२
भूतानन्दस्य वेणोश्च अक्षमा तु स्वभावतः। धारिणो[1] धरणस्यापि[2] तथा प्रेमविपर्ययः ॥ ९३
सहस्रमवगाह्याधो व[्या]नान्तरसुरालयाः। आलोकान्ताद् गता वेद्या द्विसहस्रेऽल्पभावनाः ॥ ९४

। १००० ।

द्विचत्वारिंशतं गत्वा सहस्राणामितः परम्। महर्द्धिभावना देवास्तत्र तिष्ठन्ति सर्वतः ॥ ९५

। ४२००० ।

योजनानामितो गत्वा नियुतं भावनालयाः। ततोऽतीत्य सहस्रं च तत्राद्या नरकालयाः ॥ ९६

। १००००० ।

रत्नकूटकमध्यानि सर्वरत्नमयानि च। त्रिशतोच्चानि रम्याणि भवनान्यैन्द्रकाणि च ॥ ९७
असुराणां गतिश्चोर्ध्वमैशानात्खलु कल्पतः। बिन्दुमात्रमिदं शेषं ग्राह्यं लोकानुयोगतः ॥ ९८

ऋद्धिर्दिव्या संततरम्या भवनानामाप्तैः[3] पुण्यैर्हस्तगतैषा मनुजानाम्।
एवं मत्वा साधु चरन्तश्चरितानि रंरम्यन्ते मत्तमयूरा इव तेषु ॥ ९९

इति लोकविभागे भवनवासिकलोकविभागो नाम सप्तमं प्रकरणं समाप्तम् ॥७॥

मुकुटमें चूडामणि, फणायुक्त मुकुट (सर्प), गरुड, हाथी, मगर, वर्धमानक, वज्र, सिंह, कलश और अश्वसे चिह्नित मुकुट ये क्रमसे उन भवनवासी इन्द्रोंके मुकुटमें चिह्न होते हैं। उनके चिह्न चैत्यवृक्ष या ध्वजायें होते हैं ॥ ९०–९१ ॥

सौधर्म इन्द्र और चमरेन्द्रके परस्पर स्वभावसे ही प्रेम नहीं है। ईशानेन्द्र और वैरोचन इन्द्रके भी प्रेमविपर्यय अर्थात् परस्पर ईर्षाभाव होता है। भूतानन्द और वेणु इन्द्रोंके स्वभावसे विद्वेष होता है। उसी प्रकार वेणुधारी और धरणानन्द इन्द्रोंमें भी परस्पर प्रेमकी विपरीतता (विद्वेष) देखी जाती है ॥ ९२-९३ ॥

चित्रा पृथिवीसे नीचे एक हजार (१०००) योजन जाकर लोक पर्यन्त व्यन्तर देवोंके आश्चर्यजनक भवन स्थित जानना चाहिये। अल्पर्द्धिक भवनवासी देवोंके भवन उससे दो हजार (२०००) योजन नीचे जाकर अवस्थित हैं ॥९४॥ उससे ब्यालीस हजार (४२०००) योजन नीचे जाकर वहां सब ओर महर्द्धिक भवनवासी देव स्थित हैं ॥ ९५ ॥ इससे एक लाख (१०००००) योजन नीचे जाकर मध्यमर्द्धिक भवनवासी देवोंके भवन अवस्थित हैं। वहांसे एक हजार (१०००) योजन नीचे जाकर प्रथम नरकके नारकबिल हैं ॥ ९६ ॥ वे रमणीय ऐन्द्रक भवन मध्यमें रत्नमय कूटसे संयुक्त, सर्वरत्नोंसे निर्मित और तीन सौ (३००) योजन ऊंचे हैं ॥९७॥

असुरकुमारोंका गमन ऊपर ऐशान स्वर्ग तक होता है। यह उपर्युक्त विवरण बिन्दु मात्र अर्थात् बहुत संक्षिप्त है। शेष कथन लोकानुयोगसे जानना चाहिये ॥ ९८ ॥

निरन्तर रमणीय यह भवनवासी देवोंकी ऋद्धि मनुष्योंके लिये पूर्वप्राप्त पुण्यसे हस्तगत होती है, ऐसा समझकर साधु आचरण करनेवाले प्राणी उन भवनोंमें मत्त मयूरोंके समान बार बार रमते हैं ॥ ९९ ॥

इस प्रकार लोकविभागमें भवनवासिक लोकविभाग नामका सातवां प्रकरण समाप्त हुआ ॥७॥

---

१ ब दारिणो। २ प धारिणस्यापि ब दरिणस्यापि। ३ आ प °मात्यैः।

[अष्टमो विभागः]

इयं रत्नप्रभा भूमिस्त्रेधा स्यादिति वर्णिता । खरभागः पङ्कभागश्च भागश्चाब्बहुलादिकः ॥ १
प्रथमः षोडशाभ्यस्तसहस्रबहुलः स्मृतः । द्वितीयश्चतुरशीतिघ्नसहस्रबहुलो भवेत् ॥ २

। १६००० । ८४००० ।

सहस्रगुणिताशीतिब्रहुलोऽब्बहुलो भवेत् । पूर्वयोर्भवनावासास्तृतीये नरकाः स्मृताः ॥ ३

। ८०००० ।

अधश्चोर्ध्वं सहस्रं स्युस्त्यक्त्वास्यां प्रतरा भुवि । नरकावासकेष्वेषु प्रथमा नरकाः स्मृताः ॥ ४
शर्करावालुकापङ्कप्रभा धूमप्रभेति च । तमःप्रभा च षष्ठी भूः सप्तमी च महातमः ॥ ५
घर्मा वंशा च शैला च अञ्जनारिष्टसंज्ञका । मघवी माघवी चेति गोत्रनामानि सप्त च ॥ ६
द्वात्रिंशदष्टाविंशतिश्चतुरग्रा च विंशतिः । विंशतिः षोडशाष्टौ च सहस्राणि क्रमाद् घनाः ॥ ७
तिर्यग्लोकप्रविस्तारसंमितान्यन्तराणि च । सप्तानामपि भूमीनामाहुर्लोकतलस्य च ॥ ८
घनोदधिघनानिलस्तनुवातस्त्रयोऽनिलाः । भूमीनां च तले लोकबहिर्भागे भवन्त्यमी ॥ ९
घनोदधिश्च गोमूत्रवर्णः स्याद् घनवातकः । मुद्गवर्णनिभो नानावर्णश्च तनुवातकः ॥ १०
भूलोकतलवायूनां द्विहतायुतयोजनम् । बाहल्यं च पृथग्मूलाद्यावद्रज्जुप्रमाणकम् ॥ ११

। २०००० ।

यह रत्नप्रभा भूमि खरभाग, पंकभाग और अब्बहुलभागके भेदसे तीन प्रकारकी कही गई है ॥ १ ॥ इनमें खरभाग नामका प्रथम भाग सोलह हजार (१६०००) योजन, द्वितीय भाग चौरासी हजार (८४०००) योजन और तीसरा अब्बहुल भाग अस्सी हजार (८००००) योजन प्रमाण मोटा है। उनमेंसे पूर्वके दो भागों (खरभाग और पंकभाग) में भवनवासी देवोंके आवास हैं तथा तीसरे अब्बहुल भागमें नरक माने गये हैं ॥ २-३ ॥ इस पृथिवीमें नीचे और ऊपर एक एक हजार (१०००) योजन छोड़कर नारक पटल स्थित हैं। इन नरकावासोंमें प्रथम नरकके बिल माने गये हैं ॥ ४ ॥ उस रत्नप्रभा पृथिवीके नीचे क्रमसे शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, छठी तमप्रभा और सातवीं महातमप्रभा पृथिवी स्थित है ॥ ५ ॥ इन पृथिवियोंके क्रमसे घर्मा, वंशा, शैला, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी; ये सात गोत्रनाम हैं ॥ ६ ॥ शर्कराप्रभाको आदि लेकर इन पृथिवियोंकी मुटाई क्रमसे बत्तीस हजार (३२०००) अट्ठाईस हजार (२८०००), चौबीस हजार (२४०००), बीस हजार (२००००), सोलह हजार (१६०००) और आठ हजार (८०००) योजन प्रमाण है ॥ ७ ॥ इन सातों पृथिवियों तथा लोकतलके मध्यमें तिर्यग्लोकके विस्तारप्रमाण अर्थात् एक एक राजुका अन्तर है ॥ ८ ॥

इन पृथिवियोंके तलभागमें तथा लोकके बाह्य भागमें क्रमसे घनोदधि, घनवात और तनुवात ये तीन वातवलय स्थित हैं ॥ ९ ॥ इनमें घनोदधिका वर्ण गोमूत्र जैसा, घनवातका मूंगके समान और तनुवातका वर्ण अनेक प्रकारका है ॥ १० ॥ उपर्युक्त पृथिवियोंके तलभागमें तथा लोकके भी तलभागमें स्थित इन वातवलयोंमेंसे प्रत्येकका बाहल्य पृथक् पृथक् दुगुणे दस अर्थात् बीस हजार (२००००) योजन प्रमाण है। यह उनका बाहल्यप्रमाण लोकके उभय

सप्त पञ्च च चत्वारि प्रणिधौ सप्तमावनेः। तिर्यग्लोकस्य पार्श्वे च पञ्च चत्वारि च त्रिकम् ॥१२

।७।५।४।

सप्त पञ्च चतुष्कं च ब्रह्मलोकस्य पार्श्वके। प्रणिधावष्टमावन्याः पञ्च चत्वारि च त्रयम् ॥ १३

लोकाग्रे क्रोशयुग्मं तु गव्यूतिर्न्यूनगोरुतम् । न्यूनप्रमाणं धनुषां पञ्चविंश-चतुःशतम् ॥ १४

।२।१।१।

आद्यायामवनौ सर्वे प्रतराः स्युस्त्रयोदश । द्विकद्विकोनाः शेषासु व्येकपञ्चाशदेव ते ॥ १५

। १३।११।९।७।५।३।१।

गव्यूतिरुन्द्राः प्रतराः प्रथमायामतः परम् । गव्यूत्यर्धोत्तरा ज्ञेयाश्चान्त्या[1] योजनरुन्द्रकः ॥ १६

स्वप्रतररुन्द्रपिण्डोना चैकैका प्रतरस्थिता । रूपोनप्रतरैर्भक्ता भूमिश्च प्रतरान्तरम् ॥ १७

पार्श्वभागोंमें मूलसे लेकर एक राजु मात्र ऊपर जाने तक है ॥११॥ उन वातवलयोंका वाहल्य सातवीं पृथिवीके प्रणिधिभागमें क्रमसे सात, पांच और चार (७, ५, ४) योजन तथा तिर्यग्लोकके पार्श्वभागमें पांच, चार और तीन (५, ४, ३) योजन प्रमाण है ॥ १२ ॥ उक्त वातवलयोंका वाहल्य ब्रह्मलोक (पांचवां कल्प) के पार्श्वभागमें यथाक्रमसे सात, पांच और चार योजन तथा आठवीं पृथिवीके प्रणिधिभागमें पांच, चार और तीन योजन मात्र है ॥ १३ ॥ उन वातवलयोंका वाहल्य लोकशिखरपर क्रमसे दो (२) कोस, एक (१) कोस और एक (१) कोससे कुछ कम है। कुछ कमका प्रमाण यहां चार सौ पच्चीस (४२५) धनुप है। एक कोस=२००० धनुष; २०००−४२५=१५७५ धनुष ॥ १४ ॥

प्रथम पृथिवीमें सब पटल तेरह (१३) हैं। शेप छह पृथिवियोंमें वे उत्तरोत्तर इनसे दो दो कम होते गये हैं (११, ९, ७, ५, ३, १)। वे सब पटल उनंचास (४९) हैं ॥१५॥ प्रथम पृथिवीके पटलोंका रुंद्र (वाहल्य) एक कोस मात्र है। आगे द्वितीय आदि पृथिवियोंमें वह उत्तरोत्तर आधा आधा कोस अधिक होता गया है। इस प्रकार अन्तिम पृथिवीके पटलका वह वाहल्य एक योजन प्रमाण हो गया है ॥ १६ ॥ विवक्षित प्रतरस्थित (जितनी मुटाईमें पटल स्थित हैं) पृथिवीके वाहल्यप्रमाणमेंसे अपने पटलोंका जितना समस्त वाहल्य हो उसे कम करके जो शेष रहे उसमें विवक्षित पृथिवीकी एक कम प्रतरसंख्याका भाग देनेपर उन पटलोंके मध्यमें अवस्थित अन्तरालका प्रमाण प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

विशेषार्थ– ऊपर प्रथमादिक पृथिवियोंमें जिन तेरह ग्यारह आदि पटलोंका अवस्थान वतलाया गया है उनके मध्यमें कितना अन्तर है और वह किस प्रकारसे प्राप्त होता है, इसका उल्लेख करते हुए यहां यह वतलाया है कि विवक्षित पृथिवीमें जितने पटल स्थित हैं उन सबके समस्त वाहल्यप्रमाणको तथा पृथिवीके जितने भागमें उन पटलोंका अवस्थान नहीं है उसको भी कम करके शेषमें एक कम अपनी पटलसंख्याका भाग देनेसे जो लब्ध हो उतना उन पटलोंके मध्यमें ऊर्ध्व अन्तरालका प्रमाण होता है। जैसे– प्रथम पृथिवीके जिस अब्बहुल भागमें प्रथम नरक

---

१ ब °श्चांत्यो।

स्वप्रतररुन्द्रपिण्डेन व्येकप्रतरैर्हृतेन[1] च । हीनाः स्युर्वक्ष्यमाणाश्च प्रतरान्तरसंख्यकाः ॥ १८

प्रथमादिभूम्यन्तरसंख्यायामृणं क्रमेण यो. $\frac{५३}{४८}$ । $\frac{३३}{८०}$ । $\frac{९}{१६}$ । $\frac{३५}{४८}$ । $\frac{१५}{१६}$ । $\frac{२१}{१६}$ ।

सार्धषट् च सहस्राणि आद्यायां प्रतरान्तरम् । त्रिसहस्रं परं तत्तु सार्धद्विशतसंयुतम् ॥ १९

। ६५०० । [३००० ।] ३२५० ।

षट्षष्टचा षट्शतैर्युक्तं त्रिसहस्रं च साधिकम् । सार्ध चतुःसहस्रं स्यात्पञ्चम्यां प्रतरान्तरम् ॥ २०

। ३६६६ । $\frac{२}{३}$ । ४५०० ।

सप्तैव च सहस्राणि षठ्यां च प्रतरान्तरम् । चतुःसहस्रे भूम्यर्धे सप्तम्यां प्रतरः स्थितः ॥ २१

स्थित है उसकी मुटाईका प्रमाण ८०००० यो. है । चूंकि इसके ऊपर और नीचे १०००-१००० योजनमें कोई भी पटल नहीं है अतएव उसकी उक्त मुटाईमेंसे २००० योजन कम कर देनेपर शेष ७८००० योजन रहते हैं । इसके अतिरिक्त यहां जो १३ पटल स्थित हैं उनमेंसे प्रत्येकका बाहल्य एक कोस मात्र है । अत एव उनके समस्त बाहल्यका प्रमाण १३ कोस ($३\frac{१}{४}$ यो.) होता है । इसको ७८००० योजनमेंसे कम करके शेषमें उसकी एक कम पटलसंख्याका भाग दे देनेसे उन पटलोंके मध्यमें जितना अन्तर है वह इस प्रकारसे प्राप्त हो जाता है– {(८००००–२०००) –($\frac{१}{४}$×१३)} ÷(१३–१)=६४९९$\frac{३५}{४८}$ यो.; प्रथम पृथिवीस्थ इन्द्रक बिलोंका अन्तर। {(८००००–२०००) – ($\frac{४}{१२}$×१३)} ÷ (१३–१) = $\frac{९३५९४८}{१४४}$ = ६४९९$\frac{२३}{३६}$ यो; प्रथम पृथिवीस्थ श्रेणीबद्ध बिलोंका अन्तर। {(८००००–२०००) – ($\frac{७}{१२}$×१३)} ÷ (१३–१) =$\frac{९३५९०९}{१४४}$=६४९९$\frac{५३}{१४४}$ यो.; प्रथम पृथिवीस्थ प्रकीर्णक बिलोंका अन्तर ।

आगे जो प्रथमादिक पृथिवियोंमें पटलोंके अन्तरका प्रमाण बतलाया जा रहा है वह एक कम अपनी पटलसंख्यासे भाजित अपने समस्त पटलोंके बाहल्यसे हीन समझना चाहिये । आगे कहे जानेवाले उन प्रथमादि पृथिवियोंके इस अन्तरप्रमाणमेंसे क्रमशः अपनी अपनी पृथिवीके समस्त पटलोंके बाहल्यको इस प्रकारसे कम करना चाहिये– प्र. पृ. $\frac{१३}{४८}$, द्वि. पृ. $\frac{३३}{८०}$, तृ. पृ. $\frac{९}{१६}$, च. पृ. $\frac{३५}{४८}$, पं. पृ. $\frac{१५}{१६}$, ष. पृ. $\frac{२१}{१६}$. ॥ १८ ॥ पटलोंका यह अन्तर प्रथम पृथिवीमें साढ़े छह हजार (६५००) योजन, द्वितीय पृथिवीमें तीन हजार (३०००) योजन, तृतीय पृथिवीमें तीन हजार दो सौ पचास (३२५०) योजन, चतुर्थ पृथिवीमें तीन हजार छह सौ छयासठ (३६६६) योजनसे कुछ अधिक, पांचवीं पृथिवीमें साढ़े चार हजार (४५००) योजन और छठी पृथिवीमें सात हजार (७०००) योजन प्रमाण है । सातवीं पृथिवीकी मुटाई जो आठ हजार योजन है उसके अर्ध भागमें अर्थात् चार हजार (४०००) योजन नीचे जाकर ठीक मध्यमें एक ही पटल स्थित है ॥ १९-२१ ॥ उक्त सात पृथियोंमें स्थित उन पटलोंका अन्तर क्रमशः इस प्रकार है–

प्रथम पृथिवीमें– {(८००००–२०००) – ($\frac{१}{४}$×१३)}÷(१३—१)=६४९९$\frac{३५}{४८}$= ६५००–$\frac{१३}{४८}$ योजन ।

द्वितीय पृथिवीमें {(३२०००–२०००) – ($\frac{३}{८}$×११)} ÷ (११–१) =२९९९$\frac{४७}{८०}$ =(३०००–$\frac{३३}{८०}$) यो.

---

१ आ प °हृंतेन ।

प्रतराणां च मध्ये स्युरिन्द्रका इति नामतः। निरया घोरदुःखाढ्या नामभिस्तान्निवोधितः[1] ॥ २२
सीमन्तकोऽथ निरयो रौरवो भ्रान्त एव च। उद्भ्रान्तोऽप्यथ संभ्रान्तस्त्वसंभ्रान्तश्च सप्तमः ॥२३
विभ्रान्तस्त्रस्तनामा च त्रसितो वक्रान्त एव च। अवक्रान्तश्च विक्रान्तः प्रथमायां क्षिताविमे ॥२४
ततकस्तनकश्चैव वनको मनकस्तथा। खटा च खटिको जिह्वा जिह्विका लोलिका तथा ॥ २५
लोलवत्सा च दशमी स्तनलोलेति पश्चिमा। द्वितीयस्यां क्षितावेते इन्द्रका निरयाः खराः ॥ २६
तृतीयस्यां भवेत्तप्तस्तपितस्तपनः पुनः। [2]तापनोऽथ निदाघश्च उज्ज्वलः प्रज्वलोऽपि च ॥ २७
ततः संज्वलितो[3] घोरः संप्रज्वलित एव च। विज्ञेया[4] इन्द्रका एते नव प्रतरनाभयः ॥ २८
आरा मारा च तारा च चर्चाथ तमकीति च। घाटा घट च सप्तैते चतुर्थ्यामवनौ स्थिताः ॥ २९
तमका भ्रमका भूयो झषकान्द्रा[न्धा]तिमिश्रका। हिमवार्दलल्लल्कयः अप्रतिष्ठान इत्यपि ॥ ३०

तृतीय पृथिवीमें – {(२८०००–२०००) – (१/२×९)} ÷ (९–१) = ३२४९ ७/१६
= (३२५० – ९/१६) योजन

चतुर्थ पृथिवीमें – {(२४०००–२०००) – (५/८×७)} ÷ (७–१) = ३६६५ ४५/४८
= (३६६६ ३२/४८ – ३५/४८) यो.

पांचवीं पृथिवीमें – {(२००००–२०००) – (३/४×५)} ÷ (५–१) = ४४९९ १/१६
= (४५०० – १५/१६) योजन।

छठी पृथिवीमें – {(१६०००–२०००) – (७/८×३)} ÷ (३–१) = ६९९८ ११/१६
= (७००० – २१/१६) योजन।

सातवीं पृथिवीमें– १ ही पटलके होनेसे अन्तरकी सम्भावना नहीं है।

पटलोंके बीचमें इन्द्रक नामके जो नारक बिल हैं वे इतने भयानक दुखसे व्याप्त हैं कि उनका नाम भी नहीं लिया जा सकता है ॥ २२ ॥ सीमन्तक, निरय, रौरव, भ्रान्त, उद्भ्रान्त, सम्भ्रान्त, सातवां असम्भ्रान्त, विभ्रान्त, त्रस्त, त्रसित, वक्रान्त, अवक्रान्त और विक्रान्त; ये तेरह इन्द्रक बिल प्रथम पृथिवीमें स्थित हैं ॥ २३-२४ ॥ ततक, तनक, वनक, मनक, खटा, खटिक, जिह्वा, जिह्विका, लोलिका, दसवां लोलवत्सा और अन्तिम (ग्यारहवां) स्तनलोला ये तीक्ष्ण ग्यारह इन्द्रक बिल द्वितीय पृथिवीमें स्थित हैं ॥ २५-२६ ॥ तप्त, तपित, तपन, तापन, निदाघ, उज्ज्वल, प्रज्वल, संज्वलित और संप्रज्वलित; ये नौ इन्द्रक बिल तृतीय पृथिवीमें स्थित जानना चाहिये ॥ २७-२८ ॥ आरा, मारा, तारा, चर्चा, तमकी, घाटा और घट; ये सात इन्द्रक बिल चतुर्थ पृथिवीमें स्थित है ॥२९॥ तमका भ्रमका, झषका, अन्द्रा (अन्धा ?) और तिमिश्रका; ये पांच इन्द्रक बिल पांचवीं पृथिवीमें स्थित हैं। हिम, वार्दल और लल्लकी ये तीन इन्द्रक बिल छठी पृथिवीमें स्थित हैं। सातवीं पृथिवीमें अप्रतिष्ठान नामका एक ही इन्द्रक बिल स्थित है ॥३० ॥

---

१ प ॰स्तान्निनिवोधितः। २ प तपनो। ३ आ प संजलितो। ४ प विज्ञेयो।

त्रिंशच्च पञ्चवर्गः स्युः पञ्चादश दशैव च । त्रीणि पञ्चोनमेकं च लक्षं पञ्च च केवलाः ॥ ३१

३०००००० । २५००००० । १५००००० । १०००००० । ३००००० । ९९९९५ । ५ ।

ऋमात्सप्तावनीनरका भागस्तेषां च पञ्चमः । भवेत्संख्येयविस्तारः शेषाश्चासंख्यविस्तृताः ॥ ३२

चतुःशून्याष्टषट्कैकं[1] नरकाः संख्येयविस्तृताः । चतुर्गगनद्विकं सप्त षट्कं चासंख्यविस्तृताः ॥ ३३

१६८०००० । ६७२०००० ।

द्वे सहस्रे शते द्वे च चत्वारिंशन्नवोत्तराः । दिग्गता[ताः] प्रथमायां स्युर्वक्ष्यन्तेऽतो विदिग्गताः ॥ ३४

द्वे सहस्रे शतं चैकमशीतिश्चतुरुत्तरा । उभये पिण्डिताः सन्तो भवन्त्यावलिकास्थिताः ॥ ३५

सप्त षट् पञ्च पञ्चैव नव चैव पुनर्नव । द्वे च स्थानक्रमाद् ग्राह्या घर्मापुष्पप्रकीर्णकाः ॥ ३६

पञ्चसप्ततियुक्तानि त्रयोदशशतानि हि । दिक्ष्वन्यासु च विंशानि[2] त्रयोदशशतानि हि ॥ ३७

पञ्च शून्यं त्रयं सप्त नव चत्वारि च द्विकम् । पुष्पप्रकीर्णका ज्ञेया वंशायां नरका इमे ॥ ३८

शतानि सप्त षष्टिश्च पञ्चयुक्ता दिका[गा]श्रिताः । विदिग्गतास्तु विंशानि सप्तैव स्युः शतानि हि ॥

पञ्चैकं पञ्च चाष्टौ च नव चत्वारि रूपकम् । पुष्पप्रकीर्णकाः प्रोक्ताः शैलायां नरका इमे ॥ ४०

उपर्युक्त सात पृथिवियोंमें क्रमसे तीस लाख (३००००००), पांचका वर्ग अर्थात् पच्चीस लाख (२५०००००), पन्द्रह लाख (१५०००००), दस लाख (१००००००), तीन लाख (३०००००) पांच कम एक लाख (९९९९५) और केवल पांच (५) ही नारक बिल अवस्थित हैं। इनमेंसे पांचवें भाग प्रमाण (६०००००, ५०००००, ३०००००, २०००००, ६००००, १९९९९, १) नारक बिलोंका विस्तार संख्यात योजन और शेष (४/५) का असंख्यात योजन प्रमाण है ॥ ३१-३२ ॥ अंकक्रमसे चार शून्य, आठ, छह और एक (१६८००००) इतने नारक बिलोंका विस्तार संख्यात योजन; तथा चार शून्य, दो, सात और छह (६७२००००) इतने नारक बिलोंका विस्तार असंख्यात योजन है ॥ ३३ ॥

प्रथम पृथिवीमें दो हजार दो सौ उनंचास (२२४९) बिल दिशागत हैं। आगे विदिशागत बिलोंका प्रमाण कहा जाता है– दो हजार एक सौ चौरासी (२१८४) बिल विदिशागत हैं। इन दोनों प्रकारके बिलोंकी जितनी समस्त संख्या है उतने (२२४९+२१८४=४४३३) प्रथम पृथिवीमें श्रेणीबद्ध बिल स्थित हैं ॥ ३४-३५॥ घर्मा पृथिवीमें अंकक्रमसे सात, छह, पांच, पांच, नौ, फिर नौ और दो इतने (२९९५५६७) अर्थात् उनतीस लाख पंचानबै हजार पांच सौ सड़सठ पुष्पप्रकीर्णक बिल जानना चाहिये ॥ ३६ ॥

वंशा (द्वितीय) पृथिवीमें दिशागत श्रेणीबद्ध बिल तेरह सौ पचत्तर (१३७५) और विदिशागत तेरह सौ वीस (१३२०) हैं। यहां पुष्पप्रकीर्णक बिल अंकक्रमसे पांच, शून्य, तीन, सात, नौ, चार और दो (२४९७३०५) इतने जानना चाहिये ॥३७-३८॥ शैला पृथिवीमें दिशागत श्रेणीबद्ध बिल सात सौ पैंसठ (७६५) और विदिशागत सात सौ बीस (७२०) हैं। पुष्पप्रकीर्णक बिल वहां अंकक्रमसे पांच, एक, पांच, आठ, नौ, चार और एक (१४९८५१५) इतने हैं ॥३९-४०॥

---

१ आ प शूत्याष्टकैकैकं । २ आ प विंशानी ।

एकसप्ततियुक्तानि शतानि त्रीणि दिग्गताः । षट्त्रिंशानि पुनस्त्रीणि शतानि स्युर्विदिग्गताः ॥ ४१
एकादश शतं ज्ञेयं सहस्राणां नवाहतम् । शते द्वे त्रिनवत्यग्रे चतुर्थ्यां च प्रकीर्णकाः ॥ ४२
चत्वारिंशच्छतं चैकं पञ्चाग्रा दिक्षु भाषिताः । विंशमेकं शतं भूयः पञ्चम्यां च विदिग्गताः ॥ ४३
नवैव च सहस्राणि व्ययुतं नियुतत्रिकम् । शतानि सप्त त्रिंशच्च पञ्चाग्रात्र प्रकीर्णकाः ॥४४
त्रिंशन्नवोत्तरा दिक्षु षट्चतुष्का विदिग्गताः । नियुतं[1] त्वष्टषष्ट्यूनं षष्ठ्यां पुष्पप्रकीर्णकाः ॥४५
कालश्चैत्र महाकालो रौरवो महरौरवाः । पूर्वापरे दक्षिणतश्चोत्तरतः क्रमोदिताः ॥ ४६
अप्रतिष्ठानसंज्ञश्च मध्ये तेषां प्रतिष्ठितः । जम्बूद्वीपसमव्यासः पञ्चैते सप्तमीस्थिताः ॥ ४७

उक्तं च [ ] –

मनुष्यक्षेत्रमानः स्यात्प्रथमो जम्बूसमोऽन्तिमः । विशेचोभये[2] व्येकेन्द्रकाप्ते[3] हानिवृद्धि(?) च ॥१
द्वादशाप्ताश्च[4] लक्षाणामेकादश चयो भवेत् । उपर्युपरि विस्तारे चेन्द्रकाणां यथाक्रमम् ॥ ४८

। $\frac{1100000}{12}$ ।

चतुर्थ पृथिवीमें दिशागत श्रेणीबद्ध बिल तीन सौ इकत्तर (३७१) और विदिशागत तीन सौ छत्तीस (३३६) हैं। वहां प्रकीर्णक बिल नौसे गुणित एक सौ ग्यारह हजार अर्थात् नौ लाख निन्यानबै हजार और दो सौ तैरानवै (९९९२९३) जानना चाहिये ॥ ४१-४२ ॥ पांचवीं पृथिवीमें दिशागत श्रेणीबद्ध बिल एक सौ पैंतालीस (१४५) और विदिशागत एक सौ वीस (१२०) कहे गये हैं। वहां प्रकीर्णक बिल दस हजारसे कम तीन लाख और नौ हजार सात सौ पैंतीस (२९९७३५) हैं ॥ ४३-४४॥ छठी पृथिवीमें दिशागत श्रेणीबद्ध बिल उनतालीस (३९) और विदिशागत छह चतुष्क अर्थात् चोवीस (२४) हैं। वहां प्रकीर्णक बिल अड़सठ कम एक लाख (९९९३२) हैं ॥ ४५ ॥ सातवीं पृथिवीमें काल, महाकाल, रौरव और महारौरव ये चार श्रेणीबद्ध बिल क्रमसे पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तरमें कहे गये हैं। उनके मध्यमें अप्रतिष्ठान नामका इन्द्रक बिल स्थित है। उसका विस्तार जम्बूद्वीपके बराबर (१००००० यो.) है। सातवीं पृथिवीमें ये ही पांच बिल स्थित है ॥४६-४७॥ कहा भी है–

प्रथम इन्द्रकका विस्तार मनुष्यक्षेत्र (अढ़ाई द्वीप) के बराबर और अन्तिम इन्द्रकका विस्तार जंबूद्वीपके बराबर है। इन दोनोंको परस्पर विशुद्ध करके अर्थात् प्रथम इन्द्रकके विस्तार-मेंसे अन्तिम इन्द्रकके विस्तारको घटाकर शेषमें एक कम इन्द्रकसंख्याका भाग देनेपर हानि-वृद्धिका प्रमाण प्राप्त होता है। यथा– (४५०००००–१०००००)÷(४९–१)=९१६६६$\frac{2}{3}$ यो.; इतनी प्रथम इन्द्रककी अपेक्षा उन पटलोंके विस्तारमें उत्तरोत्तर हानि तथा अन्तिम इन्द्रककी अपेक्षा उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है ॥ १ ॥

ग्यारह लाखमें बारहका भाग देनेपर जो लब्ध हो उतनी ($\frac{1100000}{12}$) आगे आगे इन्द्रक बिलोंके विस्तारमें यथाक्रमसे [प्रथम इन्द्रककी अपेक्षा हानि और अन्तिम इन्द्रककी अपेक्षा

१ आ प युतं । २ व विषये चोभये [विशोध्योभये] ३ प व्येकेन्द्राप्ते । ४ प द्वादशाप्ता च ।

एकनवतिसहस्राणि योजनानि तु षट्छतम् । षट्षष्टिश्च समाख्याता त्रिभागौ वृद्धिरेव च ॥ ४९

९१६६६ । $\frac{2}{3}$ ।

सीमन्तकस्य दिक्षु स्युः पञ्चाशद्रूपवर्जिताः । विदिक्षु पुनरेकोना निरयाः समवस्थिताः ॥ ५०

४९ । ४८ ।

द्वितीयप्रतरोऽष्टोन एवमष्टोनकाः[1] क्रमात् । सर्वेऽपि प्रतरा ज्ञेया यावदन्त्यो भवेदिति ॥ ५१

एकेन हीनगच्छश्च दलितश्चयताडितः । सादिर्गच्छहतश्चैव सर्वसंकलितं भवेत् ॥ ५२

षट्छतानि त्रिपञ्चाशत् सहस्राणि नवैव च । आवल्या तु स्थिता ज्ञेया निरयाः सर्वभूमिषु ॥ ५३

शतान्येकान्न पञ्चाशच्चत्वारिंशन्नवोत्तरा । दिक्स्थिता निरयाः एते गणिताः सर्वभूमिषु ॥ ५४

वृद्धि] होती गई है ॥ ४८ ॥ इस हानि-वृद्धिका प्रमाण इक्यानबै हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमेंसे दो भाग मात्र कहा गया है– $\frac{११०००००}{१२} = ९१६६६\frac{२}{३}$ ॥४९॥

उदाहरण– प्रथम सीमन्तक इन्द्रकका विस्तार ४५००००० और अन्तिम अप्रतिष्ठान इन्द्रकका विस्तार १००००० योजन है । अत एव उक्त नियमानुसार हानि-वृद्धिका पूर्वोक्त प्रमाण इस प्रकार प्राप्त होता है–$(४५०००००-१०००००) \div (४९-१) = \frac{११०००००}{१२} = ९१६६६\frac{२}{३}$ योजन । अब यदि आप २५वें इन्द्रकके विस्तारको जानना चाहते हैं तो एक कम अभीष्ट इन्द्रककी संख्या (२५ – १) से इस हानि-वृद्धिके प्रमाणको गुणित करके जो प्राप्त हो उसे प्रथम इन्द्रकके विस्तारमेंसे कम कर दीजिये अथवा अन्तिम इन्द्रकके विस्तारमें जोड़ दीजिये । इस रीतिसे २५वें इन्द्रकका विस्तार इतना प्राप्त हो जाता है । $४५००००० - \{\frac{११०००००}{१२} \times (२५-१)\} = २३०००००$; अथवा $\{\frac{११०००००}{१२} \times (२५-१)\} + १००००० = २३०००००$; योजन ।

सीमन्तक इन्द्रककी चारों दिशाओंमेंसे प्रत्येक दिशामें एक कम पचास (४९) तथा विदिशाओंमें इससे एक कम (४८–४८) नारक बिल अवस्थित हैं ॥ ५० ॥ द्वितीय प्रतरके आश्रित श्रेणीबद्ध बिल प्रथमकी अपेक्षा [प्रत्येक दिशा और विदिशामें एक एक कम होते जानेसे] आठ कम हैं । इस प्रकार अन्तिम इन्द्रक तक सब इन्द्रकोंके आश्रित श्रेणीबद्ध बिल क्रमसे आठ आठ हीन होते गये हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ ५१ ॥

एक कम गच्छको आधा करके चयसे गुणित करे । फिर उसमें आदि (मुख) को मिलाकर गच्छसे गुणित करनेपर सर्वसंकलित (सर्वधन) प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥

उदाहरण– प्रकृतमें गच्छ ४९ चय ८ और आदि ४ है । अतएव उक्त नियमानुसार सातों पृथिवियोंके समस्त श्रेणीबद्ध बिलोंका प्रमाण इस प्रकार प्राप्त हो जाता है– $(\frac{४९-१}{२}) \times ८ + ४ \times ४९ = ९६०४$.

सब पृथिवियोंमें नौ हजार छह सौ तिरेपन बिल श्रेणीस्वरूपसे स्थित जानने चाहिये– श्रेणीबद्ध ९६०४ + इन्द्रक ४९ = ९६५३ ॥ ५३ ॥ सब पृथिवियोंमें उनंचास सौ उनंचास (४९४९ नारक बिल पूर्वादिक दिशाओंमें स्थित हैं– $(\frac{४९-१}{२}) \times ४ + ४ \times ४९ = ४९००$ श्रेणीबद्ध; ४९००

---

१ प एकमष्टो ।

चत्वारि स्युः सहस्राणि पुनः सप्त शतानि च । चत्वारश्च विदिग्भाजः संख्याताः सर्वभूमिषु ॥ ५५
त्र्यशीतिर्नियुतानां च अयुतानि नवैव च । चत्वारिंशच्च सप्ताग्रा त्रिशतं च प्रकीर्णकाः ॥ ५६
संख्येयविस्तृता ज्ञेया सर्वेऽपीन्द्रकसंज्ञकाः । असंख्येयतता एव आवल्या निरयाः स्थिताः ॥ ५७
पुष्पप्रकीर्णकाख्यास्तु प्रायेणासंख्यविस्तृताः । संख्येयविस्तृताः स्तोका इति केवलिभाषिताः ॥ ५८

उक्तं च [त्रि. सा. १५३, १६३, १६५-६८, १७१-७२]–

तेरादिदुहीणिंदय सेडीबद्धा दिसासु विदिसासु । उणवण्णडदालादी एक्केक्केणूणया कमसो ॥ २
१३।११।९।७।५।३।१ ।
वेकपदं चयगुणिदं भूमिम्मि मुहम्मि[1] रिणधणं[2] च कए। मुहभूमीजोगदले पदगुणिदे पदधणं होदि ॥

+४९ इन्द्रक = ४९४९ ॥ ५४॥ चार हजार सात सौ चार (४७०४) इतने नारक बिल सब भूमियोंके भीतर विदिशाओंमें स्थित बतलाये गये हैं ॥ ५५ ॥

विशेषार्थ– सातवीं पृथिवीमें अप्रतिष्ठान इन्द्रकके विदिशागत श्रेणीबद्ध नहीं हैं। अत एव गच्छका प्रमाण यहां ४८ होगा । $(\frac{४८-१}{२}) \times ४ + ४ \times ४८ = ४७०४$; $४९४९ + ४७०४ = ९६५३$ समस्त इन्द्रक और श्रेणीबद्ध ।

तेरासी लाख नौ अयुत (नौगुणित दस हजार) अर्थात् नव्वै हजार तीन सौ सैंतालीस (८३९०३४७) इतने सब पृथिवियोंमें प्रकीर्णक बिल स्थित हैं– ८३९०३४७+ ९६५३=८४००००० समस्त नारक बिल ॥ ५६ ॥

सब इन्द्रक बिल संख्यात योजन विस्तारवाले जानना चाहिये । आवलीके रूपमें स्थित अर्थात् श्रेणीबद्ध बिल सब असंख्यात योजन विस्तारवाले ही हैं ॥ ५७ ॥ पुष्पप्रकीर्णक नामक बिलोंमें अधिकांश असंख्यात योजन विस्तृत हैं । उनमें संख्यात योजन विस्तृत बिल थोड़ेसे ही हैं, ऐसा केवलियोंके द्वारा निर्दिष्ट किया गया है ॥५८॥ कहा भी है—

इन्द्रक बिल प्रथमादिक पृथिवियोंमें यथाक्रमसे तेरहको आदि लेकर उत्तरोत्तर दो दो कम होते गये हैं (१३, ११, ९, ७, ५, ३, १)। श्रेणीबद्ध बिल दिशाओं और विदिशाओंमें क्रमसे उनंचास और अड़तालीसको आदि लेकर उत्तरोत्तर एक एकसे कम होते गये हैं। अभिप्राय यह है कि वे प्रथम सीमन्तक इन्द्रक बिलकी पूर्वादिक चार दिशाओंमें उनंचास उनंचास (४९–४९) और विदिशाओंमें अड़तालीस अड़तालीस (४८–४८) हैं। आगे द्वितीय आदि इन्द्रक बिलोंकी दिशाओं और विदिशाओंमें वे एक एक कम होते गये हैं ॥ २ ॥

एक कम गच्छको चयसे गुणित करनेपर जो प्राप्त हो उसे भूमिमेंसे कम करने और मुखमें जोड़ देनेपर क्रमसे भूमि और मुखका प्रमाण होता है। उस भूमि और मुखको जोड़ कर आधा करनेपर जो प्राप्त हो उसे गच्छसे गुणित करे। इस रीतिसे गच्छका समस्त धन प्राप्त हो जाता है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ– उक्त नियमानुसार उदाहरणके रूपमें प्रथम पृथिवीमें स्थित समस्त श्रेणीबद्ध बिलोंका प्रमाण लाते हैं। प्रथम इन्द्रक बिलकी प्रत्येक दिशामें ४९ और विदिशामें ४८ श्रेणीबद्ध बिल हैं। अत एव इन दोनोंको मिलाकर ४ से गुणित करनेपर भूमिका प्रमाण

---

१ प भूमिम्मुहम्मि । २ आ रिणदणं प णिरदणं ।

पुढविंदयमेगूणं अद्धकयं वग्गियं च मूलजुदं[1] । अट्ठगुणं चउसहियं पुढविंदयताडिदम्मि[2] पुढविधणं ॥

श्रे ४४२०।२६८४।१४७६।७००।२६०।६०।४।

सेढीणं विच्चाले पुप्फपइण्णय इव ट्ठिया णिरया । होंति पइण्णयणामा सेढिंदयहीणरासिसमा ॥ ५

पंचमभागपमाणा णिरयाणं होंति संखवित्थारा । सेसचउपंचभागा असंखवित्थारया णिरया ॥ ६

इंदयसेढीबद्धप्पइण्णयाणं[3] कमेण वित्थारा । संखेज्जमसंखेज्जं उभयं च य जोयणाण हवे ॥ ७

(४९+४८×४ =३८८ इतना होता है । अन्तिम (१३वें) पटलकी प्रत्येक दिशा और विदिशा-
में क्रमशः ३७ और ३६ श्रेणीबद्ध बिल हैं । इन दोनोंको जोड़कर ४ से गुणित करनेपर (३७+
३६)×४=२९२; इतना मुखका प्रमाण होता है । अब एक कम गच्छको चयसे गुणित करनेपर
जो प्राप्त हो उसे भूमिमेंसे कम कर देने और मुखमें जोड़ देनेपर मुखका और भूमिका प्रमाण
निम्न प्रकार होता है– ३८८–{(१३–१)×८}=२९२ मुख; २९२+{(१३–१)×८}=३८८
भूमि; इन दोनोंको जोड़कर और फिर आधा करके गच्छसे गुणित कर देनेपर प्रथम पृथिवीके
समस्त श्रेणीबद्ध बिलोंका प्रमाण इस प्रकार प्राप्त हो जाता है –$(\frac{३८८+२९२}{२})$×१३=
४४२० सब श्रेणीबद्ध । इसी नियमके अनुसार सातों पृथिवियोंके भी समस्त श्रेणीबद्ध बिलोंका
प्रमाण लाया जा सकता है । जैसे– यहां भूमि ३८९ (इन्द्रक सहित) और मुख ५ है;
३८९–{(४९–१)×८}=५ मुख; ५+{(४९–१)×८=३८९भूमि $(\frac{३८९+५}{२})$×४९=९६५३;
इन्द्रक (४९) सहित समस्त श्रेणीबद्ध ।

विवक्षित पृथिवीके इन्द्रक बिलोंकी जितनी संख्या हो उसमेंसे एक कम करके आधा
कर दे । तत्पश्चात् उसका वर्ग करके प्राप्त राशिमें वर्गमूलको मिला दे । पुनः उसे आठसे
गुणित करके व उसमें चार अंकोंको और मिलाकर विवक्षित पृथिवीकी इन्द्रकसंख्यासे गुणा
करे । इस प्रकारसे उस पृथिवीके समस्त श्रेणीबद्धोंकी संख्या प्राप्त हो जाती है ॥ ४ ॥

उदाहरण– प्रथम पृथिवीमें १३ इन्द्रक बिल हैं । अतः –{$(\frac{१३-१}{२})^२+(\sqrt{(\frac{१३-१}{२})^२}$×८
=३३६; (३३६+४)×१३=४४२० प्रथम पृथिवीके समस्त श्रेणीबद्ध; २६८४ द्वि. पृथिवीके
समस्त श्रे. ब.; १४७६ तृ. पृ. के समस्त श्रे. ब.; ७०० च. पृ. के समस्त श्रे. ब.; २६० पं. पृ. के
समस्त श्रे. ब.; ६० छठी पृ. के समस्त श्रे. ब.; ४ सातवीं पृ. के समस्त श्रेणीबद्ध ।

श्रेणीबद्ध बिलोंके अन्तरालमें इधर उधर बिखरे हुए पुष्पोंके समान जो नारक बिल
स्थित हैं वे प्रकीर्णक नामक बिल कहे जाते हैं । समस्त बिलोंकी संख्यामेंसे श्रेणीबद्ध और इन्द्रक
बिलोंकी संख्याको कम कर देनेपर जो राशि अवशिष्ट रहती है उतना उन प्रकीर्णक बिलोंका
प्रमाण समझना चाहिये । जैसे– प्रथम पृथिवीमें समस्त बिल ३०००००० हैं, अत एव
३००००००–(४४२०+१३)=२९९५५६७ प्रथम पथिवीके समस्त प्रकीर्णक बिल ॥ ५ ॥

समस्त नारक बिलोंमें पांचवें भाग ($\frac{१}{५}$) प्रमाण नारक बिल संख्यात योजन विस्तारवाले और
शेष चार बटे पांच भाग ($\frac{४}{५}$) प्रमाण बिल असंख्यात योजन विस्तारवाले हैं ॥ ६ ॥ इन्द्रक
बिलोंका विस्तार संख्यात योजन, श्रेणीबद्ध बिलोंका असंख्यात योजन, तथा प्रकीर्णक बिलोंका
उभय अर्थात् उनमें कितने ही बिलोंका विस्तार संख्यात योजन और कितने ही बिलोंका विस्तार

---

१ आ प मुलजुजुदं । २ त्रि. सा. °ताडियंच । ३ त्रि. सा. बद्धा पइण्ण° ।

रूवहियपुढविसंखं तियचउसत्तेहि गुणिय छब्भजिदे । कोसाणं बेहुलियं इंदयसेढीपइण्णाणं ॥ ८

इं. को. १। $\frac{३}{२}$ ।२। $\frac{५}{२}$ ।३। $\frac{७}{२}$ ।४। श्रे $\frac{४}{३}$ ।२। $\frac{८}{३}$ । $\frac{१०}{३}$ ।४। $\frac{१४}{३}$ । $\frac{१६}{३}$ । प्र $\frac{७}{३}$ । $\frac{७}{२}$ । $\frac{१४}{३}$ । $\frac{३५}{६}$ ।७। $\frac{४९}{६}$ । [$\frac{५६}{६}$]

पदराहदबिलबहलं पदरट्ठिदभूमिदो विसोहित्ता । रूऊणपदहिदाए बिलंतरं उड्ढगं तीए ॥ ९

प्रथमपृथ्वीन्द्रकान्तरं $\frac{३११९८७}{४८}$ श्रेणीबद्धान्तरं $\frac{२३३९८७}{३६}$ प्रकीर्णकान्तरं $\frac{९३५९०९}{१४४}$ ।

पूर्वे कांक्षा महाकांक्षा चापरे दक्षिणोत्तरे । पिपासातिपिपासा च भवेत् सीमन्तकस्य च ॥ ५९
निरयाः ख्यातनामानः प्रथमे प्रतरे मताः । मध्ये मानुषवास्योरुः शेषाश्चासंख्ययोजनाः ॥ ६०
अनिच्छा तु महानिच्छा अविद्येति च नामतः । महाविद्या च वंशाद्यास्ततकायाश्चतुर्दिशम् ॥ ६१
दुःखा खलु महादुःखा वेदा नाम्ना तु दक्षिणा । महावेदा च तप्तस्य दिक्षु शैलादिषु स्थिताः ॥६२

असख्यात योजन भी है ॥ ७ ॥ एक अधिक पृथिवीसंख्याको क्रमसे तीन, चार और सातसे गुणित करके प्राप्त राशिमें छहका भाग देनेपर जो लब्ध हो उतने कोस क्रमसे इन्द्रक, श्रेणीवद्ध और प्रकीर्णक विलोंका वाहल्य जानना चाहिये ॥ ८ ॥

उदाहरण– जैसे यदि हमें छठी पृथिवीके इन्द्रकादि बिलोंके बाहल्यका प्रमाण जानना अभीप्ट है तो उक्त नियमके अनुसार वह इस प्रकारसे ज्ञात हो जाता है– पृथिवीसंख्या ६; $\{(६+१)\times३\}\div६=३\frac{१}{२}$ कोस; छठी पृथिवीके इन्द्रकोंका वाहल्य। $\{(६+१)\times४\}\div६=४\frac{२}{३}$ कोस; छठी पृथिवीके श्रे. व. विलोंका वाहल्य। $\{(६+१)\times७\}\div६=८\frac{१}{६}$ कोस; छठी पृथिवीके प्र. विलोंका वाहल्य।

पृथिवीक्रमसे इन्द्रक, श्रेणीवद्ध और प्रकीर्णक विलोंका वाहल्य–

पृथिवी	घर्मा	वंशा	मेघा	अरिष्टा	अंजना	मघवी	माघवी
इन्द्रक	१ कोस	$१\frac{१}{२}$ को.	२ को.	$२\frac{१}{२}$ को.	३ को.	$३\frac{१}{२}$ को.	४ को.
श्रेणीवद्ध	$१\frac{१}{३}$,,	२ ,,	$२\frac{२}{३}$,,	$३\frac{१}{३}$,,	४ ,,	$४\frac{२}{३}$,,	$५\frac{१}{३}$,,
प्रकीर्णक	$२\frac{१}{३}$,,	$३\frac{१}{२}$,,	$४\frac{२}{३}$,,	$५\frac{५}{६}$,,	७ ,,	$८\frac{१}{६}$,,	$९\frac{१}{३}$,,

विवक्षित पृथिवीमें जितने पटल हों उनकी संख्यासे गुणित बिलके वाहल्यको प्रतर-स्थित भूमि अर्थात् पृथिवीकी जितनी मुटाईमें विल स्थित हैं उसमेंसे कम करके शेषको एक कम गच्छसे गुणित करनेपर उक्त पृथिवीके विलोंका ऊर्ध्वग अन्तराल प्राप्त होता है– प्रथम पृथिवीके इन्द्रक विलोंका अन्तर $\frac{३११९८७}{४८}$; उसीके श्रे. व. विलोंका अन्तर $\frac{२३३९८७}{३६}$; उसीके प्रकीर्णक विलोंका अन्तर $\frac{९३५९०९}{१४४}$ (देखिये पीछे श्लोक १७ का विशेषार्थ) ॥ ९ ॥

प्रथम पृथिवीके प्रथम पटलमें स्थित सीमन्तक इन्द्रक विलके पूर्वमें कांक्षा, पश्चिममें महाकांक्षा, दक्षिणमें पिपासा और उत्तरमें अतिपिपासा; इन प्रसिद्ध नामोंवाले चार श्रेणीवद्ध नारक विल हैं । इनके मध्यमें जो सीमन्तक इन्द्रक विल है उसका विस्तार मनुष्यलोकके वरावर पैंतालीस लाख (४५०००००) योजन और शेष चार श्रेणीवद्धोंका विस्तार असंख्यात योजन मात्र है ॥ ५९-६० ॥ अनिच्छा, महानिच्छा, अविद्या और महा-अविद्या नामके चार श्रेणीवद्ध विल वंशा पृथिवीके प्रथम ततक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें स्थित हैं ॥ ६१॥ दुःखा, महादुःखा, वेदा और महावेदा नामके चार श्रेणीवद्ध विल शैला (तृतीय) पृथिवीके तप्त इन्द्रककी पूर्वादिक

निसृष्टातिनिसृष्टा च निरोधा चाञ्जनादिका। महानिरोधा चारायाश्चत्वारो दिक्षु संस्थिताः॥ ६३
निरुद्धातिनिरुद्धा च तृतीया तु विमर्दना । महाविमर्दना चेति तमकायाश्चतुर्दिशम् ॥ ६४
नीला नाम्ना महा नीला पङ्का च मघवीगताः । महापङ्का च बोद्धव्या हिमाह्वस्य चतुर्दिशम् ॥ ६५
उष्ट्रिकाकुस्थली[1] कुम्भीमोदलीमुद्गरैः समाः । मृदङ्गनालिकातुल्या निगोदा अवनित्रये ॥ ६६
गोहस्तिहयबस्तैश्च समा अष्टघटेन च । द्रोण्यम्बरीषैश्च समा च[श्च]तुर्थी-पञ्चमीगताः ॥ ६७
झल्लरीमल्लकसमाः किलिञ्जप्रच्छिखोपमा[2]: । केदारमसुराकारा निगोदा अन्त्ययोरपि ॥ ६८
श्वशृगालवृकव्याघ्रद्वीपिकोकर्क्षगर्दभैः । गोव्यजोष्ट्रैश्च सदृशा निगोदा जन्मभूमयः ॥ ६९
एकं द्वे त्रीणि विस्तीर्णा गव्यूतिर्योजनान्यपि । शतयोजनविस्तारा उत्कृष्टास्तेषु वर्णिताः ॥ ७०

ज क्रो ५ । म १० । १५ ।

उच्छ्रिताः पञ्चगुणितं विस्तारं च पृथग्विधाः । सप्तत्रिद्व्येककोणाश्च पञ्चकोणाश्च भाषिताः ॥ ७१
त्रिद्वाराश्च त्रिकोणाश्च ऐन्द्रका इतरेषु तु । सप्तत्रिपञ्चद्व्येकानि द्वारि[3] कोणांश्च निर्दिशेत् ॥ ७२

दिशाओंमें स्थित हैं ॥ ६२ ॥ निसृष्टा, अतिनिसृष्टा, निरोधा और महानिरोधा ये चार श्रेणी-वद्ध विल अंजना पृथिवीके प्रथम आरा इन्द्रक बिलकी चार-दिशाओंमें स्थित हैं॥ ६३॥ निरुद्धा अतिनिरुद्धा, तृतीय विमर्दना और चतुर्थ महाविमर्दना ये चार श्रेणीवद्ध बिल तमका (पांचवीं पृथिवीका प्रथम इन्द्रक) की चारों दिशाओंमें स्थित है ॥ ६४॥ नीला, महानीला, पंका और महापंका नामके चार श्रेणीवद्ध बिल मघवी पृथिवीके हिम नामक प्रथम इन्द्रककी चारों दिशाओंमें स्थित जानने चाहिये ॥ ६५ ॥ [काल, महाकाल, रौरव और महारौरव ये चार श्रेणीबद्ध बिल माघवी पृथिवीके अवधिष्ठान इन्द्रक बिलकी चार दिशाओंमें स्थित है ।]

घर्मा आदिक प्रथम तीन पृथिवियोंमें स्थित जन्मभूमियां उष्ट्रिका, कुस्थली, कुम्भी, मोदली और मुद्गरके समान तथा मृदंगनालिकाके समान आकारवाली हैं ॥ ६६ ॥ चौथी और पांचवीं पृथिवीमें स्थित वे जन्मभूमियां गाय, हाथी, घोड़ा, बस्त (भस्त्रा), अष्टघट (?), द्रोणी और अम्बरीषके समान आकारवाली हैं ॥ ६७ ॥ अन्तिम दो पृथिवियोंमें स्थित जन्मभूमियां झल्लरी, मल्लक, किलिंज, प्रच्छिख (पत्थी), केदार और मसूरके समान आकारवाली तथा कुत्ता, शृगाल, वृक, व्याघ्र, द्वीपी, कोक, ऋक्ष, गर्दभ, गौ, अज और उष्ट्रके सदृश आकारवाली हैं ॥ ६८-६९॥ इन जन्मभूमियोंका विस्तार एक, दो और तीन कोस तथा इतने योजनों प्रमाण भी है। उनमें उत्कृष्ट जन्मभूमियां सौ योजन विस्तृत कही गई हैं– जघन्य जन्मभूमि ५ कोस और मध्यम १०-१५ कोस विस्तृत हैं (?) ॥ ७० ॥ उनकी ऊंचाई अपने विस्तारकी अपेक्षा पांच गुणी है । ये जन्मभूमियां सात, तीन, दो, एक और पांच कोनोंवाली कही गई हैं ॥७१॥ इन्द्रक बिल सम्बन्धी वे जन्मभूमियां तीन द्वार व तीन कोनोंवाली कही गई हैं । किन्तु श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलोंमें उनको सात, तीन, पांच, दो, और एक द्वारों तथा इतने ही कोनोंवाली कहना चाहिये॥७२॥

---

१ आ प कुत्थली । २ प प्रच्छिरषोपमाः । ३ ब °त्रिद्व्येकपंचानि द्वारि ।

खररूक्षघनस्पर्शा दुर्गन्धा भीमरूपकाः । नित्यान्धकारा अशुभा वज्रकुड्यतलाश्च ते ॥ ७३
बहिरस्त्रिकुसंस्थाना अन्तर्वृत्ता दुरीक्षणाः[1] । निगोदाः परमानिष्टाः कष्टाः पापिजनाश्रयाः ॥ ७४
श्वाश्वशूकरमार्जारनृखरोष्ट्राहिहस्तिनाम् । कुथितानां समस्तानां गन्धादधिकगन्धिनः ॥ ७५
कच्छुरीकरपत्राश्मश्वदंष्ट्रापुञ्जतोऽधिकम् । निगोदानां च तज्जानां स्पृश्यत्वमशुभं सदा ॥ ७६
संख्येयविस्तृतानां तु निगोदानां यदन्तरम् । षड्गोरुतं भवेद् ध्रस्वं महत्तद्द्विगुणं मतम् ॥ ७७
६ । १२ ।
असंख्यविस्तृतानां च सहस्राणि च सप्त च । योजनान्यतरं ह्रस्वमसंख्यानि बृहद्भवेत् ॥ ७८
सप्त दण्डानि रत्नींस्त्रीनुच्छ्रिताः[तास्ते]षडङ्गुलान् । नारकाः प्रथमायां ये शेषासु द्विगुणाः क्रमात् ॥
दं ७ ह ३ अं ६ । दं १५ ह २ । अं १२ । दं ३१ ह १ । दं ६२ ह २ । दं १२५ । दं २५० । दं ५०० ।
एकस्त्रयश्च सप्त स्युर्दश सप्तदशैव च । द्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरास्तेषु जीवितम् ॥ ८०
दशवर्षसहस्राणि प्रथमायां जघन्यकम् । समयेनाधिकं[2] पूर्वं वरं परजघन्यकम् ॥ ८१

वे अशुभ जन्मभूमियां तीक्ष्ण, रूक्ष एवं घन स्पर्शसे सहित; दुर्गन्धसंयुक्त, भयानक रूपवाली और शाश्वतिक अन्धकारसे व्याप्त हैं । उनकी भीतें और तलभाग वज्रमय हैं ॥ ७३ ॥ दुर्दर्शनीय उन जन्मभूमियोंका आकार वाह्यमें करोंत जैसा तथा अभ्यन्तर भागमें गोल है । पापी जनोंको आश्रय देनेवाली वे भूमियां अतिशय अनिष्ट और कष्टदायक हैं ॥ ७४ ॥ उपर्युक्त जन्मभूमियां कुत्ता, घोड़ा, शूकर, बिलाव, मनुष्य, गर्दभ, ऊंट, सर्प और हाथी इन सबके सड़े-गले शरीरोंकी दुर्गन्धकी अपेक्षा भी अधिक दुर्गन्धसे संयुक्त हैं ॥ ७५ ॥ उन जन्मभूमियोंका तथा उनमें उत्पन्न नारकियोंका स्पर्श सदा कच्छुरी (कपिकच्छ), करपत्र (करोंत), पत्थर और कुत्तेकी दाढ़ोंके समूहसे भी अधिक अशुभ होता है ॥ ७६ ॥

संख्यात योजन विस्तारवाले बिलोंके मध्यमें जो तिरछा अन्तर है वह जघन्यसे छह (६) गव्यूति और उत्कर्षतः इससे दूना (१२ गव्यूति) माना गया है ॥ ७७ ॥ असंख्यात योजन विस्तारवाले विलोंका जघन्य अन्तर सात हजार (७०००) और उत्कृष्ट असंख्यात योजन मात्र है ॥ ७८ ॥

प्रथम पृथिवीमें जो नारकी हैं वे सात धनुष, तीन रत्नि और छह अंगुल ऊंचे हैं । शेष दूसरी आदि पृथिवियोंमें वे उत्तरोत्तर क्रमसे इससे दुगुणे दुगुणे ऊंचे हैं– प्रथम नरकमें ७ धनुप ३ हाथ ६ अंगुल, द्वितीयमें १५ धनुष २ हाथ १२ अंगुल, तृतीयमें ३१ धनुष १ हाथ, चतुर्थमें ६२ धनुप २ हाथ, पंचममें १२५ धनुष, छठेमें २५० धनुष, सातवेंमें ५०० धनुष ॥ ७९ ॥

उन नरकोंमें क्रमशः एक, तीन, सात, दस, सत्तरह, वाईस और तेतीस सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट आयु होती है ॥ ८० ॥ जघन्य आयु प्रथम नरकमें दस हजार (१००००) वर्ष प्रमाण है । आगे द्वितीय आदि नरकोंमें पूर्व पूर्व नरकोंकी एक समयसे अधिक उत्कृष्ट आयुको जघन्य समझना चाहिये (जैसे – पहले नरकमें उत्कृष्ट आयु १ सागरोपम प्रमाण है, वही एक समयसे अधिक होकर दूसरे नरकमें जघन्य है, दूसरेमें जो ३ सागरोपम उत्कृष्ट आयु है वह एक समयसे अधिक होकर तीसरेमें जघन्य है, इत्यादि) ॥ ८१ ॥ कहा भी है —

१ आ प धुरीक्षणाः । २ आ प समयेसाधिकं ।

उक्तं च [त्रि सा. १९८-२००]–

पढमिदे दसणउदीवाससहस्साउगं जहण्णिदरं[1]। तो णउदिलक्खजेट्ठं असंखपुव्वाण कोडी य ॥ १०

१०००० । ९०००० । ९०००००० ।

सायरदसमं तुरिये $\frac{१}{१०}$ सगसगचरिमिंदयम्मि इगि १ तिण्णि ३ ।

सत्त ७ दसं १० सत्तरसं १७ उवही बावीस २२ तेत्तीसं ३३ ॥ ११ ॥

आदीअंतविसेसे रूऊणद्धाहिदम्मि हाणिचयं । उवरिमजेट्ठं[2] समयेणहियं हेट्ठिमजहण्णं तु ॥ १२

सा $\frac{१}{१०}$ । $\frac{२}{११}$ । $\frac{४}{९}$ । $\frac{३}{७}$ । $\frac{७}{५}$ । $\frac{५}{३}$ । $\frac{११}{१}$ ।

श्वादीनां कोशतोऽत्यर्थं[3] दुर्गन्धाशुचिमृत्तिकाम् । आहारन्त्यचिरेणाल्पां प्रथमाजातनारकाः ॥ ८२

प्रथम इन्द्रक बिलमें जघन्य आयु दस हजार (१००००) वर्ष और उत्कृष्ट नब्बै हजार (९००००) वर्ष प्रमाण है। उसके आगे द्वितीय (नरक) इन्द्रक बिलमें नब्बै लाख (९००००००) वर्ष और तृतीय (रौरुक) इन्द्रक बिलमें असंख्यात पूर्वकोटि प्रमाण उत्कृष्ट आयु है॥ १० ॥ चतुर्थ इन्द्रक बिलमें नारकियोंकी उत्कृष्ट आयु एक सागरोपमके दसवें भाग ($\frac{१}{१०}$) प्रमाण है। प्रथमादिक पृथिवियोंमें अपने अपने अन्तिम इन्द्रक बिलमें यथाक्रमसे एक, तीन, सात, दस, सत्तरह, बाईस और तेतीस सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट आयु है– प्रथम पृथिवीके अन्तिम इन्द्रकमें १ सा., द्वि. पृ. के ३ सा., तृ. पृ. के ७ सा., च. पृ. के १० सा., पं. पृ. के १७ सा., छठी पृ. के २२ सा. और स. पृ. के अन्तिम इन्द्रकमें ३३ सा. है ॥११॥ अन्तमेंसे आदिको घटाकर जो शेष रहे उसमें एक कम अपनी इन्द्रकसंख्याका भाग देनेपर विवक्षित पृथिवीमें उसकी हानि-वृद्धिका प्रमाण होता है। नीचेके इन्द्रकमें उत्कृष्ट आयुका जो प्रमाण है उसमें एक समय मिला देनेसे वह आगेके इन्द्रकमें उत्कृष्ट आयुका प्रमाण होता है ॥ १२ ॥

उदाहरण— प्रथम पृथिवीके चतुर्थ इन्द्रकमें $\frac{१}{१०}$ सा. और उसके अन्तिम (१३वें) इन्द्रकमें १ सा. मात्र उत्कृष्ट आयु है। अत एव उपर्युक्त नियमानुसार यहां हानि-वृद्धिका प्रमाण इतना प्राप्त होता है— $१-\frac{१}{१०}\div ९$ (४ इं. बिलोंमें आयुका प्रमाण ऊपर बतलाया जा चुका है) $\frac{१}{१०}$ हा. वृ.। इसे उत्तरोत्तर मिलाते जानेसे आगे पांचवें आदि इन्द्रक बिलोंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण इस प्रकार प्राप्त होता है— पांचवें इन्द्रमें $\frac{२}{१०}$ सा., छठे इ. $\frac{३}{१०}$ सा., सातवें $\frac{४}{१०}$ सा., आठवें $\frac{५}{१०}$ सा., नौवें $\frac{६}{१०}$ सा., दसवें $\frac{७}{१०}$ सा., ग्यारहवें $\frac{८}{१०}$ सा., बारहवें $\frac{९}{१०}$, तेरहवें इन्द्रकमें $\frac{१०}{१०}=१$ सा.। द्वि. पृथिवीमें ११ इन्द्रक बिल हैं। इनमेंसे उत्कृष्ट आयु प्रथममें $\frac{१३}{११}$ और अन्तिममें $\frac{३३}{११}$ सा. है। अत एव $\frac{३३-१३}{११}\div(११-१)=\frac{२}{११}$ अथवा $\frac{३-१}{११}=\frac{२}{११}$; तृ. पृ. में $\frac{७-३}{९}=\frac{४}{९}$; च. पृ. में $\frac{१०-७}{७}=\frac{३}{७}$; पं. पृ. में $\frac{१७-१०}{५}=\frac{७}{५}$; ष. पृ. में $\frac{२२-१७}{३}=\frac{५}{३}$; स. पृ. में $\frac{३३-२२}{१}=\frac{११}{१}$ सा. हानि-वृद्धि।

प्रथम पृथिवीमें उत्पन्न हुए नारकी कुत्ते आदिके सड़े-गले शरीरकी अपेक्षा भी अत्यन्त

---

१ आ प जहंणिधरं । २ प उवरिं° । ३ आ प कोथतो° ।

प्रथमाहारतोऽसंख्यागुणिताशुभ[1] उत्तरः । द्वितीयादिषु विज्ञेयः आहारोऽवनिषु क्रमात् ॥ ८३
गव्यूत्यभ्यन्तरे जन्तून् गन्धेनाद्यस्तु मारयेत् । आहारो गोरुतार्धार्धेनाधिकः प्रतरः क्रमात् ॥ ८४
१ । $\frac{३}{२}$ । २ । $\frac{५}{२}$ । ३ । $\frac{७}{२}$ । ४ । $\frac{९}{२}$ । ५ । $\frac{११}{२}$ । ६ । $\frac{१३}{२}$ । ७ । $\frac{१५}{२}$ । ८ । $\frac{१७}{२}$ । ९ । $\frac{१९}{२}$ । १० । $\frac{२१}{२}$ । ११ । $\frac{२३}{२}$ । १२ । $\frac{२५}{२}$ । १३ । $\frac{२७}{२}$ । १४ । $\frac{२९}{२}$ । १५ । $\frac{३१}{२}$ । १६ $\frac{३३}{२}$ । १७ । $\frac{३५}{२}$ । १८ । $\frac{३७}{२}$ । १९ । $\frac{३९}{२}$ । २० $\frac{४१}{२}$ । २१ । $\frac{४३}{२}$ । २२ । $\frac{४५}{२}$ । २३ । $\frac{४७}{२}$ । २४ । $\frac{४९}{२}$ । २५ ।

उक्तं च [त्रि. सा . १९३]—

पढमासणमिह खित्तं [2]कोसद्धं गन्धदो विमारेदि । कोसद्धद्धहियधराठियजीवे पत्थरक्कमदो ॥

क्रो. $\frac{१}{२}$ । १ । $\frac{३}{२}$ । इत्यादि ।

अवधेर्विषयः सर्वः प्रथमायां तु योजनम् । गव्यूत्यर्धार्धहानिः स्यात् [3]सप्तम्यामेकगोरुतम् ॥८५

क्रो. ४ । $\frac{७}{२}$ । ३ । $\frac{५}{२}$ । २ । $\frac{३}{२}$ । १ ।

दुर्गन्धयुक्त, अपवित्र मिट्टीको अल्प मात्रामें जल्दी ही खाते हैं ॥ ८२ ॥ प्रथम पृथिवीके आहारकी अपेक्षा असंख्यातगुणा अशुभ आहार क्रमसे द्वितीय आदि पृथिवियोंमें जानना चाहिये ॥ ८३ ॥ प्रथम पृथिवी सम्बन्धी प्रथम पटलका आहार अपने गन्धके द्वारा एक कोसके भीतर स्थित मनुष्यलोकके जन्तुओंको मार सकता है । आगे वह पटल क्रमसे उत्तरोत्तर आध आध कोस अधिक मनुष्यक्षेत्रके भीतरके प्राणियोंका संहार कर सकता है ॥ ८४ ॥ यथा—

सीमन्तक १ कोस, निरय $१\frac{१}{२}$ को, रौरव २ को., भ्रान्त $२\frac{१}{२}$ को., उद्भ्रान्त ३ को., सम्भ्रान्त $३\frac{१}{२}$ को., असम्भ्रान्त ४ को., विभ्रान्त $४\frac{१}{२}$ को., त्रस्त ५ को., त्रसित $५\frac{१}{२}$ को., वक्रान्त ६, अवक्रान्त $६\frac{१}{२}$ को., विक्रान्त ७ को., ततक $७\frac{१}{२}$ को, तनक ८ को., वनक $८\frac{१}{२}$ को., मनक ९ को., खटा $९\frac{१}{२}$ को., खटिक १० को., जिह्वा $१०\frac{१}{२}$ को., जिह्विक ११ को., लोलिका $११\frac{१}{२}$ को., लोलवत्सा १२ को., स्तनलोला $१२\frac{१}{२}$ को., तप्त १३ को., तपित $१३\frac{१}{२}$ को., तपन १४ को., तापन $१४\frac{१}{२}$ को., निदाघ १५ को., उज्ज्वल $१५\frac{१}{२}$ को., प्रज्वलित १६ को., संज्वलित $१६\frac{१}{२}$ को., संप्रज्वलित १७ को., आरा $१७\frac{१}{२}$ को., मारा १८ को., तारा $१८\frac{१}{२}$ को., चर्चा १९ को., तमकी $१९\frac{१}{२}$ को., घाटा २० को., घट $२०\frac{१}{२}$ को., तमका २१ को., भ्रमका $२१\frac{१}{२}$ को., झषका २२ को., अन्धा $२२\frac{१}{२}$ को., तिमिश्रक २३ को., हिम $२३\frac{१}{२}$ को., वार्दल २४ को., लल्लकी $२४\frac{१}{२}$ को. और अप्रतिष्ठान २५ कोस । कहा भी है—

प्रथम पृथिवीके आहारको यहां मनुष्यलोकमें रखनेपर वह अपने गन्धके द्वारा आध कोसके भीतर स्थित प्राणियोंका संहार कर सकता है । आगे वह पटलक्रमसे आध आध कोस अधिक क्षेत्रमें स्थित जीवोंका विघात कर सकता है ॥ १३ ॥

प्रथम पृथिवीमें अवधिज्ञानका सब विषय एक योजन प्रमाण है । आगे आधे आधे कोसकी हानि होकर सातवीं पृथिवीमें वह एक कोस मात्र रह जाता है ॥ ८५ ॥

---

१ [संख्यगुणिता°] । २ आ प ब कोसद्धे । ३ आ प सप्तम्योमेक ।

पञ्चेन्द्रियास्त्रियोगाश्च कषायैः सकलैर्युताः । नपुंसकाश्च षड्ज्ञाना दर्शनैः सहितास्त्रिभिः ॥ ८६
कुदृक् सासादनो मिश्रोऽसंयतश्च चतुर्गुणाः । त्रिलेश्या भावलेश्याभिर्भव्याभव्याश्च संज्ञिनः ॥ ८७
भूमी द्वे वर्जयित्वान्त्ये पञ्चम्यां नियुतं तथा । द्वयग्रायां नियुताशीत्यां नरकेष्वौष्ण्यवेदना ॥

८२००००० ।

अरिष्टायास्त्रिभागे च भूम्योरपि च शेषयोः । निरयेषूपमातीता अत्युग्रा शीतवेदना ॥ ८९

२००००० । उक्तं च [त्रि. सा. १५२, ति. प. २-३२]--

रयणप्पहपुढवीदो पंचमतिचउत्थओ त्ति अदिउण्हं । पंचमतुरिये छट्ठे सत्तमिये होदि अदिसीदं ॥

८२२५००० । १७५००० ।

मेरुसमलोहपिण्डं सीदं उण्हे विलम्हि पक्खित्तं । ण लहदि तलप्पदेसं विलीयदे मयणखंडं व ॥ १५
घोरं तीव्रं महाकष्टं भीमं भीष्मं भयानकम् । दारुणं विपुलं चोग्रं दुःखमश्नुवते खरम् ॥ ९०

प्रथममें ४ कोस, द्वितीय ३$\frac{1}{2}$ को., तृतीय ३ को., चतुर्थ २$\frac{1}{2}$ को., पंचम २ को., षष्ठ १$\frac{1}{2}$ को., सप्तम १ कोस. ।

चौदह मार्गणाओंके कथनमें नरकगतिमें स्थित नारकी जीव पंचेन्द्रिय, [त्रसकाय], मन वचन व काय स्वरूप तीनों योगोंसे सहित, समस्त कषायोंसे संयुक्त, नपुंसक वेदवाले; मति, श्रुत, अवधि, कुमति, कुश्रुत और विभंग इन छह ज्ञानोंसे तथा चक्षु, अचक्षु और अवधि स्वरूप तीन दर्शनोंसे सहित; मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र एवं असंयतसम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानोंसे युक्त; कृष्णादिक तीन भाव लेश्यायोंसे [तथा एक उत्कृष्ट कृष्ण द्रव्यलेश्यासे] सहित, भव्य व अभव्य तथा संज्ञी होते हैं ॥ ८६-८७ ॥

अन्तिम दो पृथिवियोंको तथा पांचवीं पृथिवीके एक लाख बिलोंको छोड़कर शेष प्रथमादिक पृथिवियोंके ब्यासी लाख (८२०००००) नारक बिलोंमें उष्णताकी वेदना है। अरिष्टा (पांचवीं) पृथिवीके एक त्रिभाग अर्थात् एक लाख बिलोंमें तथा शेष अन्तिम दो पृथिवियोंके नारक बिलोंमें (१०००००+९९९९५+५=२०००००) अतिशय तीक्ष्ण शीतकी वेदना है जो उपमासे अतीत अर्थात् असाधारण है ॥ ८८-८९ ॥ कहा भी है--

रत्नप्रभा पृथिवीसे लेकर पांचवीं पृथिवीके तीन बटे चार भाग ($\frac{300000 \times 3}{4}$= २२५०००) तक अत्यन्त उष्णवेदना है। आगे पांचवीं पृथिवीके शेष एक चतुर्थ भाग ($\frac{1}{4}$) ($\frac{300000 \times 1}{4}$=७५०००) तथा छठी और सातवीं पृथिवीमें अत्यन्त शीतवेदना है ॥ १४ ॥

प्रथम पृथिवीके ३०००००+द्वि. पृ २५०००००+तृ. पृ. १५०००००+ च. पृ. १००००००+पं. पृ. $\frac{300000 \times 3}{4}$=८२२५०००; इतने नारक बिलोंमें उष्णवेदना तथा पं. पृ. $\frac{300000 \times 1}{4}$ +छठी पृ. ९९९९५+सातवीं पृ. ५=१७५०००; इतने बिलोंमें शीत वेदना है।

यदि उष्ण बिलमें मेरुके बराबर लोहेका शीत पिण्ड फेंका जावे तो वह तल प्रदेशको न प्राप्त होकर बीचमें ही मदनखण्ड अर्थात् मैनके खण्डके समान विलीन हो सकता है ॥ १५॥

उन नरकोंमें जीवोंको घोर, तीव्र, महाकष्ट, भीम, भीष्म, भयानक, दारुण, विपुल, उग्र और तीक्ष्ण दुख प्राप्त होता है ॥ ९० ॥

द्वयोः कपोतलेश्यास्तु नीललेश्याश्च तत्परे । नीला एवाञ्जनोत्पन्ना नीलकृष्णाश्च तत्परे ॥ ९१
षठ्यां दुःकृष्णलेश्यास्ते महाकृष्णास्ततः परे । क्रमशोऽशुभवृद्धिः स्यात्तत्र सप्तसु भूमिषु ॥ ९२
सचतुर्भागगव्यूतिस्तिस्रो योजनसप्तकम् । घर्मायामुत्पतन्त्यार्ताः शेषासु द्विगुणाः क्रमात् ॥ ९३

यो. ७ क्रो $\frac{१३}{४}$ । १५ क्रो $\frac{५}{२}$ । ३१ क्रो १ । ६२ क्रो २ । १२५ । २५० । ५०० ।

षट्चतुष्कं मुहूर्तानां सप्ताहं पक्ष एव च । मासो मासौ च चत्वारः षण्मासा जननान्तरम् ॥ ९४

मु. २४ । दि ७ । १५ । मा. १ । २ । ४ । ६ ।

कर्मभूमिमनुष्याश्च तिर्यञ्चः सकलेन्द्रियाः । नरकेषूपपद्यन्ते निर्गतानां च सा गतिः ॥ ९५
असनस्काः प्रसर्पन्तः पक्षिणोऽपि भुजंगमाः । सिंहाः स्त्रियो मनुष्याश्च साप्चरा यान्ति ताः क्रमात् ॥
एकां द्वे खलु तिस्रश्च चतस्रः पञ्च षट् तथा । सप्त च क्रमशो भूमीर्गन्तुमर्हन्ति जन्तवः ॥ ९७
सप्तम्या निर्गतो जन्तुर्यायात्सकृदनन्तरम् । द्विः षष्ठिं पञ्चमीं च त्रिश्चतुर्थीं च चतुस्ततः ॥ ९८
पञ्चकृत्वस्तृतीयां च वंश्यां षट्कृत्व एव च । सप्तकृत्वो विगेदाद्यां प्रथमाया विनिर्गतः ॥ ९९

प्रथम दो पृथिवियोंमें उत्पन्न नारकियोंके कपोत लेश्या, उसके आगे तृतीय पृथिवीमें नील लेश्या, चतुर्थ अंजना पृथिवीमें उत्पन्न नारकियोंके एक नील लेश्या, पांचवींमें नील और कृष्ण, छठीमें दुःकृष्ण लेश्या (मध्यम कृष्णलेश्या) और उसके आगे सातवीं पृथिवीमें उत्पन्न नारकियोंके महाकृष्ण लेश्या होती है । इस प्रकार उन सात पृथिवियोंमें क्रमसे अशुभ लेश्याकी वृद्धि होती गई है ॥ ९१-९२ ॥

घर्मा पृथिवीमें उत्पन्न हुए नारकी जीव पीड़ित होकर जन्मभूमिसे नीचे गिरते हुए सात योजन, तीन कोस और एक कोसके चतुर्थ भाग (५०० धनुप) प्रमाण ऊपर उछलते हैं । शेप पृथिवियोंमें वे क्रमशः इससे दूने दूने ऊपर उछलते हैं ॥ ९३ ॥ उछलन प्रथम पृथिवीमें ७ यो. ३$\frac{१}{४}$ को., द्वि. पृ. १५ यो. २$\frac{१}{२}$ को., तृ. पृ. ३१ यो. १ को., च. पृ. ६२ यो. २ को., पं. पृ. १२५ यो., प. पृ. २५० यो., स. पृ. ५०० यो. ।

छह चतुष्क अर्थात् चौबीस (६×४) मुहूर्त, एक सप्ताह, एक पक्ष, एक मास, दो मास, चार मास और छह मास; इतना क्रमसे उन घर्मा आदि सात पृथिवियोंमें नारकी जीवोंके जन्म-मरणका अन्तर होता है ॥ ९४ ॥

अन्तर— प्रथम पृथिवीमें २४ मुहूर्त, द्वि. पृ. ७ दिन, तृ. पृ. १५ दिन, च. पृ. १ मास, पं. पृ. २ मास, ष. पृ. ४ मास, स. पृ. ६ मास ।

कर्मभूमिके मनुष्य और तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव उन नरकोंमें उत्पन्न होते हैं । तथा उन नरकोंसे निकले हुए नारकी जीवोंकी वही गति भी होती है, अर्थात् उक्त नरकोंसे निकले हुए जीव कर्मभूमिके मनुष्य और तिर्यंच पंचेन्द्रियोंमें ही उत्पन्न होते हैं ॥ ९५ ॥ असंज्ञी, सरीसृप, पक्षी, सर्प, सिंह, स्त्रियां और अप्चरों (जलचरों) अर्थात् मत्स्योंके साथ मनुष्य भी क्रमशः उन पृथिवियोंको प्राप्त होते हैं । असंज्ञी जीव एक मात्र घर्मा पृथिवीमें जानेकी योग्यता रखते हैं । इसी प्रकार सरीसृप दो (प्रथम और द्वितीय), पक्षी तीन, सर्प चार, सिंह पांच, स्त्रियां छह तथा मत्स्य व मनुष्य सातों ही पृथिवियोंमें जानेकी योग्यता रखते हैं ॥ ९६-९७ ॥ सातवीं पृथिवीसे निकला हुआ जीव यदि निरन्तर सातवीं पृथिवीमें जाता है तो वह एक वार ही जाता है । छठी पृथिवीसे निकला जीव यदि फिरसे वहां निरन्तर जाता है तो वह दो वार जाता है । इसी प्रकार पांचवींसे निकला हुआ तीन वार, चौथीसे निकला हुआ चार वार, तीसरीसे निकला हुआ पांच वार, दूसरी वंशा पृथिवीसे निकला हुआ छह वार और पहिलीसे निकला हुआ जीव सात वार उन उन पृथिवियोंमें निरन्तर प्रविष्ट हो सकता है ॥ ९८-९९ ॥

सप्तम्या अप्रतिष्ठानाच्च्युत्वा तं यद्यनन्तरम् । विशेत्पुनः सकृद्यायात् कालादीन् द्विर्धरा अपि ।।
शेषामवनिमेकैकां नरकावासमेव वा । ततश्च्युतस्तथा यायात्प्रत्येकं च त्रिरादि सः ।। १०१

पाठान्तरम् ।

नरकान्निर्गतः कश्चिच्चक्रवर्त्यप्यनन्तरम् । रामः कृष्णोऽथवान्यो वा न भवेदिति निश्चितम् ।।

विशेषार्थ— इसका अभिप्राय यह है कि सातवीं पृथिवीसे निकला हुआ नारकी जीव यदि फिर निरन्तर स्वरूपसे वहां जावे तो वह एक वार ही जावेगा, अधिक वार नहीं । छठी पृथिवीसे निकला हुआ जीव यदि निरन्तर स्वरूपसे छठी पृथिवीमें जाता है तो वह दो वारही वहां जा सकेगा, अधिक नहीं । इसी प्रकार पांचवीं आदि पृथिवियोंसे निकले हुए जीवोंकी भी वहां निरन्तर गति क्रमसे तीन, चार, पांच, छह और सात वार ही हो सकती है— इससे अधिक बार नहीं हो सकती । इस विषयमें तिलोयपण्णत्ती (२, २८६) और त्रिलोकसार (२०५) के रचयिताओंका अभिप्राय इससे भिन्न रहा प्रतीत होता है । उनके अभिप्रायानुसार सातवीं आदि पृथिवियोंसें निकले हुए जीवोंके निरन्तर स्वरूपसे उन उन पृथिवियोंमें जानेका क्रम यथाक्रमसे इस प्रकार है— दो, तीन, चार, पांच, छह सात और आठ । त्रिलोकसारकी टीका (माधवचन्द्र त्रैविद्य देवकृत) में इसका स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया है कि कोई असंज्ञी जीव प्रथम नरकमें जाकर और फिर वहांसे निकलकर संज्ञी हुआ । पुनः मरणको प्राप्त होकर वह असंज्ञी होता हुआ फिरसे प्रथम नरकमें उत्पन्न हुआ । यह एक वार उत्पत्ति हुई । इसी प्रकारसे असंज्ञी जीव निरन्तर स्वरूपसे वहां आठ वार उत्पन्न हो सकता है । चूंकि असंज्ञी जीवका नरकमें जाकर और वहांसे निकल कर असंज्ञी हो फिरसे प्रथम नरकमें जाना शक्य नहीं है, अतएव यहां एक अन्तर (संज्ञी पर्यायका) ग्रहण करना चाहिये । परन्तु सरीसृप आदि जीव नरकमें जाकर और वहांसे निकल कर फिरसे सरीसृप आदि होते हुए निरन्तर स्वरूपसे ही उन उन नरकोंमें जा सकते हैं, अत एव उनके विषयमें एक अन्तर नहीं ग्रहण किया जा सकता है । मत्स्य सातवें नरकमें जाकर और वहांसे निकल कर तिर्यंच हो मरा और फिरसे मत्स्य हुआ । तत्पश्चात् वह मरणको प्राप्त होकर पुनः सातवें नरकमें जाता है । इसी प्रकार मनुष्यकी भी वहां दो वार निरन्तर उत्पत्ति समझना चाहिये ।

पाठान्तर— सातवीं पृथिवीके अप्रतिष्ठान नामक बिलसे निकल कर जीव यदि निरन्तर उसमें प्रविष्ट होता है तो वह एक वार वहां फिरसे जा सकता है । परन्तु इसी पृथिवीके काल आदि (रौरव, महाकाल व महारौरव) बिलोंमें वह दो वार भी जा सकता है । शेष छठी आदि पृथिवियोंमेंसे प्रत्येक पृथिवीमें अथवा बिलोंमें वहांसे च्युत होकर यदि कोई निरन्तर रूपसे फिर वहां उत्पन्न होता है तो वह प्रत्येकमें यथाक्रमसे तीन आदि (चार, पांच, छह, सात व आठ) वार जा सकता है । यह अभिमत तिलोयपण्णत्ती और त्रिलोकसारमें निर्दिष्ट अभिमतसे समानता रखता है ।। १००-१०१ ।।

नरकसे निकल कर कोई भी जीव अनन्तर भवमें चक्रवर्ती, राम (बलदेव), कृष्ण (नारायण) अथवा अन्य (प्रतिनारायण) नहीं हो सकता है; यह निश्चित है ।। १०२ ।।

तिसृभ्यो निर्गतो जीवः कश्चित्तीर्थकरो भवेत् । चतसृभ्यो हि मोक्षार्हः पञ्चभ्यः संयतोऽपि च ॥
संयतासंयतः षष्ठ्याः सप्तम्यास्तु मृतोद्गतः । सम्यक्त्वार्हो भवेत्कश्चित्तिर्यक्ष्वेव्वात्र जायते ॥१०४

उक्तं च [त्रि. सा. २०४]—

णिरयचरो णत्थि हरी वलचक्की तुरियपहुदिणिस्सरिदो ।
तित्थचरमंगसंजद मिस्सतियं णत्थि णियमेण ॥१६

विक्रिया चाशुभा तेषामपृथक्त्वेन भाषिता । आयुधानि शरादीनि अग्न्यादित्वं च कुर्वते ॥ १०५
शङ्कुतोमरकुन्तेष्टिप्रासवास्यसिमुद्गरान् । चक्रक्रकचशूलादीन् स्वाङ्गैरेव विकुर्वते ॥ १०६
अग्निवायुशिलावृक्षक्षारतोयविषादिताम् । गत्वा परस्परं घोरं घातयन्ति सदापि ते ॥ १०७
व्याघ्रगृध्रमहाकङ्कध्वांक्षकोकवृकश्वताम् । विकृत्य विविधैः रूपैर्बाधन्ते च परस्परम् ॥ १०८
वधवन्धनवाधाभिश्छिदताडनतोदनैः[1] । स्फाटनच्छोटनच्छेदक्षोदतक्षणभक्षणैः ॥ १०९
संततैश्चरितैस्तीव्रैरशुभैरिति गर्हितैः । तुष्यन्ति च चिरं ते च गमयन्ति च जीवितम् ॥ ११०
तप्तलोहसमस्पर्शशर्कराक्षुरवालुका । मुर्मुराङ्गारिणी भूमिः सूचीशाद्वलसंचिता[2] ॥ १११

प्रथम तीन पृथिवियोंसे निकला हुआ कोई जीव तीर्थंकर हो सकता है, चार पृथिवियोंसे निकला हुआ जीव मोक्ष जानेके योग्य होता है, पांच पृथिवियोंसे निकला हुआ कोई जीव संयत हो सकता है, छठी पृथिवीसे निकला हुआ जीव संयतासंयत हो सकता है, तथा सातवीं पृथिवीसे मरकर निकला हुआ कोई जीव सम्यक्त्वप्राप्तिके योग्य होता है, परन्तु वह यहां तिर्यचोंमें ही उत्पन्न होता है ॥ १०३-४ ॥ कहा भी है–

पूर्व भवका नारकी जीव नारायण, वलदेव और चक्रवर्ती नहीं होता । चतुर्थ आदि पृथिवियोंसे निकला हुआ जीव क्रमसे तीर्थंकर, चरमशरीरी, संयत और मिश्रत्रय (मिश्र असंयत, सम्यग्दृष्टि, और संयतासंयत) को नियमतः प्राप्त नहीं होता॥ १६॥

उन नारकी जीवोंके अशुभ अपृथक् विक्रिया कही गई है । वे वाण आदि आयुधोंकी तथा अग्नि आदिकी अपनेसे अपृथक् विक्रिया किया करते हैं । वे अपने अंगोंसे ही शंकु, तोमर (वाण), कुन्तेष्टि (भाला की लकड़ी), प्रास (भाला), वासी, तलवार, मुद्गर, चक्र, क्रकच (आरी) और शूल आदिकोंकी विक्रिया करते हैं॥१०५-६॥ वे नारकी सदा ही अग्नि, वायु, शिला, वृक्ष, क्षार जल और विष आदिके स्वरूपको प्राप्त होकर एक दूसरेको भयानक कष्ट पहुंचाते हैं ॥१०७॥ वे व्याघ्र, गिद्ध, महाकंक (पक्षिविशेष), काक, चक्रवाक, भेड़िया और कुत्ता; इन हिंसक जीवोंकी अनेक प्रकारके रूपों द्वारा विक्रिया करके परस्परमें वाधा पहुंचाते हैं ॥ १०८॥ उक्त नारकी जीव वध-वन्धन रूप वाधाओंसे तथा छिद् (छेदन), ताड़न, तोदन, स्फाटन, छोटन, छेद, क्षोद, तक्षण और भक्षण स्वरूप निरन्तर आचरित तीव्र, अशुभ एवं निन्द्य प्रवृत्तियोंके द्वारा सन्तुष्ट होते हैं और चिर काल (कई सागरोपम) तक अपने जीवनको विताते हैं ॥ १०९-११० ॥ मुर्मुर (उपलोंकी अग्नि) के समान अंगारवाली वहांकी भूमि तपे हुए लोहेके समान स्पर्शयुक्त पाषाणों एवं छुराके समान तीक्ष्ण वालुसे संयुक्त तथा सुईके समान नुकीले

---

१ आ प 'भिचिदताडण°'। २ व स्याड्वल°।

वृश्चिकाणां सहस्राणां वेदनादतिदुःसहम् । दुःखमुत्पद्यते तत्र भूमिस्पर्शनमात्रतः ॥ ११२
सज्वाला विस्फुलिङ्गाङ्ग्यः[1] प्रतिमा लोहसंनिभाः । परशुच्छुरिकाबाणाद्यसिपत्रवनानि च ॥
वेतालगिरयो भीमा गुहायन्त्रशतोत्कटाः । कूटशाल्मलयोऽचिन्त्या वैतरण्योऽपि निम्नगाः ॥ ११४
घूकशोणितदुर्गन्धाः कृमिकोटिकुलाकुलाः । ह्रदाश्च परितस्तत्र त्रस्तकातरदुस्तराः ॥ ११५
अग्निभीताः प्रधावन्तो गत्वा वैतरणीं नदीम् । शीतं तोयमिति ज्ञात्वा क्षाराम्भसि पतन्ति ते ॥
क्षारदग्धशरीराश्च मृगवेगोत्थिताः पुनः । असिपत्रवनं यान्ति छायेति कृतबुद्धयः ॥ ११७
शक्तिकुन्तासियष्टीभिः खड्गतोमरपट्टिसैः । छिद्यन्ते कृपणास्तत्र पतद्भिर्वातकम्पितैः ॥ ११८
छिन्नपादभुजस्कन्धाश्छिन्नकर्णोष्ठनासिकाः । छिन्नतालुशिरोदन्ताश्छिन्नाक्षिहृदयोदराः ॥ ११९
असह्यं शीतमुष्णं च पृथिवी चातिदुस्सहा । क्षुधातृषाभयत्रासवेदनाश्चात्र संततः ॥ १२०
लोहाम्भोभरिताः कुम्भ्यः कटाहाः क्वथितोदकाः । चित्राः प्रज्वलिताः शूला भर्जनानि बहूनि च ॥
बहून्येवं प्रकाराणि यातनाकारणानि तु । विक्रियातः स्वभावाच्च प्राणिनां पापकर्मणाम् ॥ १२२

नवीन तृणोंसे व्याप्त है ॥ १११ ॥ वहांकी भूमिके स्पर्श मात्रसे हजारों बिच्छुओंके काटनेकी वेदनासे भी अत्यन्त दुःसह वेदना उत्पन्न होती है ॥ ११२ ॥

वहां चारों ओर ज्वाला एवं विस्फुलिंगोंसे व्याप्त अंगवाली लोहसदृश (या लोह-निर्मित) प्रतिमायें; फरसा, छुरी व बाण आदिके समान तीक्ष्ण पत्तोंवाले असिपत्रवन; सैकड़ों गुफाओं एवं यंत्रोंसे उत्कट ऐसे भयानक वेतालगिरि; अचिन्त्य कूटशाल्मली, वैतरणी नदियां; तथा उलूकोंके खूनसे दुर्गन्धित और करोड़ों कीड़ोंके समूहोंसे व्याप्त ऐसे तालाब हैं जो कातर नारकियोंके लिये दुस्तर हैं ॥ ११३-११५ ॥ अग्निसे भयभीत होकर दौड़ते हुए वे नारकी वैतरणी नदीपर जाते हैं और शीतल जल समझकर उसके खारे जलमें जा गिरते हैं ॥ ११६ ॥ उस खारे जलसे शरीरमें दाहजनित पीड़ाका अनुभव करनेवाले वे नारकी मृगके समान वेगसे उठकर फिर छायाकी अभिलाषासे असिपत्रवनमें प्रविष्ट होते हैं। परन्तु वहां भी वे निकृष्ट नारकी वायुसे कम्पित होकर गिरनेवाले शक्ति, भाला, तलवार, यष्टि, खड्ग, बाण और पट्टिस (शस्त्रविशेष) ; इन आयुधोंके द्वारा छेदे जाते हैं ॥ ११७-१८ ॥ उक्त आयुधोंके द्वारा उन नारकियोंके पैर, भुजायें, कन्धे, कान, ओठ, नाक, तालु, शिर, दांत, आंखें, हृदय और उदर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं ॥ ११९ ॥ नरकोंमें शीत व उष्णकी वेदना असह्य होती है । वहांकी पृथिवी दुःसह दुखको देनेवाली है। नरकोंमें क्षुधा, तृषा और भयके कष्टका वेदन निरन्तर हुआ करता है ॥ १२० ॥ वहांपर लोहजलसे भरी हुई कुम्भियां (घड़े), उबलते हुए जलसे परिपूर्ण कड़ाहे, जलते हुए विचित्र शूल (शस्त्रविशेष) और वहुतसे भाड़ (भट्टियां) ; इस प्रकारके बहुत-से यातनाके कारण उन पापी नारकियोंके लिये स्वभावसे और विक्रियासे भी प्राप्त होते हैं ॥ १२१-२२ ॥

। १ प 'लिंगांढ्यः ।

कुमार्गगतचारित्रा देवाश्चासुरकायिकाः । नारकानतिबाधन्ते तिसृष्वाद्यासु भूमिषु ॥ १२३

मेषकुक्कुटयुद्धाद्यै रमन्तेऽत्र यथा नराः । तथापि[1] ते रतिं यान्ति रागवेगेन पूरिताः ॥ १२४

ईप्सितालाभतो दुःखमनिष्टैश्च समागमात् । अवमानभयाच्चैव जायते सागरोपमम् ॥ १२५

सहस्रशोऽपि छिन्नाङ्गा न म्रियन्ते हि नारकाः । सूतकस्य रसस्येव संहन्यन्ते तनोर्लवाः ॥ १२६

अकालमरणं नैषां समाप्ते पुनरायुषि[2] । विध्वंसन्ते च तत्काया वायुना भ्रलवा इव ॥ १२७

कुचरितचितैः[3] पापैस्तीव्रैरधोगतिपातिताः,
अवशशरणाः शीतोष्णादिक्षुधावधपीडिताः ।
अतिभयरुजः श्राम्यन्त्यार्ताः श्रमैर्वत नारकाः,
श्वगणविषमव्याधाक्रान्ता यथा हरिणीवृषाः ॥ १२८ ॥

इति अधोलोकविभागो नामाष्टमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ८ ॥

वहां प्रथम तीन पृथिवियोंमें कुमार्गगत चारित्रवाले (दुष्ट आचरण करनेवाले) असुर जातिके देव भी उन नारकियोंको अत्यन्त बाधा पहुंचाते हैं । जैसे यहांपर मनुष्य मेषों और मुर्गों आदिको लड़ाकर आनन्दित होते हैं वैसे वे भी रागके वेगसे परिपूर्ण होते हुए उन नारकियोंको परस्परमें लड़ाकर आनन्दको प्राप्त होते हैं ॥ १२३-२४ ॥ उक्त नारकी जीवोंको इष्ट वस्तुओंका लाभ न हो सकनेसे, अनिष्ट वस्तुओंका संयोग होनेसे, तथा अपमान एवं भयके कारण भी समुद्रके समान महान् (अथवा सागरोपम काल तक) दुख होता है ॥ १२५ ॥ नारकी जीव हजारों प्रकारसे छिन्नशरीर होकर भी मरणको प्राप्त नहीं होते । उनके शरीरके टुकड़े पारेके समान बिखर कर फिरसे जुड़ जाते हैं ॥ १२६ ॥ इनका अकालमरण नहीं होता, परन्तु आयुके समाप्त होनेपर उनके शरीर इस प्रकार नष्ट हो जाते जिस प्रकार कि वायुके द्वारा अभ्रकके टुकड़े बिखर कर नष्ट हो जाते हैं॥ १२७॥ दुष्टतापूर्ण आचरणोंसे संचित हुए तीव्र पापोंके द्वारा अधोगतिमें डाले गये, अवश, अशरण, शीत व उष्ण आदिकी बाधाके साथ क्षुधा एवं वधकी पीड़ासे सहित, तथा अतिशय भयरूप रोगसे संयुक्त ऐसे वे नारकी जीव श्रमोंसे पीड़ित होकर इस प्रकार दुखी होते हैं जैसे कि कुत्तोंके समूहके साथ भयानक व्याधसे त्रस्त होकर हरिणी एवं हरिण दुखी होते हैं ॥ १२८ ॥

इस प्रकार अधोलोकविभाग नामका आठवां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

---

१ [तथैव]। २ आ प समाप्तेषु नरायुषि । ३ प चित्तैः ।

[नवमो विभागः]

अनन्तदर्शनज्ञानान् प्राप्तानन्तं भवोदधेः । नत्वा व्यन्तरदेवानां विकल्पोऽत्र प्रवक्ष्यते ॥ १
औपपातिकसंज्ञाश्च अन्ये चाध्युषिता इति । अभियोग्यास्तृतीयाश्च त्रिविधा व्यन्तराः सुराः ॥ २
भवनान्यथ चावासा भवनाख्यपुराणि तु । स्थानानि त्रिविधान्याहुर्व्यन्तराणां समन्ततः ॥ ३
अष्टौ तु किंनराद्यास्तु भवन्त्यावासवासिनः । द्विविधेषु वसन्त्येते भवनेषु पुरेषु च ॥ ४
तिर्यगूर्ध्वाधरे लोके मेरुमात्रप्रमाणके । वसत्यस्त्रिविधास्तत्र व्यन्तराणामवारिताः[1] ॥ ५
वसुंधरायां चित्रायां सन्त्यत्र भवनानि हि । आवासास्तु न विद्यन्ते इति शास्त्रस्य निर्णयः ॥ ६
केषांचिद्भुवनान्येव भवनावासा भवन्ति च । अन्येषामपरेषां च भवनावासपुराणि हि ॥ ७
आवासा वर्णिताः सर्वे प्राकारपरिवारिताः । भावनेष्वसुरांस्त्यक्त्वा केचित्स्युस्त्रिविधालयाः ॥ ८
भवनानां तु सर्वेषां वेदिकाः परितो मताः । क्रोशद्वयोच्चा[2] महतां शतहस्ताः परत्र च ॥ ९
द्वादशापि सहस्राणि द्वे शते च पृथूनि च । महान्त्यल्पानि मानेन त्रिकोशानीति लक्षयेत् ॥ १०
। १२२०० । [३] ।
बाहल्याद्भुवनं वेद्यं शतानि त्रीणि यन्महत् । भवनेषु च सर्वाल्पं त्रिकोशं बहलं मतम् ॥ ११
। ३०० । [३] ।

जो अनन्तदर्शन एवं अनन्तज्ञानसे युक्त होकर संसार-समुद्रके अन्तको प्राप्त हो चुके हैं [ऐसे सिद्धोंको] नमस्कार करके यहां व्यन्तर देवोंके विकल्पको कहते हैं ॥ १ ॥ औपपातिक संज्ञावाले, दूसरे अध्युषित और तीसरे अभियोग्य इस प्रकार व्यन्तर देव तीन प्रकारके हैं ॥ २ ॥ भवन, आवास और भवनपुर ये तीन प्रकारके व्यन्तरोंके स्थान सब ओर कहे गये हैं ॥ ३ ॥ किंनर आदि आठ प्रकारके व्यन्तर देव आवासोंमें निवास करनेवाले हैं, ये भवन और भवनपुर इन दो प्रकारके निवासस्थानोंमें रहते हैं ॥ ४ ॥ मेरुमात्र प्रमाणवाले तिर्यग्लोक, ऊर्ध्व लोक और अधोलोकमें व्यन्तर देवोंकी उपर्युक्त तीन प्रकारकी अवारित (स्वतन्त्र) वसतियां हैं ॥ ५ ॥ यहां चित्रा पृथिवीपर भवन स्थित हैं, किन्तु वहां आवास नहीं हैं; यह शास्त्रका निर्णय है ॥ ६ ॥ उपर्युक्त व्यन्तरोंमेंसे किन्हींके भवन ही हैं, दूसरोंके भवन व आवास दो हैं, तथा इतर व्यन्तरोंके भवन, आवास एवं भवनपुर तीनों ही होते हैं ॥ ७ ॥ सब आवास प्राकारसे परिवेष्टित बतलाये गये हैं। भवनवासी देवोंमें असुरकुमारोंको छोड़कर किन्हींके तीनों प्रकारकी वसतियां हैं ॥ ८ ॥ सब भवनोंके चारों ओर वेदिकायें मानी गई हैं। ये वेदिकायें महाभवनोंकी दो कोस ऊंची तथा अन्य भवनोंकी सौ (१००) हाथ ही ऊंची हैं ॥ ९ ॥ महाभवनोंका विस्तार बारह हजार दो सौ (१२२००) योजन और अल्प भवनोंका विस्तार तीन (३) कोस जानना चाहिये ॥ १० ॥ इन भवनोंमें जो महाभवन है उसका बाहल्य तीन सौ (३००) योजन तथा

१ प मवारितः । २ ब द्वयोश्चा ।

शतयोजनबाहल्यं कूटमुत्कृष्टके मतम् । बहलं कोशमात्रं तु जघन्ये भवने भवेत् ॥ १२
द्वीपेषु सागरस्थेषु भवनाख्यपुराणि तु । [1]हृदपर्वतवृक्षांश्च श्रिताः प्रतिवसन्ति ते ॥ १३
पुराणि वृत्तत्र्यस्राणि[2] चतुरस्राणि कानिचित् । दभ्राणि योजनोरूणि नियुतं तु बृहन्ति च ॥ १४
। १००००० ।
तिर्यग्द्वीपसमुद्रेषु असंख्येयेषु तानि च । रम्याणि बहुरूपाणि नानारत्नमयानि च ॥ १५
उक्तं च चतुष्कं [त्रि. सा. २९८, ति. प. ६-१२, त्रि. सा. २९९-३००]–
जेट्ठावरभवणाणं बारसहस्सं तु सुद्धपणुवीसं। बहलं तिसय तिपादं बहलतिभागुदयकूडं च ॥ १
। १२००० । २५ । ३०० । ३/४ । १०० । १/४ ।
कूडाण उवरिभागे[3] चिट्ठंते जिणवरिंदपासादा। कणयमया रजदमया रयणमया विविहविण्णासा॥
जेट्ठभवणाण परिदो वेदी जोयणदलुच्छिया होदि । अवराणं भवणाणं दंडाणं पण्णवीसुदया ॥ ३
वट्टादीण पुराणं जोयणलक्खं कमेण एक्कं च । [4]आवासाणं विसयाहियबारसहस्स य तिपादं ॥ ४
। १२२०० । ३/४ ।
पिशाचभूतगन्धर्वाः किंनराः समहोरगाः । रक्षःकिंपुरुषा यक्षा निकाया व्यन्तरेष्विमे ॥ १६
कूष्माण्डा राक्षसा यक्षाः संमोहास्तारकास्तथा । चौक्षाः कालमहाकाला अचौक्षाश्च सतालकाः ॥

सबसे छोटे भवनका बाहल्य तीन (३) कोस माना गया है ॥ ११ ॥ उत्कृष्ट भवनमें एक सौ (१००) योजन बाहल्यवाला तथा जघन्य भवनमें एक कोस मात्र बाहल्यवाला कूट होता है ॥ १२ ॥ समुद्रस्थ द्वीपोंमें भवन नामक पुर (भवनपुर ?) होते हैं । वे (आवास ?) तालाब, पर्वत और वृक्षोंके आश्रित होकर रहते हैं ॥ १३ ॥ पुरोंमेंसे कितने ही गोल, त्रिकोण तथा चतुष्कोण भी होते हैं । इनमें क्षुद्र पुर एक योजन उरु (विस्तीर्ण) तथा महापुर एक लाख (१०००००) योजन उरु होते हैं ॥ १४॥ तिरछे असंख्यात द्वीप-समुद्रोंमें स्थित वे पुर रमणीय, बहुत आकारवाले और नाना रत्नमय हैं ॥ १५ ॥ यहां चार गाथायें भी कही गई हैं—

उत्कृष्ट और जघन्य भवनोंका विस्तार क्रमशः बारह हजार (१२०००) और शुद्ध (केवल) पच्चीस (२५) योजन मात्र है । बाहल्य उनका तीन सौ (३००) योजन और पौन (३/४) योजन होता है । उनके मध्यमें बाहल्यके तृतीय भाग (१०० यो, १/४ यो.) प्रमाण ऊंचा कूट अवस्थित होता है ॥ १ ॥ कूटोंके उपरिम भागमें अनेक प्रकारकी रचनायुक्त सुवर्णमय, रजतमय और रत्नमय जिनेन्द्रप्रासाद अवस्थित हैं ॥ २ ॥ उत्कृष्ट भवनोंके चारों ओर आधा योजन ऊंची तथा जघन्य भवनोंके चारों ओर पच्चीस धनुष ऊंची वेदिका होती है ॥ ३ ॥ वृत्त आदि पुरोंका [उत्कृष्ट व जघन्य] विस्तार क्रमसे एक लाख (१०००००) योजन और एक(१) योजन मात्र तथा आवासोंका वह विस्तार क्रमसे बारह हजार दो सौ (१२२००) और पौन (३/४)योजन प्रमाण होता है ॥ ४ ॥

पिशाच, भूत, गन्धर्व, किंनर, महोरग, राक्षस, किंपुरुष और यक्ष; ये व्यन्तरोंमें आठ निकाय (भेद) हैं ॥१६॥ कूष्माण्ड, राक्षस, यक्ष, संमोह, तारक, चौक्ष (शुचि), काल, महाकाल,

१ प ब हृद । २ आ व्यश्राणि प त्रयाणि । ३ आ प वउरिभागे । ४ आ प आवासाणं विसयं विसया° ।

देहाश्चान्ये महादेहास्तूष्णीकाः प्रवचनाख्यकाः । चतुर्दशकुला एवं पिशाचव्यन्तराः स्मृताः १८
इन्द्रौ कालमहाकालौ पिशाचानां प्रकीर्तितौ । पल्योपमायुषावेतौ द्वे द्वे देव्यौ च वल्लभे ।। १९
कालस्याग्रमहिष्यौ द्वे कमला कमलप्रभा । महाकालस्य देवस्य उत्पला च सुदर्शना ।। २०
एकैकस्याः परीवाराः सहस्रं खलु योषिताम् । अर्धपल्योपमायुष्काश्चतस्रोऽपि वरस्त्रियः ।।
सुरूपाः प्रतिरूपाश्च तथा भूतोत्तमा परे । प्रतिभूता महाभूताः प्रतिच्छनाश्च नामतः ।। २२
आकाशभूता इत्यन्ये भूतानां सप्तमो गणः । सुरूपः प्रतिरूपश्च तेषामिन्द्रौ मनोहरौ ।। २३
रूपवत्युदिता देवी बहुरूपा च वल्लभा । सुरूपे प्रतिरूपस्य सुसीमासुमुखे प्रिये ।। २४
हाहासंज्ञाश्च गन्धर्वाः हूहूसंज्ञाश्च नारदाः । तुम्बर्वाख्याः कदम्बाश्च वासवाश्च महास्वराः ।। २५
गीतरतीनी[गी]तयशोनामानो भैरवा अपि । इन्द्रौ नीतरतिस्तेषामन्यो नीतयशा[1] इति ।। २६
सरस्वती प्रियाद्यस्य स्वरसेना च नामतः । नन्दनीति द्वितीयस्य देवी च प्रियदर्शना ।। २७
दशधा किंनरा देवा आद्याः किंपुरुषाह्वकाः । द्वितीयाः किंनरा एव तृतीया हृदयंगमाः ।। २८
रूपपालिन इत्यन्ये परे किंनरकिंनराः । अनिन्दिता मनोरम्या अपरे किंनरोत्तमाः ।। २९
रतिप्रिया रतिज्येष्ठा इति भेदा दशोदिताः । इन्द्रः किंपुरुषाख्योऽत्र किंनरश्च प्रकीर्तितः ।। ३०
अवतंसा केतुमत्या वल्लभे प्रथमस्य ते । रतिषेणा द्वितीयस्य देवी चापि रतिप्रिया ।। ३१

अचौक्ष (अशुचि), सतालक, देह, महादेह, तूष्णीक और प्रवचन; ये पिशाच व्यन्तरोंके चौदह (१४) कुल माने गये हैं ।। १७-१८ ।। इन पिशाचोंके काल और महाकाल नामके दो इन्द्र कहे गये हैं। इनकी आयु पल्य प्रमाण होती है । उनमेंसे प्रत्येकके दो दो वल्लभा देवियां हैं– काल इन्द्रकी उन अग्रदेवियोंके नाम कमला और कमलप्रभा तथा महाकालकी अग्रदेवियोंके नाम उत्पला और सुदर्शना हैं। इन अग्रदेवियोंमेंसे प्रत्येकके एक हजार (१०००) प्रमाण परिवार देवियां होती हैं। उन चारों अग्रदेवियोंकी आयु अर्ध पल्योपम प्रमाण जानना चाहिये ।।१९-२१।।

सुरूप, प्रतिरूप, भूतोत्तम, प्रतिभूत, महाभूत, प्रतिच्छन्न और सातवां आकाशभूत; ये सात कुल भूत व्यन्तरोंके हैं। इनके इन्द्रोंके मनोहर नाम सुरूप और प्रतिरूप हैं । उनमें रूपवती और बहुरूपा नामक दो अग्रदेवियां सुरूप इन्द्रके तथा सुसीमा और सुमुखा नामक दो अग्रदेवियां प्रतिरूप इन्द्रके हैं ।। २२-२४ ।।

हाहा, हूहू, नारद, तुम्बरु, कदम्ब, वासव, महास्वर, गीतरति, गीतयश और भैरव; ये दश गन्धर्व व्यन्तरोंके कुल हैं । उनके नीतरति और नीतयश नामक दो इन्द्र होते हैं । इनमें प्रथम इन्द्रके सरस्वती और स्वरसेना नामकी तथा द्वितीय इन्द्रके नन्दनी व प्रियदर्शना नामकी दो दो इन्द्राणियां होती हैं ।। २५-२७ ।।

प्रथम किंपुरुष नामक, द्वितीय किंनर, तृतीय हृदयंगम, चतुर्थ रूपपाली, पंचम किंनर-किंनर, छठा अनिन्दित, सातवां मनोरम्य, आठवां किंनरोत्तम, नौवां रतिप्रिय और दसवां रति-ज्येष्ठ; इस प्रकार ये दस कुल किंनर व्यन्तरोंके कहे गये हैं। इनमें किंपुरुष और किंनर नामके दो इन्द्र निर्दिष्ट किये गये हैं । इनमेंसे प्रथमके अवतंसा और केतुमती तथा द्वितीयके रतिषेणा और रतिप्रिया नामकी दो दो अग्रदेवियां होती हैं ।। २८-३१ ।।

---

१ ब गीत° ।

महोरगा दश ज्ञेयास्तत्राद्या भुजगाह्वकाः[1] । भुजंगशालिसंज्ञाश्च महाकायाश्च नामतः ॥३२
अतिकायाश्चतुर्थास्तु पञ्चमाः स्कन्धशालिनः । मनोहराह्वयाः षष्ठाः स्तनिताशनिजवा अपि ॥
महैशक्राश्च[2] गम्भीरा अन्तिमाः प्रियदर्शनाः । महाकायोऽतिकायश्च तेषामिन्द्रौ प्रकीर्तितौ ॥ ३४
भोगा भोगवती चेति महाकायस्य वल्लभे । पुष्पगन्धातिकायस्य[3] द्वितीया चाप्यनिन्दिता ॥ ३५
सप्तधा राक्षसा भीमा महाभीमाश्च नामतः । विघ्ना विनायका चान्ये ततश्चोदकराक्षसाः ॥ ३६
षष्ठास्तेषां च विज्ञेया नाम्ना राक्षसराक्षसाः । ब्रह्मराक्षसनामानस्तेषामन्त्याश्च सप्तमाः ॥ ३७
इन्द्रौ भीममहाभीमौ राक्षसेषु महाबलौ । पद्मा च वसुमित्रा च भीमस्याग्रस्त्रियौ मते ॥ ३८
महाभीमस्य रत्नाढ्या द्वितीया कनकप्रभा । तथा किंपुरुषा देवा दशधा पुरुषाह्वकाः ॥ ३९
पुरुषोत्तमनामानस्तथा सत्पुरुषाः परे । महापुरुषनामानः पुनश्च पुरुषप्रभाः ॥ ४०
पुरुषा अतिपूर्वाश्च मरवो मरुदेवकाः । मरुप्रभा यशस्वन्तः इति भेदा दशोदिताः ॥४१
तेषु सत्पुरुषश्चेन्द्रो महापुरुष इत्यपि । रोहिणी नवमी देव्यौ ह्रीश्च पुष्पवती तथा ॥ ४२
माणिभद्राश्च[4] पूर्णाश्च शैलभद्रास्ततः परे । सुमनोभद्रभद्रास्ते सुभद्राश्च[5] प्रकीर्तिताः ॥ ४३
सप्तमाः सर्वतोभद्रा यक्षमानुषनामकाः । धनपालरूपयक्षा यक्षोत्तममनोहराः ॥ ४४
एवं द्वादशधा यक्षा माणिपूर्णौ तदीश्वरौ । कुन्दा च बहुपुत्रा च देव्यौ तारा तथोत्तमा ॥ ४५

महोरग व्यन्तर दस प्रकारके जानना चाहिये— उनमें प्रथम भुजग नामक, भुजंगशाली, महाकाय, चतुर्थ अतिकाय, पंचम स्कन्धशाली, छठा मनोहर, स्तनित अशनिजव, महैशक(महेश्वर), गम्भीर और अन्तिम प्रियदर्शन है । उनके महाकाय और अतिकाय नामके दो इन्द्र कहे गये हैं। उनमेंसे महाकाय इन्द्रकी भोगा और भोगवती तथा अतिकाय इन्द्रकी पुष्पगन्धा और अनिन्दिता नामकी दो दो अग्रदेवियां हैं ॥ ३२-३५ ॥

भीम, महाभीम, विघ्न, विनायक, उदकराक्षस, छठा नामसे राक्षसराक्षस और अन्तिम सातवां ब्रह्मराक्षस नामक; इस प्रकार ये सात कुल राक्षस व्यन्तरोंके जानना चाहिये । उन राक्षसोंमें भीम और महाभीम नामके दो बलवान् इन्द्र होते हैं । इनमेंसे भीमके पद्मा और वसुमित्रा तथा महाभीमके रत्नाढ्या और द्वितीय कनकप्रभा नामकी दो दो स्त्रियां (अग्रदेवियां) मानी गई हैं । किंपुरुष व्यन्तर देव दस प्रकारके हैं— पुरुष, पुरुषोत्तम, सत्पुरुष, महापुरुष, पुरुषप्रभ, अतिपुरुष, मरु, मरुदेव, मरुप्रभ और यशस्वान्; इस प्रकार ये उनके दस भेद कहे गये हैं। इनमें सत्पुरुष और महापुरुष नामके दो इन्द्र होते हैं। उनमें प्रथम इन्द्रके रोहिणी और नवमी तथा दूसरे इन्द्रके ह्री और पुष्पवती नामकी दो दो अग्रदेवियां हैं ॥ ३६-४२ ॥

माणिभद्र, पूर्णभद्र, शैलभद्र, सुमनोभद्र, भद्र, सुभद्र, सातवां सर्वतोभद्र, यक्षमानुष, धनपाल, रूपयक्ष, यक्षोत्तम और मनोहर; इस प्रकार यक्ष व्यन्तर देव बारह प्रकारके हैं। इनमें माणिभद्र और पूर्णभद्र नामके दो इन्द्र होते हैं । उनमें प्रथम इन्द्रके कुन्दा और बहुपुत्रा तथा द्वितीयके तारा और उत्तमा नामकी दो दो अग्रदेवियां हैं। इन्द्रोंकी आयु एक पल्योपम प्रमाण

१ आ प भुजगास्मृत्ह्वकाः । २ प महेश्वकाश्च । ३ प °कायश्च । ४ प मणिभद्राश्च । ५ [°स्ते समुद्राश्च] ।

इन्द्राः पल्योपमायुष्का देव्यस्तस्यार्धजीविकाः । एवं सर्वत्र देवीनां परिवारोऽपि पूर्ववत् ॥ ४६
कालाः पिशाचा वर्णेन सुरूपाः सौम्यदर्शनाः । ग्रीवाहस्तैर्विराजन्ते मणिभूषणभासुरैः ४७
श्यामा भूताश्च वर्णेन चारवः प्रियदर्शनाः । आमेचकैर्विराजन्ते चित्रभक्तिविलेपनाः[1] ॥ ४८
गन्धर्वाः कनकाभासाश्चित्रमाल्यविभूषिताः । सुमुखाश्च सुरूपाश्च सर्वेषां चित्तहारिणः ॥ ४९
प्रियङ्गुफलवर्णाश्च किंनरा नयनप्रियाः । सुरूपा सुमुखाश्चैते सुस्वरा हारभूषिताः ॥ ५०
महास्कन्धभुजा भान्ति कालश्यामा महोरगाः । ओजस्विनः स्वरूपाश्च नानालंकारभूषिताः ॥
श्यामावदाता वर्णैश्च राक्षसा भीमदर्शनाः । महाशीर्षाः सरक्तोष्ठा भुजैः कनकभूषितैः ॥ ५२
वदनोरुभुजैर्भान्ति गौरा किंपुरुषा अपि । अतिचारुमुखाश्चैते शुभैर्मकुटमौलिभिः ॥ ५३
श्यामावदाता यक्षाश्च गम्भीराः सौम्यदर्शनाः । मानोन्मानयुता भान्ति रक्तपाणितलक्रमाः ॥ ५४

उक्तं च त्रयम् [त्रि. सा. २५१-५३]

किंणरकिंपुरिसा य महोरगगंधव्वजक्खणामा य । रक्खसभूयपिसाया अट्ठविहा वेंतरा देवा ॥ ५

तथा देवियोंकी उससे आधी (½ पल्योपम) होती है । इस प्रकारसे यह देवियोंकी आयुका क्रम सर्वत्र समझना चाहिये । देवियोंका परिवार भी पूर्वके समान जानना चाहिये ॥ ४३-४६ ॥

इनमें पिशाच व्यन्तर वर्णकी अपेक्षा कृष्णवर्ण होते हुए भी सुन्दर और देखनेमें सौम्य होते हैं । वे मणिमय भूषणोंसे अलंकृत ग्रीवा और हाथोंसे सुशोभित रहते हैं ॥ ४७ ॥ भूत व्यन्तर भी वर्णकी अपेक्षा श्याम होते हुए सुन्दर एवं प्रियदर्शन होते हैं । वे विचित्र भक्तिविलेपनसे संयुक्त होते हुए आमेचकोंसे (मणिमिश्रित वर्णोंसे) विराजमान होते हैं ॥ ४८ ॥ सुवर्णके समान कान्तिमान् होकर विचित्र मालासे विभूषित गन्धर्व व्यन्तर देव सुन्दर मुख एवं उत्तम रूपसे संयुक्त होते हुए सबके चित्तको आकृष्ट करते हैं ॥ ४९ ॥ नेत्रोंको प्रिय लगनेवाले किंनर व्यन्तर देव प्रियंगु फलके समान वर्णवाले होते हैं । ये सुन्दर रूप एवं सुन्दर मुखसे संयुक्त होकर उत्तम स्वर और हारसे विभूषित होते हैं ॥ ५० ॥ महोरग व्यन्तर देव विशाल कन्धों एवं भुजाओंसे संयुक्त, काले या श्यामवर्ण, ओजस्वी, सुन्दर और नाना अलंकारोंसे विभूषित होते हुए शोभायमान होते हैं ॥ ५१ ॥ भयानक दिखनेवाले राक्षस व्यन्तर देव वर्णसे श्याम, निर्मल, विशाल शिरसे संयुक्त तथा लाल ओंठोंसे सहित होते हुए सुवर्णसे विभूषित भुजाओंसे सुशोभित होते हैं ॥ ५२ ॥ गौरवर्ण किंपुरुष व्यन्तर भी मुख, जंघा एवं भुजाओंसे सुशोभित होते हैं । ये अतिशय सुन्दर मुखसे संयुक्त होकर उत्तम मुकुट और मौलिसे अलंकृत होते हैं ॥ ५३ ॥ निर्मल एवं श्याम वर्णवाले यक्ष व्यन्तर देव भी गम्भीर, सौम्यदर्शन, मान व उन्मानसे सहित तथा लाल हथेलियों व पैरोंसे युक्त होते हैं ॥ ५४ ॥ यहां तीन गाथायें कही गई हैं —

किंनर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच इस तरह व्यन्तर देव

---

१ प विलेपनो ।

तेसिं कमसो वण्णा[1] पियंगुफलधवलकालयसियामं । हेमं तिसु वि सियामं किण्हं बहुलेवभूसा य[2]॥
तेसिं असोयचंपयणागा तुंबुरु वडो य कंटतरू । तुलसी कडंवणामा[3] चेत्ततरू होंति हु कमेण ॥ ७
कदम्बस्तु पिशाचानां राक्षसाः कण्टकद्रुमाः । भूतानां तुलसीचैत्यं यक्षाणां च वटो भवेत् ॥ ५५
किंनराणामशोकः स्यात्किंपुरुषेषु च चम्पकः । महोरगाणां नागोऽपि गन्धर्वाणां च तुम्बरुः ॥ ५६
पृथिवीपरिणामास्ते आयागनियुतद्रुमाः[4] । जम्बूमानार्धमानाश्च कीर्तितास्ते प्रमाणतः ॥ ५७
दिव्यरत्नविचित्रं च छत्रत्रितयमेकशः । शुभध्वजपताकास्ते विभान्त्यायागमाश्रिताः ॥ ५८
तोरणानि च चत्वारि नानारत्नमयानि च । आसक्तमाल्यधामानि चैत्यानां हि चतुर्दिशम् ॥ ५९
प्रत्येकं च चतस्रोऽर्चाः[5] सौवर्ण्योऽत्र[6] चतुर्दिशम् । भूमिजानां यथा वृक्षाः तथा वानान्तरद्रुमाः ॥
सामानिकसहस्राणि चत्वार्येषां पृथक् पृथक् । षोडशैव सहस्राणि तनुरक्षसुरा मताः ॥ ६१
४००० । १६००० ।
आसन्नाष्टशतं तेषां सहस्रं मध्यमोदिता । द्वादशैव शतान्येषां परिषद्बाहिरा मता ॥ ६२
८०० । १००० । १२०० ।
नागा अश्वाः पदातिश्च रथा गन्धर्वनर्तिकाः । वृषभाः सप्त चानीकाः सप्तकक्षायुताः पृथक् ॥ ६३
सुज्येष्ठोऽथ सुग्रीवो विमलो मरुदेवकः । श्रीदामो दामपूर्वश्रीर्विशालाक्षो महत्तराः ॥ ६४

आठ प्रकारके होते हैं ॥ ५ ॥ उनका शरीरवर्ण यथाक्रमसे प्रियंगु फल जैसा धवल, काला, श्याम, सुवर्ण जैसा, तीनका श्याम तथा कृष्ण होता है। ये देव बहुतसे लेप और भूषणोंसे विभूषित होते हैं ॥ ६ ॥ उनके क्रमसे अशोक, चम्पक, नाग (नागकेसर), तुंबरु, वट, कण्टतरु, तुलसी और कदम्ब; इन नामोंवाले चैत्यवृक्ष होते हैं ॥ ७ ॥

चैत्यवृक्ष पिशाचोंका कदम्ब, राक्षसोंका कण्टकद्रुम, भूतोंका तुलसी, यक्षोंका वट, किंनरोंका अशोक, किंपुरुषोंका चम्पक, महोरगोंका नाग (नागकेसर) और गन्धर्वोंका तुंबरु होता है ॥ ५५-५६ ॥ आयागपर नियत वे चैत्यवृक्ष पृथिवीके परिणामस्वरूप होते हुए प्रमाणमें जम्बूवृक्षके प्रमाणसे अर्ध प्रमाणवाले कहे गये हैं ॥ ५७ ॥ उनमेंसे प्रत्येकके दिव्य रत्नोंसे विचित्र तीन छत्र होते हैं। आयागके आश्रित वे वृक्ष उत्तम ध्वजा-पताकाओंसे संयुक्त होते हुए शोभायमान होते हैं ॥ ५८ ॥ चैत्यवृक्षोंकी चारों दिशाओंमें मालाओंके तेजसे सहित अनेक रत्नमय चार तोरण होते हैं ॥ ५९ ॥ प्रत्येक वृक्षकी चारों दिशाओंमें चार सुवर्णमय जिनप्रतिमायें स्थित होती हैं। ये वृक्ष जैसे भूमिजों (भवनवासियों) के होते हैं वैसे ही वे व्यन्तरोंके भी होते हैं ॥ ६० ॥

इनके अलग अलग चार हजार (४०००) सामानिक देव तथा सोलह हजार (१६०००) आत्मरक्ष देव होते हैं ॥ ६१ ॥ उनकी अभ्यन्तर परिषद् आठ सौ (८००) देवोंसे संयुक्त, मध्यम एक हजार (१०००) तथा बाह्य परिषद् बारह सौ (१२००) देवोंसे संयुक्त मानी गई है ॥ ६२ ॥ हाथी, घोड़ा, पदाति, रथ, गन्धर्व, नर्तकी और बैल; ये सात अनीक देव हैं। इनमेंसे प्रत्येक सात कक्षाओंसे युक्त होते हैं ॥ ६३ ॥ सुज्येष्ठ, सुग्रीव, विमल, मरुदेव, श्रीदाम, दामश्री और विशालाक्ष; ये सात उक्त अनीक देवोंके महत्तर देव होते हैं ॥ ६४ ॥

---

१ त्रि. सा. वण्णो । २ प भूयास । ३ त्रि. सा. कदंव । ४ [नियतद्रुमाः] । ५ ब चतस्रोर्चः । ६ आ प सौवर्णो ।

विंशतिश्च सहस्राणि अष्टौ चाद्या पृथक् पृथक् । कक्षास्तु द्विगुणास्ताश्च द्वितीयादिषु कीर्तिताः ॥

। २८००० । एकानीकाः । ३५५६००० ।

शून्यत्रिकात्परं द्वे च नवाष्टौ द्विकृतिर्द्विकम् । व्यन्तराणां निकायेषु सर्वानीका उदाहृताः ॥६६

। २४८९२००० ।

काला[1] कालप्रभा चैव कालकान्ता[2] च दक्षिणा । कालावर्ताऽपरा नाम्ना कालमध्येति चोत्तरा ॥६७
काला मध्ये चतस्रोऽन्याः पूर्वाद्याशाचतुष्टये । एवं सर्वेन्द्रसंज्ञाभिः पञ्च स्युर्नगराणि हि ॥ ६८
राजधान्यः पिशाचानां पञ्च प्रोक्तास्तु नामतः । जम्बूद्वीपप्रमाणाश्च चतुर्वनविभूषिताः ॥ ६९
योजनानां सहस्रे द्वे नगरेभ्यो वनानि हि । नियुतायामयुक्तानि[3] तदर्धं विस्तृतानि च ॥ ७०

। १००००० । ५०००० ।

सप्तत्रिंशतमर्धं च प्राकारस्तत्र चोच्छ्रितः । द्वादशार्धं च मूलोरुर्द्वे[4] सार्धे चाग्रविस्तृतः ॥ ७१

। ३७ । $\frac{१}{२}$ । १२ । $\frac{१}{२}$ । $\frac{२}{५}$ ।

इनमेंसे प्रथम कक्षामें पृथक् पृथक् अट्ठाईस हजार (२८०००) देव होते हैं। आगे द्वितीय आदि कक्षाओंमें वे उत्तरोत्तर दूने दूने बतलाये गये हैं ॥ ६५ ॥

विशेषार्थ– जितना गच्छका प्रमाण हो उतने स्थानमें २ का अंक रखकर परस्पर गुणा करनेसे जो प्राप्त हो उसमेंसे एक कम करके शेषमें एक कम गुणकार (२–१=१) का भाग दें। इस प्रकारसे जो लब्ध हो उससे मुखको गुणित करनेपर संकलित घनका प्रमाण प्राप्त होता हैं। तदनुसार यहां गच्छका प्रमाण ७ और मुखका प्रमाण २८००० है। अत एव उक्त नियमके अनुसार यहां सात कक्षाओंका समस्त घन निम्न प्रकारसे प्राप्त होता है – २८०००×[{(२×२×२×२×२×२×२)–१}÷(२–१)]=३५५६०००; एक अनीककी ७ कक्षाओंका प्रमाण। इसे ७ से गुणित करनेपर समस्त सप्तानीकका प्रमाण होता है– ३५५६०००×७=२४८९२०००।

व्यन्तरोंके निकायोंमें सब अनीकोंकी संख्या तीन शून्य, तत्पश्चात् दो, नौ, आठ, दोका वर्ग अर्थात् चार और दो, इन अंकोंके प्रमाण कही गई है– २४८९२००० ॥ ६६ ॥ काला, कालप्रभा, कालकान्ता, कालावर्ता और कालमध्या [ये पांच नगर काल नामक पिशाचेन्द्रके होते हैं।] इनमेंसे काला नगरी मध्यमें तथा अन्य शेष चार नगरियां पूर्वादिक चार दिशाओंमें हैं। इसी प्रकार सब इन्द्रोंके अपने नामोंके अनुसार पांच पांच नगर होते हैं ॥ ६७-६८ ॥ यहां पिशाचोंकी पांच राजधानियोंके नाम निर्दिष्ट किये हैं। इनके विस्तारादिका प्रमाण द्वितीय जम्बूद्वीपमें स्थित व्यन्तरनगरियोंके समान है। उक्त राजधानियां चार वनोंसे सुशोभित हैं ॥ ६९ ॥ ये वन नगरोंसे दो हजार (२०००) योजन जाकर स्थित हैं। वनोंकी लंबाई एक लाख (१०००००) योजन और विस्तार उससे आधा (५०००० यो.) है ॥ ७० ॥ उन नगरियोंका जो प्राकार है वह साढ़े सैंतीस (३७½) योजन ऊंचा है। उसका विस्तार मूलमें साढ़े बारह (१२½) योजन

---

१ प ब काल । २ प कालाकांता । ३ आ प नियुतानामयुक्तानि प नियुतानायुक्त्वानि । ४ आ प द्धे ब र्द्धि

सार्धद्विषष्टिर्द्वारस्य[1] उच्छ्रयोऽर्धा तु रुन्द्रता । पञ्चसप्ततिमुद्विद्धः प्रासादोऽत्र च भाषितः ॥ ७२

६२ । ½ । ३१ । ¼ । ७५ ।

द्वादशार्धं च दीर्घा तु षट् तुर्यं चाथ विस्तृता । योजनानि नवोद्विद्धा सुधर्मा गाधगोरुता[2] ॥ ७३

१२ । ½ । ६ । ¼ । ९ । १ ।

द्वारं योजनविस्तारं द्विगुणोच्छ्रयमिष्यते । एवं मानानि सर्वेषु नगरेषु विभावयेत् ॥ ७४

। १ । २ ।

हरितालाह्वके द्वीपे तथा हिंगुलिकेऽपि च । मनःशिलाह्वाञ्जनयोः सुवर्णे रजतेऽपि च ॥ ७५
वज्रधातौ च वज्रे च इन्द्राणां नगराणि तु । नगराण्यपि शेषाणामनेकद्वीपवार्धिषु ॥ ७६
भवनादित्रयाणां तु जघन्या ते[तै]जसी मता । कृष्णादित्रिकलेश्याश्च तेषां सन्तीति भाषिताः ॥ ७७
अम्वा नाम्ना कराला च सुलसा च सुदर्शना । पिशाचानां निकायेषु गणिकानां महत्तराः ॥ ७८
भूतकान्ता च भूता च भूतदत्ता महाभुजा । एता भूतनिकायेषु गणिकानां महत्तराः ॥ ७९
सुघोषा[3] विमला चैव सुस्वरा चाप्यनिन्दिता । गन्धर्वाणां निकायेषु गणिकानां महत्तराः ॥ ८०
मधुरा मधुरालापा सुस्वरा मृदुभाषिणी । किंनराणां भवन्त्येता गणिकानां महत्तराः ॥ ८१
भोगा भोगवती चैका भुजगा भुजगप्रिया । महोरगनिकायेषु गणिकानां महत्तराः ॥ ८२

तथा अग्रभागमें अढ़ाई (२½) योजन प्रमाण है ॥ ७१ ॥ द्वारकी ऊंचाई साढ़े वासठ (६२½) योजन तथा विस्तार उससे आधा (३१¼) है। यहां पचहत्तर (७५) योजन ऊंचा प्रासाद कहा गया है ॥ ७२ ॥ सुधर्मा सभाकी लंवाई साढ़े वारह (१२½) योजन, विस्तार सवा छह (६¼) योजन, ऊंचाई नौ (९) योजन और अवगाह एक (१) योजन मात्र है ॥ ७३ ॥ उसका द्वार एक (१) योजन विस्तृत और दो (२) योजन ऊंचा है। इसी प्रकारसे उक्त विस्तारादिका प्रमाण सब ही नगरोंमें जानना चाहिये ॥ ७४ ॥ उक्त व्यन्तर इन्द्रोंके नगर हरिताल नामक द्वीपमें, हिंगुलिक द्वीपमें, मनःशिला नामक द्वीपमें, अंजन द्वीपमें, सुवर्णद्वीपमें, रजतद्वीपमें, वज्रधातु द्वीपमें और वज्रद्वीपमें; इस प्रकार इन आठ द्वीपोंमें स्थित हैं। शेष व्यन्तरोंके नगर अनेक द्वीप-समुद्रोंमें स्थित हैं ॥ ७५-७६ ॥

भवनवासी आदि तीन प्रकारके देवोंमें जघन्य तेजोलेश्या मानी गई है। उनके कृष्णादि तीन लेश्यायें भी होती हैं, ऐसा कहा गया है ॥ ७७ ॥

अम्वा, कराला, सुलसा और सुदर्शना ये पिचाच देवोंमें गणिकामहत्तरोंके नाम हैं ॥७८॥ भूतकान्ता, भूता, भूतदत्ता और महाभुजा ये भूतजातिके व्यन्तरोंमें गणिकामहत्तरोंके नाम हैं ॥७९॥ सुघोषा, विमला, सुस्वरा और अनिन्दिता ये गन्धर्व जातिके व्यन्तरोंमें गणिकामहत्तरोंके नाम हैं ॥ ८० ॥ मधुरा, मधुरालापा, सुस्वरा और मृदुभाषिणी ये किंनर जातिके व्यन्तरोंमें गणिकाओंके महत्तर होते हैं ॥ ८१ ॥ भोगा, भोगवती, भुजगा और भुजगप्रिया ये महोरग जातिके

---

१ आ प 'द्विपष्टि°'। २ व गादगो°। ३ आ प 'सुघोपा-' इत्यादिश्लोकत्रयं नास्ति।

शर्वरी सर्वसेना च रुद्रा वै रुद्रदर्शना । राक्षसाणां[1] भवन्त्येता गणिकानां महत्तराः ॥ ८३
पुंस्प्रियाथ च पुंस्कान्ता सौम्या पुरुषदर्शिनी । एताः किंपुरुषाख्यानां गणिकानां महत्तराः ॥ ८४
भद्रा नाम्ना सुभद्रा च मालिनी पद्ममालिनी । एता यक्षनिकायेषु गणिकानां महत्तराः ॥ ८५
योजनानां सहस्राणि अशीतिश्चतुरुत्तरा । विपुलानि पुराण्याहुर्गणिकानामशेषतः[2] ॥ ८६

। ८४००० ।

अष्टास्वपि निकायेषु गणिकानां पुनः स्थितिम् । अर्धपल्योपमां ह्याहुः[3] पौराणिकमहर्षयः ॥ ८७
दश चापोच्छ्रया एते पञ्चाहादथ[4] साधिकात् । आहरन्ति मुहूर्तेभ्यस्तावद्भ्यो निःश्वसन्ति[5] च ॥
ऐशानान्ता सुराः सर्वे सप्तहस्तास्तु जन्मतः । स्वेच्छातो वैक्रियोत्सेधा ज्योतिषः सप्तचापकाः ॥
उन्मार्गस्थाः शबलचरिता ये निधानप्रयाता[6] ये चाकामाद्विषयविरताः[7] पावकाद्यैर्मृताश्च ।
ते देवानां तिसृषु गतिषु प्राप्नुवन्ति प्रसूतिं मन्दाक्रान्ता मलिनमतिभिर्यैः कषायेन्द्रियाश्वाः ॥ ९०

इति लोकविभागे मध्यमलोके व्यन्तरलोकविभागो नाम
नवमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ९ ॥

व्यन्तरोंमें गणिकामहत्तरोंके नाम कहे गये हैं ॥ ८२ ॥ शर्वरी, सर्वसेना, रुद्रा और रुद्रदर्शना ये राक्षस जातिके व्यन्तरोंमें गणिकाओंके महत्तर होते हैं ॥ ८३ ॥ पुंस्प्रिया, पुंस्कान्ता, सौम्या और पुरुषदर्शिनी ये किंपुरुष व्यन्तरोंके गणिकामहत्तरोंके नाम हैं ॥ ८४ ॥ भद्रा, सुभद्रा, मालिनी और पद्ममालिनी ये यक्षजातिके देवोंमें गणिकाओंके महत्तरोंके नाम कहे गये हैं ॥ ८५ ॥ समस्त गणिकाओंके पुर चौरासी हजार (८४०००) योजन विस्तृत कहे जाते हैं ॥ ८६ ॥ पुराणोंके ज्ञाता महर्षि आठों ही व्यन्तरनिकायोंमें गणिकाओंकी स्थिति अर्ध पल्य प्रमाण बतलाते हैं ॥ ८७ ॥ ये व्यन्तर देव दस धनुष ऊंचे होते हैं । वे कुछ अधिक पांच दिनमें आहार करते हैं तथा उतने ही मुहूर्तोंमें निःश्वास लेते हैं ॥ ८८ ॥ ऐशान कल्प तकके सब देव जन्मसे सात हाथ ऊंचे होते हैं । परन्तु विक्रियासे निर्मित शरीर उनकी इच्छाके अनुसार ऊंचे होते हैं । ज्योतिषी देव सात धनुष प्रमाण ऊंचे होते हैं ॥ ८९ ॥

जो कुमार्गमें स्थित हैं, दूषित आचरण करनेवाले हैं, निधानको प्राप्त हैं– सम्पत्तिमें मुग्ध रहते हैं, विना इच्छाके विषयोंसे विरक्त हैं अर्थात् अकाम निर्जरा करनेवाले हैं तथा जो अग्नि आदिके द्वारा मरणको प्राप्त हुए हैं; ऐसे प्राणी देवोंकी तीन गतियों (भवनत्रिक) में जन्मको प्राप्त होते हैं । जिन मलिनबुद्धि प्राणियोंने कषाय एवं इन्द्रियरूप घोड़ोंके आक्रमणको मन्द कर दिया है ऐसे प्राणी भी इन देवोंमें उत्पन्न होते हैं [यहां ' मन्द्राक्रान्ता ' पदसे छन्दका नाम भी सूचित कर दिया गया है] ॥ ९० ॥

इस प्रकार लोकविभागमें मध्यम लोकमें व्यन्तरलोकविभाग नामक नौवां प्रकरण
समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

---

१ प राक्षसानां । २ ब °गंणिनाम° । ३ ब चाहुः । ४ ब °दश । ५ आ ब निश्वसन्ति । ६ ब निदान° । ७ प चाकामद्विषय° ।

[दशमो विभागः]

वर्धमानं महावीरं मूर्ध्ना[1] नत्वा कृताञ्जलिः । क्रमवृद्धोर्ध्वशाखाढ्य[2] मूर्ध्वलोकमितो ब्रुवे ॥१
ऊर्ध्वं भावनदेवेभ्यो देवा वानान्तरा स्थिताः । नीचोपपातिकास्तेभ्यस्तेभ्यो दिग्वासिनः सुराः ॥२
ततश्चान्तरवासाख्या वसन्तोऽपि निरन्तरम् । कूष्माण्डाश्च परं तेभ्यस्तत उत्पन्नकाः सुराः ॥३
अनुत्पन्नकप्रमानस्तत ऊर्ध्वं प्रमाणकाः । गन्धिकाश्च महागन्धा भुजगाः प्रीतिका अपि ॥४
आकाशोत्पन्नका नाम्ना ततो ज्योतिषिका अपि । कल्पोद्भवाः परे तेभ्यस्तेभ्यो वैमानिकाः परे ॥५
आद्या ग्रैवेयकास्तेष्वनुदिशानुत्तराः सुराः । द्वितीया तत ऊर्ध्वास्ते सिद्धा ऊर्ध्वं ततः स्थिताः ॥६
हस्तमात्रं भुवो गत्वा देवा नीचोपपातिकाः । दशवर्षसहस्राणि जीवन्तस्तत्र[3] भाषिताः ॥७

। १ । १०००० ।

दशहस्तसहस्राणि तेभ्य ऊर्ध्वमतीत्य च । विंशत्यब्दसहस्राणि जीवन्त्यो नीचदेवताः ॥८

। २०००० ।

दशहस्तसहस्राणि तेभ्यो ह्यूर्ध्वमतीत्य च । त्रिंशदब्दसहस्राणि जीवन्त्यो नीचदेवताः ॥९

। ३०००० ।

दशहस्तसहस्राणि तेभ्य ऊर्ध्वमतीत्य च । चत्वारिंशत्सहस्राणि जीवन्त्यो नीचदेवताः ॥१०

। १०००० । ४०००० ।

मैं हाथ जोड़कर श्रीवर्धमान महावीर अन्तिम तीर्थकरको शिरसे नमस्कार करता हुआ यहां क्रमसे वृद्धिगत उपरिम शाखाओंसे (?) व्याप्त ऊर्ध्व लोकका वर्णन करता हूं ॥१॥ भवनवासी देवोंसे ऊपर वानव्यन्तर देव, उनसे ऊपर नीचोपपातिक देव, और उनसे ऊपर दिग्वासी देव स्थित हैं । उनके ऊपर निरन्तर अन्तरवासी देव निवास करते हैं, उनसे ऊपर कूष्माण्ड देव, उनसे ऊपर उत्पन्नक देव, उनसे ऊपर अनुत्पन्नक नामक देव, उनसे ऊपर प्रमाणक देव, उनसे ऊपर गन्धिक देव, उनसे ऊपर महागन्ध, उनसे ऊपर भुजग, उनसे ऊपर प्रीतिक, उनसे ऊपर आकाशोत्पन्नक नामक देव, उनसे ऊपर ज्योतिषी देव, उनसे ऊपर कल्पवासी देव, और उनसे ऊपर वैमानिक देव स्थित हैं ॥ २-५ ॥ वैमानिकों (कल्पातीतों) में प्रथम ग्रैवेयक देव और दूसरे अनुदिश एवं अनुत्तर देव हैं जो उनके ऊपर स्थित हैं। उनके ऊपर वे सिद्ध परमात्मा स्थित हैं॥६॥

[चित्रा] पृथिवीसे एक हाथ ऊपर जाकर नीचोपपातिक देव स्थित हैं । उनकी आयु दस हजार वर्ष प्रमाण कही गई है– ऊंचाई १ हाथ, आयु १०००० वर्ष ॥७॥ उनके ऊपर दस हजार हाथ जाकर वीस हजार वर्ष प्रमाण आयुवाले नीच देव (दिग्वासी) रहते हैं – आयु २०००० वर्ष ॥ ८ ॥ उनके ऊपर दस हजार हाथ जाकर तीस हजार वर्ष तक जीवित रहनेवाले नीच देव (अन्तर निवासी) रहते हैं– आयु ३०००० वर्ष ॥ ९ ॥ उनके ऊपर दस हजार हाथ जाकर चालीस हजार वर्ष तक जीवित रहनेवाले नीच देव (कुष्माण्ड) स्थित हैं– ऊपर हाथ

---

१ ब मूर्धा । २ ब साख्याढ्य° । ३ प जीवंस्तत्र ।

विंशतिं तु सहस्राणां हस्तांस्तेभ्यो व्यतीत्य च । पञ्चाशतं सहस्राणि जीवन्त्यन्यास्तु[1] देवताः ॥११

। २०००० । ५०००० ।

[2]तावत्तावद् व्यतीत्यान्याः[3] षष्टिसप्तत्यशीति च । चतुरशीतिं सहस्राणि जीवन्त्यः सन्ति देवताः ॥

। ६०००० । ७०००० । [८०००० ।] ८४००० ।

पल्याष्टमायुषस्ताभ्यः पल्यपादायुषस्ततः । पल्योपमदलायुष्कास्ताभ्य[4]ऊर्ध्वमतीत्य च ॥१३

। $\frac{१}{८}$ । $\frac{१}{४}$ । $\frac{१}{२}$ ।

ज्योतिर्देवाः परे तेभ्यः पल्यं जीवन्ति साधिकम् । दशवर्षसहस्राग्रं पल्यं जीवन्ति भास्कराः ॥१४

। प १ व १०००० ।

नियुतेनाधिकं[5] पल्यं चन्द्रा जीवन्ति तत्परे । अयमायुःक्रमो[6] वेद्यो देवस्थानक्रमोऽपि च ॥१५

। प १ व १००००० ।

द्विधा वैमानिका देवा कल्पातीताश्च कल्पजाः । कल्पा द्वादश तत्र स्युः कल्पातीतास्ततः परे ॥१६
सौधर्मः प्रथमः कल्प ऐशानश्च ततः परः । सनत्कुमारमाहेन्द्रौ ब्रह्मलोकोऽथ लान्तवः ॥१७
महाशुक्रः सहस्रार आनतः प्राणतोऽपि च । आरणश्चाच्युतश्चेति एते कल्पा उदाहृताः ॥१८

उक्तं च त्रयम् [त्रि. सा. ४५२-५४] —

सोहम्मीसाणसणक्कुमारमाहिंदगा हु कप्पा हु । बम्हब्बम्हुत्तरगो[7] लांतवकापिट्ठगो छट्ठो ॥१

१००००, आयु ४०००० वर्ष ॥ १० ॥ उनसे बीस हजार हाथ ऊपर जाकर पचास हजार वर्ष तक जीवित रहनेवाले अन्य (उत्पन्न) देव स्थित हैं– उपर हाथ २००००, आयु ५००००, वर्ष ॥ ११ ॥ उतने उतने हाथ ऊपर जाकर क्रमसे साठ हजार, सत्तर हजार, अस्सी हजार और चौरासी हजार वर्ष तक जीवित रहनेवाले अन्य (अनुत्पन्न, प्रमाणक, गन्ध, महागन्ध) देव रहते हैं– आयु ६००००, ७००००, ८००००, ८४००० वर्ष ॥१२॥ उनके ऊपर [उतने हाथ] जाकर पल्यके आठवें भाग प्रमाण आयुवाले, पल्यके चतुर्थ भाग प्रमाण आयुवाले और आधा पल्य प्रमाण आयुवाले (भुजग, प्रीतिक और आकाशोत्पन्न) देव स्थित हैं– आयु पल्य $\frac{१}{८}$, पल्य $\frac{१}{४}$, पल्य $\frac{१}{२}$ ॥ १३ ॥

उनके ऊपर ज्योतिषी देव रहते हैं जो कुछ अधिक पल्य प्रमाण काल तक जीवित रहते हैं। सूर्य ज्योतिषी देव दस हजार वर्षसे अधिक एक पल्य प्रमाण काल तक जीवित रहते हैं– आयु १ पल्य और १०००० वर्ष ॥ १४ ॥ उनके ऊपर चन्द्र एक लाख वर्षसे अधिक एक पल्य काल तक जीवित रहते हैं । इस प्रकार यह आयुका क्रम और देवोंके स्थानका क्रम जानना चाहिये – आयु १ पल्य और १००००० वर्ष ॥ १५ ॥

वैमानिक देव दो प्रकारके हैं– कल्पोत्पन्न और कल्पातीत । उनमें कल्प बारह हैं। उनके आगे कल्पातीत हैं ॥ १६ ॥ प्रथम कल्प सौधर्म, तत्पश्चात् दूसरा ऐशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तव, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत; ये बारह कल्प कहे गये हैं ॥ १७-१८ ॥ इस सम्बधमें ये तीन गाथायें भी कही गई हैं—

सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, छठा लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र

---

१ प जीवन्त्यान्यास्तु° । २ प श्लोकस्यास्य पूर्वार्द्धभागो नास्ति । ३ आ व्यतीतान्याः । ४ प °युष्कस्ताभ्य । ५ ब °नादिकं । ६ ब क्रमा । ७ आ प बम्हं बम्हु° ब बम्हां बम्हु° । (त्रि सा बम्हब्बम्हु°) ।

सुक्कमहासुक्कगदो सदरसहस्सारगो दु तत्तो दु। आणदपाणदआरणअच्चुदगा होंति कप्पा हु ॥२
मज्झिमचउजुगलाणं पुव्वावरजुम्मगेसु सेसेसु । सव्वत्थ होंति इंदा इदि बारस[1] होंति कप्पा हु ॥
ग्रैवेयकाणि च त्रीणि अधोमध्योत्तमानि तु । एकैकं च त्रिधा भिन्नमूर्ध्वमध्याधराख्यया ॥१९
अनुदिग्नामकान्यूर्ध्वं ततोऽनुत्तरकाणि च । ऊर्ध्वलोकविभागोऽयमीषत्प्राग्भारकान्तिमः[2] ॥ २०
विमानानां च लक्षाणि चतुरशीतिर्भवन्ति च । सप्तनवतिसहस्राणि त्रयोविंशतिरत्र च ॥२१

। ८४९७०२३ ।

इन्द्रकाणि त्रिषष्टिः स्युरूर्ध्वपङक्त्या स्थितानि च । पटलानां च मध्यानि त्रिषष्टिः पटलान्यतः ॥

। ६३ । ६३ ।

त्रिंशदेकाधिका सप्तचतुर्द्व्येकैकषट्त्रिकम् । त्रिकत्रिकैकैकानि स्युरूर्ध्वलोकेन्द्रकाणि तु ॥२३

। ३१ । ७ । ४ । २ । १ । १ । ६ । ३ । ३ । ३ । १ । १ ।

ऋतुरादीन्द्रकं प्रोक्तं त्रिषष्टिस्तस्य दिक्षु च । श्रेणीबद्धविमानानि एकैकोनानि चोत्तरम् ॥२४

। ६३ ।

उक्तं च त्रयम् [ति. प. ८, ८३-८४,१०९]–

शतार-सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत ये कल्प हैं। इनमें मध्यम चार युगलोंके पूर्व दो युगलोंमें अर्थात् ब्रह्म और लान्तवमें तथा अपर युगलों अर्थात् महाशुक्र और सहस्रारमें एक एक इन्द्र और शेष चार युगलोंमें सर्वत्र एक एक इन्द्र है। इस प्रकार बारह कल्प होते हैं ॥ १-३ ॥

ग्रैवेयक तीन हैं— अधो ग्रैवेयक, मध्यम ग्रैवेयक और उत्तम ग्रैवेयक। इनमेंसे प्रत्येक भी ऊर्ध्व, मध्य और अधरके नामसे तीन प्रकारका है ॥ १९ ॥ इनके ऊपर अनुदिश नामक विमान और उनके भी ऊपर अनुत्तर विमान हैं। अन्तमें ईषत्प्राग्भार पृथिवी है। यह ऊर्ध्व लोकका विभाग है ॥ २० ॥ यहाँ सब विमान चौरासी लाख संतानबैं हजार तेईस हैं – ८४९७०२३ ॥ २१ ॥ पटल तिरेसठ (६३) हैं जो ऊर्ध्व-पंक्तिके क्रमसे स्थित हैं। इन पटलोंके मध्यमें तिरेसठ (६३) इन्द्रक विमान स्थित हैं॥ २२ ॥ एक अधिक तीस अर्थात् इकतीस, सात, चार, दो, एक, एक, छह, तीन, तीन, तीन, एक और एक; इस प्रकार क्रमसे ऊर्ध्व लोकगत उन बारह स्थानोंमें इतने इन्द्रक स्थित हैं— ३१, ७, ४, २, १, १, ६, ३, ३, ३, १, १ ॥ २३ ॥ उनमें जो प्रथम ऋतु इन्द्रक कहा गया है उसकी पूर्वादिक दिशाओंमें तिरेसठ तिरेसठ (६३-६३) श्रेणीबद्ध विमान स्थित हैं। इसके आगे वे उत्तरोत्तर एक एक कम (६२, ६१ आदि) हैं ॥२४॥ इस सम्बन्धमें तीन गाथायें भी कही गई हैं—

---

१ ब बारह। २ प कांतिभिः।

उडुणामे पत्तेक्कं सेढिगदा चउदिसासु बासट्ठी । एक्केक्कूणा सेसे पडिदिसमाइच्चपरियंतं[1] ॥४
उडुणामे सेढिगदा[2] एक्केक्कदिसाए होंति तेसट्ठी। एक्केक्कूणा सेसे जाव य सवत्थसिद्धि त्ति[3] ॥५
सेढीबद्धे सव्वे समवट्टा विविहदिव्वरयणमया । उल्लसिदधयवडाया णिरुवमरूवा विराजंति ॥६
ऋतुश्चन्द्रोऽथ विमलो वल्गुवीरमथारुणम् । नन्दनं नलिनं चैव काञ्चनं रोहितं तथा ॥२५
चञ्चं च मरुतं भूयः ऋद्धीशं च त्रयोदशम् । वैडूर्यं रुचकं चापि रुचिराङ्कं च नामतः ॥२६
स्फटिकं तपनीयं च मेघसभ्रमतः परम् । हारिद्रं पद्मसंज्ञं च लोहिताख्यं सवज्रकम् ॥२७
नन्द्यावर्तविमानं च प्रभाकरमतः परम् । पृष्ठकं[4] गजमित्रे च प्रभा चाद्योऽस्तु कल्पयोः ॥२८
अञ्जनं वनमालं च नागं गरुडमित्यपि । लांगलं बलभद्रं च चक्रं च परयोरपि ॥२९
अरिष्टं देवसमिति ब्रह्मं ब्रह्मोत्तराह्वयम् । ब्रह्मलोके च चत्वारि इन्द्रकाणीति लक्षयेत् ॥३०
नाम्ना तु ब्रह्महृदयं लान्तवं चेति तद्द्वयम्[5] । लान्तवे शुक्रसंज्ञं च महाशुक्रेऽभिधीयते ॥३१
शताराख्यं सहस्रारे आनतं प्राणतं तथा । पुष्पकं शातकारं च आरणं चाच्युतं च षट् ॥३२
आनतादिचतुष्के च ग्रैवेयेषु सुदर्शनम् । अमोघं सुप्रबुद्धं च अधस्ताद्वर्णितं त्रयम् ॥३३
यशोधरं सुभद्रं च सुविशालं च मध्यमे । सुमनः सौमनस्यं च ऊर्ध्वे प्रीतिकरं च तत् ॥३४
अनुदिग्मध्यमादित्यं मध्यं चानुत्तरेष्विति । सर्वार्थसिद्धिसंज्ञं च सर्वान्त्यप्रतरेन्द्रकम् ॥३५

ऋतु नामक इन्द्रक विमानकी चारों दिशाओंमेंसे प्रत्येक दिशामें बासठ श्रेणीबद्ध विमान स्थित हैं। आगे आदित्य इन्द्रक पर्यन्त शेष इन्द्रकोंकी पूर्वादिक दिशाओंमें स्थित वे श्रेणीबद्ध विमान उत्तरोत्तर एक एक कम होते गये हैं ॥४॥ ऋतु इन्द्रक विमानकी एक एक दिशामें तिरेसठ श्रेणीबद्ध विमान हैं। आगे सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त शेष इन्द्रकोंमें वे उत्तरोत्तर एक एक कम हैं [पाठान्तर]॥ ५ ॥ गोल, अनेक प्रकारके दिव्य रत्नोंसे निर्मित और ध्वजा-पताओंसे सुशोभित वे सब श्रेणीबद्ध विमान अनुपम स्वरूपको धारण करते हुए सुशोभित होते हैं ॥ ६ ॥

ऋतु, चन्द्र, विमल, वल्गु, वीर, अरुण नन्दन, नलिन, कांचन, रोहित, चंच, मरुत, तेरहवां ऋद्धीश, वैडूर्य, रुचक, रुचिर, अंक, स्फटिक, तपनीय, मेघ, अभ्र, हारिद्र, पद्म, लोहित, वज्र, नन्द्यावर्त, प्रभाकर, पृष्ठक, गज, मित्र और प्रभा ये इकतीस इन्द्रक प्रथम दो कल्पों (सौधर्म-ऐशान) में अवस्थित हैं ॥ २५-२८ ॥ अंजन, वनमाल, नाग, गरुड, लांगल, बलभद्र और चक्र ये सात इन्द्रक विमान आगेके दो कल्पों (सनत्कुमार-माहेन्द्र) में अवस्थित हैं ॥२९॥ अरिष्ट, देवसमिति, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर नामक चार इन्द्रक विमान ब्रह्म कल्पमें जानना चाहिये ॥ ३० ॥ ब्रह्महृदय और लान्तव नामक दो इन्द्रक विमान लान्तव कल्पमें हैं। महाशुक्र कल्पमें एक शुक्र नामका विमान कहा जाता है ॥ ३१ ॥ शतार नामका एक इन्द्रक विमान सहस्रार कल्पमें तथा आनत, प्राणत, पुष्पक, शातकार, आरण और अच्युत ये छह इन्द्रक विमान आनत आदि चार कल्पोंमें हैं। ग्रैवेयकोंमें सुदर्शन, अमोघ और सुप्रबुद्ध ये तीन इन्द्रक विमान नीचे; यशोधर, सुभद्र और सुविशाल ये तीन मध्यमें; तथा सुमनस्, सौमनस्य और प्रीतिंकर ये तीन इन्द्रक विमान ऊपर स्थित हैं ॥ ३२-३४ ॥ अनुदिशोंके मध्यमें आदित्य तथा अनुत्तरोंके मध्यमें सर्वार्थसिद्धि नामका सबमें अन्तिम इन्द्रक पटल है ॥ ३५ ॥

---

१ आ प माइंच° । २ ब °गया । ३ ब त्थि । ४ आ प पृष्टकं प षष्टकं । ५ आ प तद्वयं ।

ये च षोडश कल्पांश्च केचिदिच्छन्ति तन्मते । तस्मिंस्तस्मिन् विमानानां परिमाणं वदाम्यहम् ॥
[1]द्वात्रिंशन्नियुतान्याद्ये[2] विमानगणना भवेत् । अष्टाविंशतिरैशाने तृतीये द्वादशापि च ॥३७

। ३२०००००। २८०००००। १२०००००।

माहेन्द्रे नियुतान्यष्टौ षण्णवत्यधिकं द्वयम् । ब्रह्मे ब्रह्मोत्तरे चापि चतुष्कं स्यात्तदूनकम् ॥३८

। ८०००००। २०००९६। १९९९०४।

द्विचत्वारिंशदग्रं च पञ्चविंशतिसहस्रकम् । लान्तवे तैः सहस्राणि पञ्चाशत्तु विना परे ॥३९

। २५०४२। २४९५८।

विंशतिः स्युः सहस्राणि शुक्रे शुद्धा च विंशतिः । चत्वारिंशत्सहस्राणि महाशुक्रे तु तैर्विना ॥४०

। २००२०। १९९८०।

शतारे त्रिसहस्रं स्यादेकोनापि च विंशतिः । एकाशीतिः सहस्रारे शतानां त्रिंशदेकहा ॥४१

। ३०१९। १९८१ [२९८१]।

चत्वारिंशानि चत्वारि शतान्यानतयुग्मके । द्वे शते षष्टिसंयुक्ते[3] आरणाच्युतयुग्मके ॥४२

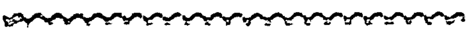
। ४४०। २६०।

चतुःशतानि शुद्धानि आनतप्राणतद्विके । आरणाच्युतयुग्मे च त्रिशतान्यपरे विदुः ॥४३

। ४००। ३००।

एकादशं शतं चाद्ये शतं सप्त च मध्यमे । एकाग्रनवतिश्चोर्ध्वे अनुदिक्षु नवैव च ॥४४

। १११। १०७। ९ (?)। ९१। ९।



जो कितने ही आचार्य सोलह कल्पोंको स्वीकार करते हैं उनके मतानुसार मैं उस उस कल्पमें (प्रत्येक कल्पमें) विमानोंके प्रमाणको कहता हूं ॥ ३६ ॥ उक्त विमानोंकी संख्या प्रथम कल्पमें बत्तीस लाख (३२०००००), ऐशान कल्पमें अट्ठाईस लाख (२८०००००), तृतीय सनत्कुमार कल्पमें बारह लाख (१२०००००), माहेन्द्र कल्पमें आठ लाख (८०००००), ब्रह्म कल्पमें छयानबैसे अधिक दो लाख (२०००९६), ब्रह्मोत्तर कल्पमें उससे (२०००९६) हीन चार लाख (४०००००–२०००९६=१९९९०४), लान्तव कल्पमें व्यालीस अधिक पच्चीस हजार (२५०४२), आगेके कापिष्ठ कल्पमें इनके विना पचास हजार अर्थात् चौबीस हजार नौ सौ अट्ठावन (५००००–२५०४२=२४९५८), शुक्र कल्पमें बीस हजार बीस (२००२०), महाशुक्रमें उनके विना चालीस हजार अर्थात् उन्नीस हजार नौ सौ अस्सी (४००००–२००२० =१९९८०), शतारमें तीन हजार उन्नीस (३०१९), सहस्रारमें एक कम तीस सौ इक्यासी, (२९८१), आनतयुगलमें चार सौ चालीस (४४०), और आरण-अच्युत युगलमें दो सौ साठ (२६०) हैं ॥ ३७-४२ ॥ मतान्तर—

आनत और प्राणत इन दो कल्पोंमें शुद्ध चार सौ (४००) तथा आरण-अच्युत युगलमें शुद्ध तीन सौ (३००) विमान हैं, ऐसा दूसरे आचार्य कहते हैं ॥ ४३ ॥

उक्त विमानोंकी संख्या प्रथम ग्रैवेयकमें एक सौ ग्यारह (१११), मध्यम ग्रैवेयकमें एक सौ सात (१०७), उपरिम ग्रैवेयकमें इक्यानबै (९१), अनुदिशोंमें नौ ही (९) तथा

१ ब द्वात्रिंशा° । २ आ प °युतानाद्ये । ३ आ प षष्ठि° ।

अनुत्तरेषु पञ्चैव विमानगणना इमे । इत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि तेषां संख्येयकादिकम् ॥४५
अर्चिश्च मालिनी चैव वैरं वैरोचनाख्यकम् । सोमं सोमप्रभं चाङ्कं स्फटिकादित्यनामकम् ॥४६
अर्चिर्वैरोचनाख्यं च अर्चिमालिन्यपि क्रमात् । प्रभासापि च पूर्वाद्या आदित्यस्य चतुर्दिशम् ॥ ४७
विजयं वैजयन्तं च जयन्तमपराजितम् । सर्वार्थसिद्धिसंज्ञस्य विमानस्य चतुर्दिशम् ॥४८
चतुःशून्याब्धिषट्कं[1] च आद्ये संख्येयविस्तृताः[2] । विमानाश्च परे शून्यचतुष्कं शून्यषट्ककम्[3] ॥४९
। ६४०००० । ५६०००० ।
चत्वारिंशत्सहस्राणि तृतीये नियुतद्वयम् । षष्टिश्चैव[4] सहस्राणि माहेन्द्रे नियुतं तथा ॥५०
। २४०००० । १६०००० ।
संख्येयविस्तृता ब्रह्मयुग्मेऽशीतिसहस्रकम् । दशैव च सहस्राणि विज्ञेया लान्तवद्वये ॥५१
। ८००० । १०००० ।
शुक्रद्वये सहस्राणि अष्टौ संख्येयविस्तृताः । द्वादशैव शतानि स्युः शतारद्वितये पुनः ॥५२
। ८०००० । १२०० ।
चत्वारिंशं शतं विद्यादानतादिचतुष्टये । चतुर्गुणास्तु संख्येयाः सर्वत्रासंख्यविस्तृताः ॥५३

असंख्यविस्तृतविमानाः । सौ २५६०००० । ऐ २२४०००० । स ९६०००० । मा ६४०००० । ब्रह्मयुग्मे ३२०००० । लान्तवद्वये ४०००० । शुक्रद्वये ३२००० । शतारद्वितये ४८०० । आनतादिचतुष्के ५६० ।

अनुत्तरोंमें पांच (५) ही हैं। इस प्रकार यहां तक यह विमानोंकी संख्या निर्दिष्ट की गई है। इसके आगे उन विमानोंका संख्येय विस्तार आदि कहा जाता है ॥ ४४-४५ ॥ अर्ची, मालिनी (अर्चिमालिनी), वैर, वैरोचन, सोम, सोमप्रभ, अंक, स्फटिक और आदित्य ये नौ अनुदिश विमान हैं ॥ ४६ ॥ इनमें अर्ची, वैरोचन, अर्चिमालिनी और प्रभासा (वैर) ये चार श्रेणीबद्ध विमान आदित्य इन्द्रककी पूर्वादिक चार दिशाओंमें स्थित हैं ॥ ४७ ॥ विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित ये चार विमान सर्वार्थसिद्धि नामक इन्द्रक विमानकी चारों दिशाओंमें स्थित हैं ॥ ४८ ॥

संख्यात योजन विस्तारवाले विमान प्रथम कल्पमें चार शून्य, समुद्र अर्थात् चार और छह (६४००००) इतने अर्थात् छह लाख चालीस हजार तथा आगेके ऐशान कल्पमें चार शून्य, छह और [पांच] (५६००००) इतने अंकों प्रमाण अर्थात् पांच लाख साठ हजार हैं ॥ ४९ ॥ उक्त संख्यात योजन विस्तारवाले विमान तीसरे कल्पमें दो लाख चालीस हजार (२४००००) तथा माहेन्द्र कल्पमें एक लाख साठ हजार (१६००००) हैं ॥ ५० ॥ संख्यात योजन विस्तारवाले विमान ब्रह्मयुगलमें अस्सी हजार (८००००) तथा लान्तवयुगलमें दस हजार (१००००) ही जानने चाहिये ॥ ५१ ॥ संख्यात विस्तारवाले विमान शुक्रयुगलमें आठ हजार (८०००) तथा शतारयुगलमें बारह सौ (१२००) ही हैं ॥ ५२ ॥ वे विमान आनत आदि चार कल्पोंमें एक सौ चालीस (१४०) जानना चाहिये । उपर्युक्त सब कल्पोंमें असंख्यात योजन विस्तारवाले विमान इन संख्यात विस्तारवाले विमानोंसे चौगुने जानने चाहिये— सौधर्म २५६००००, ऐशान २२४००००, सनत्कुमार ९६००००, माहेन्द्र ६४००००, ब्रह्मयुगल ३२००००, लान्तवयुगल ४००००, शुक्रयुगल ३२०००, शतारयुगल ४८००, आनतादि चार

१ ब शून्याब्धि° । २ आ प विस्तृता । ३ [°चतुष्कं षट्कपंचकम्] । ४ आ प षण्ठिश्चैव

कल्पेषु पञ्चमो भागो राशेः संख्येयविस्तृतः । चतुःपञ्चमभागाः स्युरसंख्येयकविस्तृताः ॥५४
शतं चाष्टावसंख्येयास्त्रयः संख्येयविस्तृताः । अगण्या नवतिर्व्येका[1] गण्याश्चाष्टादशोदिताः ॥५५
। १०८ । ८९ । १८ ।
चतुःसप्ततिरूर्ध्वं च असंख्येया उदाहृताः[2] । दश सप्त च संख्येया अष्टौ चासंख्यविस्तृताः ॥५६
। ७४ । १७ । ८ ।
संख्येयमनुदिक्ष्वेकं तथैवानुत्तरेष्वपि । असंख्येयास्तु चत्वार इति सर्वज्ञदर्शनम् ॥५७
। १ । १ ।
शून्याष्टकं त्रिकं चैव नव च स्युः पुनर्नव । षडेकं च क्रमाद् ज्ञेया विमाना गणितागताः ॥५८
। १६९९३८० ।
त्रयश्चत्वारि षट् सप्त नव सप्त षडेव च । असंख्यविस्तृता ज्ञेया विमाना सर्व एव ते ॥५९
। ६७९७६४३ ।
शतमष्टौ सहस्राणि विंशतिः सप्तसंयुता । सर्वाण्यपि विमानानि स्थितान्यावलिकासु वै ॥६०
। ८१२७ ।
चत्वारि च सहस्राणि चत्वार्येव शतानि च । नवतिश्चापि पञ्चाग्रा आदावावलिकास्थिताः ॥६१
। ४४९५ ।

---

५६०. ॥ ५३ ॥ कल्पोंमें अपनी अपनी विमानराशिके पांचवें भाग प्रमाण संख्यात योजन विस्तारवाले तथा चार पांचवें भाग ($\frac{4}{5}$) प्रमाण असंख्यात योजन विस्तारवाले हैं ॥ ५४ ॥

ग्रैवेयकोंमेंसे अधस्तन ग्रैवेयकमें असंख्यात विस्तारवाले विमान एक सौ आठ (१०८) तथा संख्यात विस्तारवाले तीन (३) हैं, मध्यम ग्रैवेयकोंमें एक कम नव्वै (८९) विमान असंख्यात विस्तारवाले तथा अठारह (१८) विमान संख्यात विस्तारवाले हैं, उपरिम ग्रैवेयकमें चौहत्तर (७४) असंख्यात विस्तारवाले तथा सत्तरह (१७) संख्यात विस्तारवाले विमान कहे गये हैं। अनुदिशोंमें आठ(८) असंख्यात विस्तारवाले विमान तथा एक (१) संख्यात विस्तारवाला है। उसी प्रकारसे अनुत्तरोंमें भी संख्यात विस्तारवाला एक (१) तथा असंख्यात विस्तारवाले चार (४) विमान हैं, यह सर्वज्ञके द्वारा देखा गया है ॥ ५५-५७ ॥ सब विमानोंमें अंकक्रमसे शून्य, आठ, तीन, नौ, नौ, छह और एक (१६९९३८०) इतने विमान संख्यात विस्तारवाले तथा तीन, चार, छह सात, नौ, सात और छह (६७९७६४३) इतने विमान असंख्यात विस्तारवाले हैं ॥ ५८-५९ ॥

श्रेणियोंमें स्थित (श्रेणीबद्ध) सब विमान आठ हजार एक सौ सत्ताईस (८१२७) हैं ॥ ६० ॥ प्रथम कल्पमें श्रेणीबद्ध विमान चार हजार चार सौ पंचानवै (४४९५) हैं ॥६१॥

विशेषार्थ––प्रथम कल्पयुगलमें इकतीस इन्द्रक विमान हैं। इनमेंसे प्रथम ऋतु इन्द्रककी चारों दिशाओंमेंसे प्रत्येकमें ६३–६३ श्रेणीबद्ध विमान स्थित हैं। आगे दूसरे व तीसरे आदि इन्द्रकोंमें वे उत्तरोत्तर एक एकसे कम (६२, ६१ आदि) होते गये हैं। इस क्रमसे सौधर्म कल्पमें समस्त (३१) इन्द्रकोंके आश्रित सब श्रेणीबद्ध विमान कितने हैं, यह जाननेके लिये निम्न गणित सूत्रका उपयोग किया जाता है– एक कम गच्छको आधा करके उसे चयसे गुणित

---

१ आ प वेंका । २ प असंख्येय उदा० ।

चतुर्दश शतान्येव अष्टाशीतिश्च तत्परे। षट्शतं षोडशान्यस्मिन् माहेन्द्रे त्र्यधिके शते ॥६२
। १४८८ । ६१६ । २०३ ।
षडशीतिर्द्विशतं ब्रह्मे नवतिश्चतुरुत्तरा। ब्रह्मोत्तरे परस्मिँस्तु पञ्चविंशं शतं भवेत् ॥६३
। २८६ । ९४ । १२५ ।
चत्वारिंशत्पुनः सैका कापित्थे शुक्रनामके। अष्टाग्रा खलु पञ्चाशन्महत्येकान्नविंशतिः ॥६४
। ४१ । ५८ । १९ ।
शतारे पञ्चपञ्चाशदष्टादश ततः परे। पञ्चोने द्वे शते चापि बोद्धव्या आनतद्वये ॥६५
। ५५ । १८ । १९५ ।
शतमेकान्नषष्टिश्च आरणाच्युतयुग्मके। त्रयोविंशं शतं विद्यादधस्तान्निःप्रकीर्णकाः[1] ॥६६
। १५९ । १२३ ।

करे। फिर उसको मुखमेंसे कम करके शेषको गच्छसे गुणित करनेपर सर्व संकलित धन प्राप्त होता है। जैसे– प्रकृत सौधर्म कल्पमें एक दिशागत श्रेणीबद्ध ६३ हैं। चूंकि इस कल्पके अधीन पूर्व, पश्चिम और दक्षिण इन तीन दिशागत श्रेणीबद्ध विमान हैं, अत एव इनको तीनसे गुणित करनेपर १८९ मुखका प्रमाण होता हैं; चयका प्रमाण यहां तीन और गच्छ ३१ है। अत एव उक्त सूत्रके अनुसार $\frac{३१-१}{२}$ ×३=४५; (१८९–४५)×३१ = ४४६४; इसमें सौधर्म कल्पके ३१ इन्द्रक विमानोंको मिला देनेपर उपर्युक्त प्रमाण प्राप्त हो जाता है— ४४६४+३१=४४९५. यही क्रम आगेके कल्पोंमें भी समझना चाहिये।

आगे ऐशान कल्पमें चौदह सौ अठासी (१४८८), सनत्कुमार कल्पमें छह सौ सोलह (६१६) तथा माहेन्द्र कल्पमें दो सौ तीन (२०३) श्रेणीबद्ध विमान हैं ॥ ६२ ॥

विशेषार्थ— उपर्युक्त ३१ इन्द्रक विमानोंकी केवल उत्तर दिशागत श्रेणीबद्ध विमान ही इस कल्पके अन्तर्गत हैं। अत एव यहां मुख ६३ चय १ और गच्छ ३१ हैं। उक्त प्रक्रियाके अनुसार यहां ऐशान कल्पमें $\frac{३१-१}{२}$ ×१=१५; (६३–१५)× ३१ = १४८८. श्रेणीबद्ध विमानोंका प्रमाण प्राप्त हो जाता हैं। सब (३१) इन्द्रक विमान चूंकि सौधर्म कल्पके अधीन हैं, अत एव उनका प्रमाण यहां नहीं जोड़ा गया है। सनत्कुमार कल्पमें ७ इन्द्रक विमानोंमेंसे प्रथम इन्द्रककी प्रत्येक दिशामें ३२ तथा आगे १–१ कम (३१, ३० आदि) श्रेणीबद्ध विमान हैं। अतएव यहां मुखका प्रमाण ३२×३=९६, चय ३ और गच्छ ७ है। अतः $\frac{७-१}{२}$×३=९; (९६ –९)×७=६०९; ६०९ + ७ इन्द्रक = ६१६ श्रे. ब.। माहेन्द्र कल्पमें $\frac{७-१}{२}$ = ३; (३२–३)× ७ = २०३ श्रे. ब.।

ब्रह्म कल्पमें दो सौ छयासी (२८६), ब्रह्मोत्तर कल्पमें चौरानबै (९४) और लान्तव कल्पमें एक सौ पच्चीस (१२५) श्रेणीबद्ध विमान हैं॥ ६३॥ ब्रह्म $\frac{४-१}{२}$ ×३=४$\frac{१}{२}$; (२५×३)–४$\frac{१}{२}$,=७०$\frac{१}{२}$; ७०$\frac{१}{२}$×४+४ इ. वि. =२८६ श्रेणीबद्ध। ब्रह्मोत्तर$\frac{४-१}{२}$; २५–$\frac{४-१}{२}$ ×४=९४ श्रेणीबद्ध। लान्तव (२१×३)+(२०×३) + २ इ. वि. =१२५श्रेणीबद्ध।

कापिष्ठ कल्पमें इकतालीस (४१), शुक्रमें अट्ठावन (५८) और महाशुक्रमें उन्नीस, श्रेणीबद्ध विमान हैं॥ ६४॥ शतार कल्पमें पचपन (५५), सहस्रारमें अठारह (१८) और आनतयुगलमें पांच कम दो सौ (१९५) श्रेणीबद्ध विमान हैं॥ ६५॥ आरण और अच्युत युगलमें एक सौ उनसठ (१५९) तथा अधो ग्रैवेयकमें एक सौ तेईस (१२३) प्रकीर्णकरहित

---

१ ब निष्प्रकीर्णकाः।

सप्ताग्रा मध्यमेऽशीतिरेकपञ्चाशदुत्तरे। अनुदिक्षु नवैव स्युः पञ्चैवानुत्तरेषु च ॥६७

।८७।५१।९।५।

ऋतुर्नृक्षेत्रविस्तारश्चरमो जम्बूसमस्तयोः। विशेषे रूपहीनेन्द्रकाप्ते हानिवृद्धिके ॥६८

।४५०००००।१०००००। हानिवृद्धि ७०९६७। $\frac{३१}{३१}$।

एकत्रिंशद्विमानानि श्रेणीषु चतसृष्वपि। स्वयम्भूजलधेरूर्ध्वं शेषा द्वीपाम्बुधित्रये ॥६९

।३१।१६।८।४।२।१।१।

चन्द्रे विमलवल्वोश्च श्रेण्यर्धार्धं तथा परे। चूलिकां वालमात्रेण ऋतुर्न प्राप्य तिष्ठति ॥७०

जलप्रतिष्ठिता आद्योः परयोर्वातप्रतिष्ठिताः। आ सहस्रारतो [1]ब्रह्माज्जलवातप्रतिष्ठिताः ॥७१

आनतादिविमानाश्च शुद्धाकाशे प्रतिष्ठिताः। अयं प्रतिष्ठानियमः सिद्धो लोकानुभावतः ॥७२

एकविंशशतं[2] चैकं सहस्रं च घनो द्वयोः। एकोनशतहीनं च बहला परयोर्द्वयोः ॥७३

।११२१।१०२२।

ब्रह्मे च लान्तवे शुक्रे शतारयुगलेऽपि च। आनतादिचतुष्के च अधस्तान्मध्यमे परे ॥७४

(श्रेणीबद्ध) विमान जानना चाहिये ॥ ६६ ॥ मध्यम ग्रैवेयकमें सतासी (८७), उपरिम ग्रैवेयकमें इक्यावन (५१), अनुदिशोंमें नौ (९) तथा अनुत्तरोंमें पांच (५) ही श्रेणीबद्ध विमान हैं ॥ ६७ ॥

ऋतु इन्द्रकका विस्तार मनुष्यक्षेत्रके बराबर पैंतालीस लाख तथा अन्तिम सर्वार्थसिद्धि इन्द्रकका विस्तार जम्बूद्वीपके प्रमाण एक लाख योजन है। उन दोनोंको परस्पर घटाकर शेषमें एक कम इन्द्रकप्रमाणका भाग देनेपर हानि-वृद्धिका प्रमाण प्राप्त होता है ॥ ६८ ॥ यथा— $\frac{४५००००० - १०००००}{६३ - १} = ७०९६७\frac{३}{३}\frac{३}{१}$ यो.हा. वृ.।

चारों ही श्रेणियोंमें स्थित तिरेसठ तिरेसठ श्रेणीबद्ध विमानोंमें इकतीस विमान स्वयम्भूरमण समुद्रके ऊपर तथा शेष बत्तीस विमान तीन द्वीपों और तीन समुद्रोंमें (स्वयम्भूरमण द्वीपमें १६, अहीन्द्रवर समुद्रमें ८, अहीन्द्रवर द्वीपमें ४, देववर समुद्रमें २, देववर द्वीपमें १ और यक्षवर समुद्रमें १ = ३२ स्थित हैं ॥ ६९ ॥ विमल, चन्द्र और वल्गु इद्रक विमानोंके आधे आधे श्रेणीबद्ध विमान अनन्तर द्वीपों व समुद्रोंमें स्थित हैं (?)। ऋतु विमान मेरु पर्वतकी चूलिकाको बाल मात्रसे न पाकर (बाल प्रमाण अन्तरसे) स्थित है ॥ ७० ॥ प्रथम दो कल्पोंके विमान जलके ऊपर स्थित हैं, आगेके दो कल्पोंके विमान वायुके ऊपर स्थित हैं, तथा ब्रह्म कल्पसे लेकर सहस्रार कल्प तक आठ कल्पोंके विमान जल-वायुके ऊपर स्थित हैं। आनत आदि कल्पोंके विमान तथा कल्पातीत विमान शुद्ध आकाशमें स्थित हैं। यह विमानोंके अवस्थानका क्रम लोकानुयोगसे सिद्ध है ॥ ७१-७२ ॥

विमानतलका बाहल्य सौधर्म और ऐशान इन दो कल्पोंमें एक हजार एक सौ इक्कीस (११२१), तथा आगेके दो कल्पोंमें वह विमानतलबाहल्य निन्यानबै योजनसे हीन (११२१ –९९=१०२२) है ॥ ७३ ॥ ब्रह्म, लान्तव, शुक्र, शतारयुगल, आनत आदि चार, अधो ग्रैवेयक, मध्यम ग्रैवेयक और उपरिम ग्रैवेयकमें वह विमानतलबाहल्य परस्पर क्रमशः उतने

---

१ आ प ब्रह्माज्वल°। २ आ प एकविंशतं।

तावदेव क्रमाद्धीना बाहल्येन परस्परात् । एकत्रिंशं शतं रुन्द्राः परस्मिन् पटलद्वये ॥७५
। ९२३ । ८२४ । ७२५ । ६२६ । ५२७ । ४२८ । ३२९ । २३० । १३१ ।
प्रासादा षट्छतोच्छ्राया योजनैः पूर्वकल्पयोः । ततः पञ्चशतोच्छ्रायाः परयोः कल्पयोर्द्वयोः ॥७६
। ६०० । ५०० ।
ब्रह्मे च लान्तवे शुक्रे शतारे चानतादिषु । आद्ये मध्ये तथोर्ध्वे च शतार्धोनाः परस्परात् ॥७७
। ४५० । ४०० । ३५० । ३०० । २५० । २०० । १५० । १०० ।
प्रासादा ह्यनुदिक्ष्वत्र दृष्टाः पञ्चाशदुच्छ्रयाः । अनुत्तरेषु विज्ञेयाः पञ्चविंशतिमुच्छ्रिताः[1] ॥७८
। ५० । २५ ।
आद्ययोः पञ्चवर्णास्ते कृष्णवर्ज्याः परद्वये । परयोर्नीलवर्ज्याश्च ब्रह्मलान्तवयोरपि ॥७९
रक्तवर्ज्याश्च शुक्राख्ये सहस्रारे च भाषिताः । परतः पाण्डरा एव विमाना शङ्खसंनिभाः ॥८०
व्रजन्ति तापसोत्कृष्टा आ ज्योतिषविमानतः । चरकाः सपरिव्राजा गच्छन्त्या ब्रह्मलोकतः ॥८१
[2]अकामनिर्जरातप्तास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाः पुनः । अन्यपाषण्डिनश्चापि[3] आ सहस्रारतोऽधिकाः ॥८२
आऽच्युताच्छ्रावका यान्ति उत्कृष्टाऽऽजीवका अपि । स्त्रियः सम्यक्त्वयुक्ताश्च सच्चारित्रविभूषिताः ॥

(९९) से ही उत्तरोत्तर हीन है । आगेके दो पटलोंमें वह बाहल्य एक सौ इकतीस योजन मात्र है ॥ ७४-७५ ॥

जैसे– ब्रह्म ९२३, लान्तव ८२४, शुक्र ७२५, शतारयुगल ६२६, आनतादि चार ५२७, अधो ग्रै. ४२८, मध्यम ग्रै. ३२९, उपरिम ग्रै. २३०, अनुदिश व अनुत्तर १३१ यो. ।

पूर्व दो कल्पोंमें स्थित प्रासाद छह सौ योजन और आगे दो कल्पोंमें पांच सौ योजन ऊंचे हैं– सौ. ऐ. ६०० यो., स. मा. ५०० यो. ॥ ७६ ॥ ये प्रासाद ब्रह्म, लान्तव, शुक्र, शतार, आनतादि चार, अधो ग्रैवेयक, मध्यम ग्रैवेयक और उपरिम ग्रैवेयकमें उत्तरोत्तर पचास योजनसे हीन हैं । यथा– ब्रह्म ४५०, लान्तव ४००, शुक्र ३५०, शतार ३००, आनतादि २५०, अ. ग्रै. २००, म. ग्रै. १५०, उ. ग्रै. १०० यो. ॥ ७७ ॥ यहां अनुदिशोंमें स्थित वे प्रासाद पचास (५०) योजन और अनुत्तरोंमें पच्चीस (२५) योजन मात्र ऊंचे जानने चाहिये ॥ ७८ ॥

प्रथम दो कल्पोंमें स्थित विमान पांचों वर्णवाले, आगेके दो कल्पोंमें कृष्ण वर्णको छोड़कर चार वर्णवाले, उसके आगे ब्रह्म और लान्तव इन दो कल्पोंमें कृष्ण और नील वर्णसे रहित तीन वर्णवाले, शुक्र और सहस्रार कल्पोंमें लालको भी छोड़कर दो वर्णवाले तथा इसके आगे सब विमान शंखके सदृश धवल वर्णवाले ही हैं ॥ ७९-८० ॥

उत्कृष्ट तापस ज्योतिष विमानों तक जाते हैं, अर्थात् वे भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें उत्पन्न होते हैं । नग्न अण्डलक्षण चरक और परिव्राजक (एकदण्डी व त्रिदण्डी आदि) ब्रह्मलोक तक जाते हैं ॥ ८१ ॥ अकामनिर्जरासे सन्तप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा दूसरे पाखण्डी तपस्वी भी अधिकसे अधिक सहस्रार कल्प तक जाते हैं ॥ ८२ ॥ श्रावक, उत्कृष्ट आजीवक (कंजिकादिभोजी) तथा सम्यग्दर्शनसे संयुक्त व चारित्रसे विभूषित स्त्रियां अच्युत

१ आ प विंशतिरुच्छ्रिताः । २ आ प आकाम । ३ प पाखण्डिन् ।

निर्ग्रन्थाः शुद्धचारित्रा ज्ञानसम्यक्त्वभूषणाः । [1]जातरूपधराः शूरा गच्छन्ति च ततः परम् ॥८४
आ ग्रैवेयाद् व्रजन्तीति मिथ्यादर्शनिनो मताः[2] । ऊर्ध्वं सद्दर्शनास्तेभ्यः संयमस्था नरोत्तमाः ॥८५
निर्ग्रन्था निरहंकारा विमुक्तमदमत्सराः । निर्मोहा निर्विकाराश्च ज्ञानध्यानपरायणाः ॥८६
हत्वा कर्मरिपून् धीराः शुक्लध्यानासिधारया । मोक्षमक्षयसौख्याढ्यं व्रजन्ति पुरुषोत्तमाः ॥८७
पञ्च कल्पान् विहायाद्यान् कृत्स्नपूर्वधरोद्भवः । दशपूर्वधराः कल्पान् व्रजन्त्यूर्ध्वं च संयताः ॥८८
पञ्चेन्द्रियतिरश्चोऽपि आ सहस्रारतः सुराः । स्थावरानपि चैशानात् परतो यान्ति मानुषान् ॥८९
सौधर्माद्यास्तु चत्वारः अष्टौ ब्रह्मादयोऽपि च । प्राणतश्चाच्युतश्चेति चिह्नवन्तश्चतुर्दश[3] ॥९०
वराहो मुकुटे चिह्नं मृगो महिषमीनवत् । कूर्मदर्दुरसप्तीभाश्चन्द्रः सर्पोऽथ खड्गकः ॥९१
छागलो वृषभश्चैव [4]विटपीन्द्रस्तथाच्युतात् । क्रमेण चिह्नानीन्द्राणां प्रोक्तान्येवं चतुर्दश ॥९२
इन्द्रकात्तु प्रभासंज्ञाद् दक्षिणावलिकास्थितम्[5] । अष्टादशविमानं तत् सौधर्मो यत्र देवराट् ॥९३

कल्प तक जाती हैं ॥ ८३ ॥ निर्मल चारित्रसे संयुक्त, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्दर्शनसे विभूषित तथा दिगम्बर रूपको धारण करनेवाले ऐसे शूर वीर निर्ग्रन्थ साधु अच्युत कल्पसे आगे अर्थात् कल्पातीत विमानोंमें जाते हैं ॥८४॥ मिथ्यादृष्टि (द्रव्यलिंगी मुनि) मरकर ग्रैवेयक पर्यन्त तथा मनुष्योंमें श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि संयमी मुनि उससे आगे अनुदिश व अनुत्तर विमानोंमें जाते हैं॥ ८५॥ मनुष्योंमें श्रेष्ठ जो धीर वीर साधु अहंकार, मद, मात्सर्य, मोह एवं क्रोधादि विकारोंसे रहित होकर ज्ञान और ध्यानमें तप्पर होते हैं वे महातमा शुक्लध्यानरूप तलवारकी धारसे कर्मरूप शत्रुओंको नष्ट करके अविनश्वर सुखसे संपन्न मोक्षको प्राप्त करते हैं ॥ ८६-८७ ॥ समस्त (चौदह) पूर्वोंके धारक प्रथम पांच कल्पोंको छोड़कर आगेके देवोंमें उत्पन्न होते हैं। दस पूर्वोंके धारक कल्पोंमें और संयत उसके आगे जाते हैं ॥ ८८॥

सहस्रार कल्प तकके देव पंचेन्द्रिय तिर्यंच तक होते हैं। ऐशान कल्प तकके देव स्थावर भी होते हैं। किन्तु आगेके देव मनुष्य ही होते हैं ॥ ८९ ॥

विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और सौधर्म-ऐशान कल्पोंके देव वहांसे च्युत होकर परिणामोंके अनुसार एकेन्द्रियों (पृथिवीकायिक, जलकायिक और प्रत्येक वनस्पति), कर्मभूमिज पंचेन्द्रिय तिर्यंचों और मनुष्योंमें भी उत्पन्न हो सकते हैं। इससे आगे सहस्रार कल्प तकके देव मरकरके पंचेन्द्रिय तिर्यंचों और मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं। इससे ऊपरके देव केवल मनुष्योंमें ही उत्पन्न होते हैं।

सौधर्म आदि चार, ब्रह्म आदि आठ, प्राणत और अच्युत इन कल्पोंमें इन्द्रोंके मुकुटमें क्रमसे ये चौदह चिह्न होते हैं— वराह, मृग, भैंस, मछली, कछवा, मेंढक, घोड़ा, हाथी, चन्द्र, सर्प, खड्ग, छागल (बकरी), बैल और विटपीन्द्र (कल्पवृक्ष) । इस प्रकार अच्युत कल्प तक ये क्रमसे इन्द्रोंके चौदह चिह्न कहे गये हैं॥ ९०-९२ ॥

प्रभ नामक इन्द्रकसे दक्षिण श्रेणीमें स्थित जो अठारहवां श्रेणीबद्ध विमान है उसमें

---

१ ब ज्ञात° । २ [मृताः] । ३ प चिन्हवन्त्यचतु° । ४ आ प वटपीन्द्र° । ५ आ प संज्ञादक्षिणा° ।

सहस्राणामशीतिं च चत्वार्येव च विस्तृतम् । नगरं तत्र शक्रस्य हेमप्राकारसंवृतम् ॥९४
। ८४००० ।
क्वचिद्दोलाध्वजैश्चित्रैश्चक्रान्दोलनपङि्क्तभिः । क्वचिन्मयूरयन्त्राढचै[ढ्यै]र्भ्राजन्ते शालकोटयः ॥९५
शतार्धमवगाढो गां तावदेव च विस्तृतः । प्राकारस्त्रिशतोच्छ्रायः प्राक्चतुःशतगोपुरम् ॥९६
। ५० । ३०० । ४०० ।
विस्तृतानि शतं चैकं प्रांशूनि च चतुःशतम् । वज्रमूलाग्रवैडूर्यसर्वरत्नानि सर्वतः ॥९७
। १०० । ४०० ।
षष्टिमात्रं[१] प्रविष्टो गां ततो द्विगुणविस्तृतः । प्रासादः षट्छतोच्छ्रायः सौधर्मे स्तम्भनामकः ॥९८
। ६० । १२० । ६०० ।
षष्ट्या देवीसहस्राणां नियुतेनैव सेवितः । नित्यप्रमुदितः शक्रः तत्रास्ते सुखसागरे ॥९९
। १६०००० ।
पञ्चाशतं प्रविष्टा गां ततो द्विगुणविस्तृताः । प्रासादा अग्रदेवीनामष्टौ पञ्चशतोच्छ्रयाः ॥१००
। ५० । १०० । ५०० ।
कनकश्रीरिति ख्याता देवी वल्लभिका शुभा । पूर्वस्यां शक्रतस्तस्याः प्रासादोऽत्र मनोहरः ॥१०१
उत्तरस्यां दिशायां तु प्रभायाः श्रेणिसंस्थितम् । अष्टादशविमानं तत् ईशानो यत्र देवराट् ॥१०२

सौधर्म इन्द्र रहता है ॥ ९३ ॥ वहांपर चौरासी हजार (८४०००) योजन विस्तृत और सुवर्णमय प्राकारसे वेष्टित सौधर्म इन्द्रका नगर है ॥ ९४ ॥ प्राकारके अग्रभाग कहींपर पंक्तिबद्ध विचित्र ध्वजाओंसे तथा कहींपर मयूराकार यंत्रोंसे सुशोभित होते हैं ॥ ९५ ॥ प्राकार पृथिवीके भीतर पचास (५०) योजन अवगाहसे सहित, उतना (५०) ही विस्तृत तथा तीन सौ (३००) योजन ऊंचा है। इसके पूर्वमें चार सौ (४००) गोपुरद्वार हैं ॥ ९६ ॥ ये गोपुरद्वार एक सौ (१००) योजन विस्तृत और चार सौ (४००) योजन ऊंचे हैं। उनका मूल भाग वज्रमय तथा उपरिम भाग सब ओर वैडूर्यमणिमय व सर्वरत्नमय है ॥ ९७ ॥ सौधर्म इन्द्रका स्तम्भ नामक प्रासाद साठ (६०) योजन मात्र पृथिवीके भीतर प्रविष्ट (अवगाढ), इससे दूना (१२० यो.) विस्तृत और छह सौ योजन (६००) ऊंचा है ॥ ९८ ॥ उक्त प्रासादके भीतर एक लाख साठ हजार (१६००००) देवियोंसे सेवित सौधर्म इन्द्र निरन्तर आनन्दको प्राप्त होकर सुखसमुद्रमें मग्न रहता है ॥ ९९ ॥

सौधर्म इन्द्रकी अग्रदेवियोंके आठ प्रासाद पचास (५०) योजन पृथिवीमें प्रविष्ट, उससे दूने (१०० यो.) विस्तृत और पांच सौ (५००) योजन ऊंचे हैं ॥ १०० ॥ सौधर्म इन्द्रकी कनकश्री इस नामसे प्रसिद्ध श्रेष्ठ वल्लभा देवी है। उसका मनोहर प्रासाद यहां सौधर्म इन्द्रके प्रासादकी पूर्व दिशामें स्थित है ॥ १०१ ॥

प्रभा नामक इन्द्रककी उत्तर दिशामें जो अठारहवां श्रेणीबद्ध विमान स्थित है उसमें

१ आ ब षष्ठिमात्रं ।

सौधर्मस्येव मानेन प्रासादो नगरं तथा । अशीतिः स्यात् सहस्राणि हेममालास्य वल्लभा ॥१०३
। ८०००० ।

ऊर्ध्वं प्रभायाश्चक्राख्यमष्टमं चेन्द्रकं ततः । सनत्कुमार इन्द्रश्च दक्षिणे षोडशे स्थितः ॥१०४

योजनानि त्वसंख्यानि दक्षिणां व्यतिपत्य च । द्विसप्ततिसहस्राणि विस्तृतं प्रवरं पुरम् ॥१०५
। ७२००० ।

पञ्चवर्गावगाढश्च सालस्तावच्च विस्तृतः । सौवर्णः सर्वतस्तस्य प्रांशुः सार्धशतद्वयम् ॥१०६
। २५ । [२५] । २५० ।

त्रिशतं गोपुराणां च प्रत्येकं द्विक्चतुष्टये । विस्तारो नवतिस्तेषामुच्छ्रयश्च शतत्रयम् ॥१०७
। ३०० । ९० । ३०० ।

शतार्धमवगाढो गां शतमेव च विस्तृतः । [1]प्रासादोऽर्धसहस्रोच्च इन्द्रानन्दकरः शुभः ॥१०८
। ५० । १०० । ५०० ।

द्विसप्तत्या सहस्राणां देवीभिर्नित्यसेवितः । अष्टावग्रमहिष्यस्तु वल्लभा कनकप्रभा ॥१०९
। ७२००० ।

नवतिर्विस्तृतास्तासां तदर्धं च गताः[2] क्षितौ । प्रासादाः परितस्तस्मादुच्चाः सार्धचतुःशतम् ॥११०
। ९० । ४५ । ४५० ।

ईशान इन्द्र रहता है ॥ १०२ ॥ उसका प्रासाद प्रमाणमें सौधर्म इन्द्रके समान है । उसके नगरका विस्तार अस्सी हजार (८००००) योजन तथा वल्लभा देवीका नाम हेममाला है ॥ १०३ ॥

प्रभा नामक इन्द्रकके ऊपर चक्र नामका आठवां (प्रभाके साथ) इन्द्रक है। उसके दक्षिणमें स्थित सोलहवें श्रेणीबद्ध विमानमें सनत्कुमार इन्द्र स्थित है ॥ १०४ ॥ दक्षिणमें असंख्यात योजन जाकर उसका बहत्तर हजार (७२०००) योजन विस्तृत श्रेष्ठ नगर है ॥ १०५ ॥ इस नगरका सुवर्णमय प्राकार पच्चीस (२५) योजन नीवसे सहित, उतना (२५ यो.) ही विस्तृत और अढ़ाई सौ (२५०) योजन सब ओर ऊंचा है ॥ १०६ ॥ उसकी चारों दिशाओंमेंसे प्रत्येक दिशामें तीन सौ (३००) गोपुरद्वार हैं। उनका विस्तार नव्वै (९०) योजन और ऊंचाई तीन सौ (३००) योजन मात्र है ॥ १०७ ॥ वहां इन्द्रको आनन्दित करनेवाला जो उत्तम प्रासाद स्थित है वह पृथिवीमें पचास (५०) योजन प्रमाण अवगाहसे सहित, सौ (१००) योजन विस्तृत और पांच सौ (५००) योजन ऊंचा है ॥ १०८ ॥ उक्त सनत्कुमार इन्द्रकी बहत्तर हजार (७२०००) देवियां सदा सेवा करती हैं। उनमें आठ अग्रदेवियां हैं । उसकी वल्लभा देवीका नाम कनकप्रभा है ॥ १०९ ॥ उन देवियोंके प्रासाद नव्वै (९०) योजन विस्तृत, इससे आधे (४५ यो.) पृथिवीमें प्रविष्ट और साड़े चार सौ (४५०) योजन ऊंचे हैं। ये प्रासाद उस इन्द्रप्रासादके चारों ओर हैं ॥ ११० ॥

---

१ प प्रासादोर्ध्व° । २ आ प च गगताः ।

उत्तरस्यां पुनश्चक्रात्[1] षोडशावलिकास्थितम् । माहेन्द्रनगरं रुन्द्रं सहस्राणां च सप्ततिः ॥१११
। ७०००० ।
अष्टावग्रमहिष्यश्च देवी कनकमण्डिता । वल्लभा तस्य विख्याता तासां वेश्मानि पूर्ववत् ॥११२
चक्राद् ब्रह्मोत्तरं चोर्ध्वं पञ्चमं दक्षिणे ततः । पुरं चतुर्दशे षष्टिं सहस्राणां च विस्तृतम् ॥११३
। ६०००० ।
सार्धानि द्वादशागाढस्तावदेव च विस्तृतः । प्राकारो द्विशतोच्छ्रायो ब्रह्मणः पुरबाहिरः ॥११४
। $\frac{25}{2}$ । $\frac{25}{2}$ । २०० ।
गोपुराणां शते द्वे च एकैकस्यां पुनर्दिशि । अशीतिं विस्तृतं वेद्यं शुद्धं द्विशतमुच्छ्रितम् ॥११५
। २०० । २०० (?) । ८० । २०० ।
प्रासादो नवतिं रुन्द्रस्तदर्धं च क्षितौ गतः । ब्रह्मेन्द्रस्य शुभो दिव्य उच्चः सार्धचतुःशतम् ॥११६
। ९० । ४५ । ४५० ।
अशीतिरुन्द्रा देवीनां तदर्धं च क्षितिं गताः । चतुःशतोच्छ्रयाश्चैव अष्टानामिति वर्णिताः ॥११७
। ८० । ४० । ४०० ।
चतुस्त्रिंशत्सहस्राणि देव्यस्तं सतताश्रिताः । नीला वल्लभिका नाम्ना प्रासादोऽस्याश्च पूर्वतः ॥११८
। ३४००० ।
उत्तरस्यां पुनः पङक्तौ इन्द्रो ब्रह्मोत्तरस्तथा । नीलोत्पलेति नाम्ना च तस्य वल्लभिकामरी ॥११९
ब्रह्मोत्तरात्तृतीयं तु नाम्ना लान्तवमिन्द्रकम् । दक्षिणस्यां ततः पङक्तौ द्वादशे लान्तवं पुरम् ॥१२०

उक्त चक्र इन्द्रककी उत्तर दिशामें स्थित सोलहवें श्रेणीबद्ध विमानमें माहेन्द्र इन्द्रका नगर स्थित है । उसका विस्तार सत्तर हजार (७००००) योजन है ॥ १११ ॥ उसके आठ अग्रदेवियां और कनकमण्डिता नामकी प्रसिद्ध वल्लभा देवी है । उनके प्रासाद सनत्कुमार इन्द्रकी देवियोंके प्रासादोंके समान हैं ॥ ११२ ॥

चक्र इन्द्रकके ऊपर उसको लेकर पांचवां ब्रह्मोत्तर नामका इन्द्रक है । उसके दक्षिणमें चौदहवें श्रेणीबद्ध विमानमें ब्रह्मेन्द्रका पुर है । उसका विस्तार साठ हजार (६००००) योजन है । इस पुरके बाहिर साढ़े बारह ($\frac{25}{2}$) योजन अवगाहसे सहित, उतना ही ($\frac{25}{2}$) विस्तृत और दो सौ (२००) योजन ऊंचा प्राकार है ॥ ११३-११४ ॥ इस प्राकारकी प्रत्येक दिशामें दो सौ (२००) गोपुरद्वार हैं । गोपुरद्वारोंका विस्तार अस्सी (८०) योजन [इतना (८० यो.) ही अवगाह] और ऊंचाई शुद्ध दो सौ योजन प्रमाण जानना चाहिये ॥ ११५ ॥ ब्रह्मेन्द्रका दिव्य उत्तम प्रासाद नब्बै (९०) योजन विस्तृत, इससे आधा (४५) पृथिवीमें प्रविष्ट और चार सौ पचास (४५०) योजन ऊंचा है ॥ ११६ ॥ ब्रह्मेन्द्रकी आठ अग्रदेवियोंके प्रासाद अस्सी (८०) योजन विस्तृत, इससे आधे (४० यो.) पृथिवीमें प्रविष्ट और चार सौ (४००) योजन ऊंचे कहे गये हैं ॥ ११७ ॥ चौंतीस हजार (३४०००) देवियां निरन्तर उसके आश्रित रहती हैं । उसकी वल्लभा देवीका नाम नीला है । इसका प्रासाद इन्द्रप्रासादके पूर्वमें स्थित है ॥ ११८ ॥

ब्रह्मोत्तर इन्द्रककी उत्तरदिशागत पंक्तिके चौदहवें श्रेणीबद्ध विमानमें ब्रह्मोत्तर इन्द्र रहता है । उसकी वल्लभा देवीका नाम नीलोत्पला है ॥ ११९ ॥

ब्रह्मोत्तर इन्द्रकको लेकर जो तीसरा लान्तव नामका इन्द्रक है उसकी दक्षिण दिशागत

१ आ प पुनः शक्रात् ।

पञ्चाशतं सहस्राणि तद्विस्तारेण वर्णितम् । हेमसालपरिक्षिप्तं लान्तवेन्द्रमनःप्रियम्[1] ॥१२१

। ५०००० ।

सचतुर्भागषड्गाढस्तावदेव च विस्तृतः । पञ्चाशं शतमुद्विद्धः प्राकारस्तस्य भासुरः ॥१२२

। $\frac{२५}{४}$ । [$\frac{२५}{४}$] । १५० ।

गोपुराणां शतं षष्ट्या प्राच्यां सप्ततिविस्तृतम् । सषष्टिशतमुद्विद्धं दिक्षु सर्वासु लक्षयेत् ॥१२३

। १६० । ७० । १६० ।

प्रासादोऽशीतिविस्तारस्तदर्धं च क्षितिं गतः । चतुःशतोच्छ्रयो रम्यो लान्तवो यत्र देवराट् ॥१२४

। ८० । ४० । [४००] ।

प्रासादाः सप्तति रुन्द्रास्तदर्धं च क्षितिं गताः । उच्छ्रितास्त्रिशतं सार्धं देवीनामिति वर्णिताः ॥१२५

। ७० । ३५ । ३५० ।

सार्धैः षोडशभिः स्त्रीणां सहस्रैः परिवारितः । अष्टावग्रमहिष्यश्च पद्मा नाम्ना च वल्लभा ॥१२६

। १६५०० ।

उत्तरस्तत्र कापित्थो लान्तवेन समः स्मृतः । पद्मोत्पलेति नाम्ना च वल्लभा तस्य विश्रुता ॥१२७

लान्तवोर्ध्वं भवेच्छुक्रमिन्द्रकं दक्षिणे ततः । चत्वारिंशत्सहस्रोरुद[र्द]शमे शुक्रसत्पुरम् ॥१२८

। ४०००० ।

चतुष्कमवगाढो गां तावदेव च विस्तृतः । विंशं च शतमुद्विद्धः प्राकारस्तस्य सर्वतः ॥१२९

। ४ । ४ । १२० ।

पंक्तिके वारहवें श्रेणीवद्ध विनानमें लान्तव इन्द्रका पुर है ॥ १२० ॥ उसका विस्तार पचास हजार (५००००) योजन प्रमाण वतलाया गया है। लान्तवेन्द्रके मनको प्रसन्न करनेवाला वह पुर सुवर्णमय प्राकारसे वेष्टित है ॥ १२१ ॥ पुरका वह प्राकार सवा छह ($६\frac{१}{४}$) योजन अवगाहसे सहित, उतना ($६\frac{१}{४}$) ही विस्तृत और एक सौ पचास (१५०) योजन ऊंचा है ॥१२२॥ प्राकारकी पूर्व दिशामें एक सौ साठ (१६०) गोपुरद्वार हैं। उनका विस्तार सत्तर (७०) योजन और ऊंचाई एक सौ साठ (१६०) योजन मात्र है। इतने (१६०) गोपुरद्वार सव दिशाओंमें जानना चाहिये ॥ १२३ ॥ उस पुरमें अस्सी (८०) योजन विस्तृत, इससे आधा (४० यो.) पृथिवीमें प्रविष्ट और चार सौ (४००) योजन ऊंचा रमणीय प्रासाद है, जहां लान्तव इन्द्र रहता है ॥ १२४ ॥ लान्तवेन्द्रकी देवियोंके प्रासाद सत्तर (७०) योजन विस्तृत, इससे आधे (३५ यो.) पृथिवीमें प्रविष्ट और साढ़े तीन सौ (३५०) योजन ऊंचे कहे गये हैं ॥१२५॥ साढ़े सोलह हजार (१६५००) स्त्रियोंसे वेष्टित उस इन्द्रके आठ अग्रदेवियां और पद्मा नामकी वल्लभा देवी है ॥ १२६ ॥

लान्तव इन्द्रककी उत्तर दिशामें स्थित वारहवें श्रेणीवद्ध विमानमें कापिष्ठ इन्द्र रहता है जो कि लान्तव इन्द्रके समान माना गया है। उसकी वल्लभा देवी पद्मोत्पला नामसे प्रसिद्ध है ॥ १२७ ॥

लान्तव इन्द्रकके ऊपर शुक्र इन्द्रक है। उसके दक्षिणमें दसवें श्रेणीवद्धमें शुक्र इन्द्रका उत्तम पुर है जो चालीस हजार (४००००) योजन विस्तृत है ॥ १२८ ॥ उसके सव ओर चार (४) योजन पृथिवीमें प्रविष्ट, उतना (४ यो.) ही विस्तृत और एक सौ वीस (१२०) योजन

---

१ प मतः प्रियं ।

चत्वारिंशं शतं तस्य गोपुराणि चतुर्दिशम् । पञ्चाशतं च विस्तीर्णं चत्वारिंश-शतोच्छ्रितम् ॥१३०

। १४० । ५० । १४० ।

पञ्चत्रिंशतमागाढो विस्तृतो द्विगुणं ततः । प्रासादः शुक्रदेवस्य [1]सार्धत्रिशतमुच्छ्रितः ॥१३१

। ३५ । ७० । ३५० ।

प्रविष्टास्त्रिंशतं भौ[भू]मौ द्विगुणं चापि विस्तृताः । प्रासादास्त्रिशतोच्छ्राया देवीनां तत्र वर्णिताः ॥

। ३० । ६० । ३०० ।

लान्तवार्धं प्रिया देव्यः शुक्रस्यापि च वर्णिताः । अष्टावग्रमहिष्यश्च नन्दा तासु च वल्लभा ॥१३३

। ८२५० ।

उत्तरोऽत्र महाशुक्रो नन्दावत्यपि वल्लभा । शुक्रवत्परिवारोऽस्य नगरं च निर्दर्शितम् ॥१३४

शुक्राच्छतारमूर्ध्वं स्यात्तस्माद्दक्षिणतो दिशि । त्रिंशत्सहस्रविस्तीर्णं शतारं[2] पुरमष्टमे ॥१३५

। ३०००० ।

त्रियोजनं गतो भूम्यां तावदेव च विस्तृतः । प्राकारः शतमुद्विद्धः सविंशशतगोपुरः ॥१३६

। ३ । ३ । १०० । १२० ।

चत्वारिंशत्स्वविस्तारं विंशं च शतमुच्छ्रितम् । एकैकगोपुरं विद्यात्तावन्त्येवान्यदिक्षु च ॥१३७

। ४० । १२० ।

ऊंचा प्राकार स्थित है ॥ १२९ ॥ उसकी चारों दिशाओंमेंसे प्रत्येकमें एक सौ चालीस (१४०) गोपुरद्वार स्थित हैं । उनका विस्तार पचास (५०) योजन और ऊंचाई एक सौ चालीस (१४०) योजन है ॥ १३० ॥ उस पुरमें पैंतीस (३५) योजन अवगाहसे सहित, इससे दूना (७० यो.) विस्तृत और साढ़े तीन सौ (३५०) योजन ऊंचा शुक्र देवका प्रासाद है ॥१३१॥ वहां शुक्र इन्द्रकी देवियोंके प्रासाद तीस (३०) योजन पृथिवीमें प्रविष्ट, इससे दूने (६०यो.) विस्तृत और तीन सौ (३००) योजन ऊंचे कहे गये है ॥ १३२ ॥ शुक्र इन्द्रकी प्रिय देवियां लान्तव इन्द्रकी देवियोंसे आधी (८२५०) निर्दिष्ट की गई हैं । उनमें आठ अग्रदेवियां और नन्दा नामकी वल्लभा देवी है ॥ १३३ ॥

शुक्र इन्द्रकके उत्तरमें दसवें श्रेणीबद्धमें महाशुक्र इन्द्रक रहता है । उसकी वल्लभा देवीका नाम नन्दावती है । इसका परिवार और नगर शुक्र इन्द्रके समान निर्दिष्ट किया गया है ॥ १३४ ॥

शुक्र इन्द्रकके ऊपर शतार इन्द्रक स्थित है । उसकी दक्षिण दिशामें स्थित आठवें श्रेणीबद्ध विमानमें तीस हजार (३००००)योजन विस्तारवाला शतार इन्द्रका पुर है ॥१३५॥ उस पुरको वेष्टित करके तीन (३) योजन पृथिवीमें प्रविष्ट, उतना (३ यो.) ही विस्तृत और सौ (१००) योजन ऊंचा प्राकार स्थित है । उसकी प्रत्येक दिशामें एक सौ बीस(१२०) गोपुरद्वार हैं ॥ १३६ ॥ एक एक गोपुर द्वारका विस्तार चालीस (४०) योजन और ऊंचाई एक सौ बीस (१२०) योजन है । इतने (१२०) ही गोपुरद्वार अन्य तीन दिशाओंमें भी स्थित

---

१ आ प सार्धं । २ प शतारं ।

त्रिंशतं भूमिमागाढस्तस्माद्द्विगुणविस्तृतः । प्रासादस्त्रिशतोच्छ्रायः शतारेन्द्रस्य भाषितः ॥१३८
।३०।६०।३००।

चत्वारि च सहस्राणि पञ्चविंशं पुनः शतम् । देव्यस्तस्य समाख्याताः सुसीमेति च वल्लभा॥१३९
।४१२५।

पञ्चवर्ग प्रविष्टा गां तस्माद् द्विगुणविस्तृताः । पञ्चाशे द्वे शते चोच्चाः प्रासादास्तस्य योषिताम् ॥
।२५।५०।२५०।

उत्तरोऽत्र सहस्रारः शतारस्येव वर्णनम् । वल्लभा लक्ष्मणा नाम्ना देवी तस्य मनोहरा ॥१४१
शताराख्यात्तदुत्पद्य सप्तमं त्वच्युतेन्द्रकम् । दक्षिणावलिकायां च षष्ठे चारणसेवितम् ॥१४२
विंशति च सहस्राणि विस्तृतं त्वारणं पुरम् । द्वे सार्धे गाहविस्तारः प्राकारोऽशीतिमुच्छ्रितः ॥१४३
।२००००।५/२।८०।

गोपुराणां शतं दिक्षु त्रिंशद्विस्तारकाणि च । शतोच्छ्रितानि सर्वाणि नगरस्यारणस्य तु ॥१४४
।१००।३०।१००।

पञ्चवर्गं त[ग]तो भूमिं तस्माद्द्विगुणविस्तृतः । प्रासादश्चारणेन्द्रस्य सार्धं द्विशतमुच्छ्रितः ॥१४५
।२५।५०।२५०।

द्वे सहस्रे त्रिषष्टिश्च तस्य देव्यः प्रकीर्तिताः । अष्टावग्रमहिष्यश्च जितदत्ता च वल्लभा ॥१४६
।२०६३।

प्रविष्टा विंशतिं भूमिं तस्माद्द्विगुणविस्तृताः । प्रासादा द्विशतोच्छ्राया देवीनामिति वर्णिताः ॥१४७
।२०।४०।२००।

हैं ॥ १३७ ॥ शतार इन्द्रका प्रासाद तीस (३०) योजन पृथिवीमें प्रविष्ट, इससे दूना (६०) विस्तृत और तीन सौ (३००) योजन ऊंचा कहा गया है ॥ १३८ ॥ शतार इन्द्रके चार हजार एक सौ पच्चीस (४१२५) देवियां कही गई हैं। उसकी वल्लभा देवीका नाम सुसीमा है ॥१३९॥ उसकी देवियोंके प्रासाद पच्चीस (५×५) योजन पृथिवीमें प्रविष्ट, उससे दूने (५० यो.) विस्तृत और दो सौ पचास (२५०) योजन उंचे हैं ॥ १४० ॥

शतार इन्द्रककी उत्तर दिशामें स्थित आठवें श्रेणीबद्ध विमानमें सहस्रार इन्द्र रहता है। उसका वर्णन शतार इन्द्रकके समान है। उसके लक्ष्मणा नामकी मनोहर वल्लभा देवी है ॥ १४१ ॥

शतार नामक इन्द्रकके उपर जाकर सातवां अच्युत इन्द्रक है। उसकी दक्षिण श्रेणीमें स्थित छठे श्रेणीबद्ध विमानमें चारणोंसे सेवित व बीस हजार (२००००) योजन विस्तृत आरण पुर है। उसके प्राकारका अवगाह और विस्तार अढ़ाई (५/२) योजन तथा ऊंचाई अस्सी (८०) योजन है ॥ १४२-४३ ॥ आरण नगरकी चारों दिशाओंमें एक सौ एक सौ (१००–१००) गोपुरद्वार हैं। सब ही द्वार तीस (३०) योजन विस्तृत और सौ (१००) योजन ऊंचे हैं ॥ १४४ ॥ उस पुरमें जो आरण इन्द्रका प्रासाद है वह पच्चीस (२५) योजन पृथिवीमें प्रविष्ट उससे दूना (५० यो.) विस्तृत और दो सौ पचास (२५०) योजन ऊंचा है ॥१४५॥ उसकी देवियां दो हजार तिरेसठ (२०६३) कही गई हैं। उनमें आठ अग्रदेवियां और जिनदत्ता नामकी वल्लभा देवी है ॥१४६॥ देवियोंके प्रासाद वीस (२०) योजन पृथिवीमें प्रविष्ट, उससे

देवीप्रासादमानैस्तु मता वल्लभिकालयाः । योजनानां तु विंशत्या उच्छ्रयाः केवलाधिकाः[1] ॥१४८
। २० ।

उत्तरेऽत्राच्युतेन्द्रश्च आरणेन समो मतः । वल्लभा जिनदासीति देवी सर्वाङ्गनोत्तमा ॥१४९

उक्तं च [त्रिलोकसार ५०८] –

सत्तपदे देवीणं गिहोदयं पणसयं तु पण्णरिणं[2] । सव्वगिहदीहवासं उदयस्स य पंचमं दसमं ॥७
। १०० । ५० ।

सामानिकसहस्राणि अशीतिश्चतुरूत्तरा । अशीतिरेवेशानस्य तृतीयस्य द्विसप्ततिः ॥१५०
। ८४००० । ८०००० । ७२००० ।

सप्ततिः स्युर्महेन्द्रस्य षष्टिश्च परयोर्द्वयोः । पञ्चाशत्परयोश्चापि चत्वारिंशत्ततो द्वयोः[3] ॥१५१
। ७०००० । ६०००० । ५०००० । ४०००० ।

त्रिंशदेव सहस्राणि शतारस्योत्तरस्य च । विंशतिश्चानतेन्द्रस्य तावन्त्यश्चारणस्य च ॥१५२
। ३०००० । २०००० । २०००० ।

त्रायस्त्रिंशास्त्रयस्त्रिंशदेकैकस्य तु भाषिताः । पुत्रस्थाने च ते तेषामिन्द्राणां प्रवराः सुराः ॥१५३
। ३३ ।

दूने (४०) विस्तृत और दो सौ (२००) योजन ऊंचे कहे गये हैं॥१४७॥ वल्लभा देवियोंके प्रासाद प्रमाणमें देवियोंके प्रासादोंके समान हैं । वे केवल बीस (२०) योजनसे अधिक ऊंचे हैं॥१४८॥

अच्युत इन्द्रकके उत्तरमें स्थित छठे श्रेणीबद्ध विमानमें अच्युत इन्द्र रहता है जो आरण इन्द्रके समान माना गया है । उसकी जो जिनदासी नामकी वल्लभा देवी है वह सब देवियोंमें श्रेष्ठ है ॥ १४९ ॥ कहा भी है –

सौधर्मयुगल आदि छह युगल तथा शेष आनतादि, इस प्रकार इन सात स्थानोंमें देवियोंके प्रासादोंकी ऊंचाई आदिमें पांच सौ (५००) योजन और आगे वह क्रमसे पचास योजनसे कम होती गई है । सब प्रासादोंकी लंबाई ऊंचाईके पांचवें भाग (१००) और विस्तार उसके दसवें भाग (५०) प्रमाण है ॥ ७॥

सामानिक देवोंकी संख्या सौधर्म इन्द्रके चौरासी हजार (८४०००), ईशान इन्द्रके अस्सी हजार (८००००), तृतीय सनत्कुमार इन्द्रके बहत्तर हजार (७२०००), महेन्द्र इन्द्रके सत्तर हजार (७००००), आगेके दो इन्द्रों (ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर) के साठ हजार (६००००), इसके आगे दो इन्द्रोंके पचास हजार (५००००), इसके आगे दो इन्द्रोंके चालीस हजार (४००००), शतार और सहस्रार इन्द्रके तीस हजार (३००००), आनतेन्द्रके बीस हजार (२००००) और इतनी (२००००) ही आरण इन्द्रके सामानिक देवोंकी संख्या है ॥१५०-५२॥

त्रायस्त्रिंश देव प्रत्येक इन्द्रके तेतीस (३३) कहे गये हैं । वे श्रेष्ठ देव इन्द्रोंके पुत्रोंके स्थानमें अर्थात् पुत्रोंके समान होते हैं ॥ १५३ ॥

---

१ ब केवलादिकाः । २ प पण्णरियं । ३ ब °त्ततोर्ध्वयोः ।

षट्त्रिंशच्च सहस्राणि त्रीण्येव नियुतानि च । सौधर्मस्यात्मरक्षाणां त्रीणि द्वे चायुते परे ॥१५४

। ३३६००० । ३२०००० ।

अष्टाशीतिः सहस्राणि तृतीये नियुतद्वयम् । अशीतिर्नियुते द्वे च माहेन्द्रस्यात्मरक्षिणाम् ॥१५५

। २८८००० । २८०००० ।

चत्वारिंशत्सहस्रोना युग्मेषु खलु पञ्चसु । अशीतिः स्युः सहस्राणि एवमारणयुग्मके ॥१५६

। २४०००० । २००००० । १६०००० । १२०००० । ८०००० । ८०००० ।

आत्मरक्षा बहीरक्षा इन्द्राणां ते चतुर्दिशम् । प्रत्येकं तच्चतुर्भागः सामानिकसमो दिशि ॥१५७

अभ्यन्तराः परिषदः सहस्रं द्वादशाहतम् । ईशाने द्विसहस्रोनं[1] तृतीये च तथा परे ॥१५८

। १२००० । १०००० । ८००० । ६००० ।

चतुर्गुणं सहस्रं तु ब्रह्मणश्चोत्तरस्य[2] च । युग्मेषु त्रिषु शेषे च हानिरर्धार्धमिष्यते ॥१५९

। ४००० । २००० । १००० । ५०० । २५० ।

समिता परिषन्नाम्ना चन्द्रेति स्यादतः परा । द्विसहस्राधिका पूर्वाद् द्विगुणा लान्तवादिषु ॥१६०

। १४००० । १२००० । १०००० । ८००० । ६००० । ४००० । २००० । १००० । ५०० ।

द्विसहस्राधिका भूयः प्रत्येकं बाहिरा भवेत् । शुक्राद्या द्विगुणा मध्या जतुरेषा च नामतः ॥१६१

। १६००० । १४००० । १२००० । १०००० । ८००० । ६००० । ४००० । २००० । १००० ।

आत्मरक्ष देव सौधर्म इन्द्रके तीन लाख छत्तीस हजार (३३६०००), ईशान इन्द्रके तीन लाख दो अयुत अर्थात् बीस हजार (३२००००), तृतीय इन्द्रके दो लाख अठासी हजार (२८८०००), माहेन्द्रके दो लाख अस्सी हजार (२८००००) तथा आगे पांच युगलोंमें उत्तरोत्तर चालीस हजार कम (२४००००, २०००००, १६००००, १२००००, ८००००) हैं। इसी प्रकार वे आत्मरक्ष देव आरणयुगलमें अस्सी हजार (८००००) हैं। इन्द्रोंके जो बाह्य रक्षक (लोकपाल) देव होते हैं वे चारों दिशाओंमें रहते हैं। ये देव सामानिक देवोंके समान अपने चतुर्थ भाग प्रमाण प्रत्येक दिशामें रहते हैं ॥ १५४-१५७ ॥

अभ्यन्तर पारिषद देव सौधर्म इन्द्रके बारह हजार (१२०००), ईशान इन्द्रके इनसे दो हजार कम (१००००), इनसे तृतीय और चतुर्थ इन्द्रके दो दो हजार कम (८०००, ६०००), ब्रह्म और ब्रह्मोत्तरके चार हजार (४०००), इसके आगे तीन युगलों और आनतादि चारमें उत्तरोत्तर इनसे आधे आधे (२०००, १०००, ५००, २५०) माने जाते हैं ॥ १५८-१५९ ॥ इस अभ्यन्तर परिषद्का नाम समिता है। दूसरी मध्यम परिषद्का नाम चन्द्रा है। पूर्व अभ्यन्तर पारिषद देवोंकी अपेक्षा मध्यम पारिषद देव प्रथम पांच स्थानोंमें दो दो हजार अधिक तथा लान्तवादि शेष चार स्थानोंमें उनसे दूने हैं– सौ. १४०००, ई. १२०००, स. १००००, मा. ८०००, ब्रह्मयुगल ६०००, लां. का. ४०००, शु. म. २०००, श. स. १०००, आनतादि ५०० ॥ १६० ॥ इनसे बाह्य पारिषद देव प्रत्येकके मध्यम पारिषदोंकी अपेक्षा दो दो हजार अधिक हैं। परन्तु शुक्र आदिके वे मध्यम पारिषद देवोंसे दूने हैं – सौ १६००० ई. १४००० स. १२००० मा. १०००० ब्रह्मयुगल ८००० लां का. ६००० शु. म. ४००० श. स. २००० आनतादि १०००। यह परिषद् नामसे जतु कही जाती है ॥ १६१ ॥

---

१ आ प सहस्रोक्तंनं । २ आ प ब्रह्मणस्योत्तरस्य ।

पद्मा शिवा शशी चैव अञ्जुका रोहिणीति च। नवमी च बला चेति अर्चिनी चाष्टमी मता ॥१६२
षोडशस्त्रीसहस्राणि रूपोनानि प्रकुर्वते। अष्टावग्रमहिष्योऽपि परिवारोऽपि तत्समः ॥१६३
। १५९९९ । १५९९९ ।
द्वात्रिंशत्तु सहस्राणि सौधर्मेन्द्रस्य वल्लभाः। [1]कनकश्रीर्मुखं चासां तावन्त्यस्तस्य योषितः ॥१६४
। ३२००० । १६०००० ।
कृष्णा च मेघराजी च रामा वै रामरक्षिता। वसुश्च वसुमित्रा च वसुरम्या वसुंधरा ॥१६५
ईशानस्याग्रपत्न्यस्ताः सौधर्मस्येव वर्णना। देवी कनकमालेति वल्लभा चास्य कीर्तिता ॥१६६
अष्टौ सहस्राण्येकस्याः परिवारोऽग्रयोषिताम्। वल्लभा अपि तावन्त्यस्तृतीयस्य द्विसप्ततिः ॥१६७
। ८००० । ७२००० ।
द्वात्रिंशत्तु सहस्राणि विक्रियाश्चैकयोषितः। अयमेव क्रमो वाच्यो माहेन्द्रस्य च योषिताम् ॥१६८
। ३२००० ।
चतुस्त्रिंशत्सहस्राणि ब्रह्मेन्द्रस्य वरस्त्रियः। वल्लभा द्वे सहस्रे च तासु देवीषु वर्णिताः ॥१६९
चतुःषष्टिसहस्राणि एकस्या अपि विक्रियाः। चतुःसहस्रसंयुक्ता अग्रदेव्योऽस्य भाषिताः ॥१७०
। ४००० ।
तावन्त्य एव विज्ञेया देव्यो ब्रह्मोत्तरस्य तु। ब्रह्मवच्छेषमाख्येयं विक्रियादिषु योषिताम् ॥१७१

पद्मा, शिवा, शची, अंजुका, रोहिणी, नवमी, बला और अर्चिनी ये आठ [सौधर्म इन्द्र की] अग्रदेवियां मानी गई हैं। वे आठों ही अग्रदेवियां एक कम सोलह हजार (१५९९९) स्त्रियोंकी विक्रिया करती हैं। उतना (१५९९९) ही उनका परिवार भी है ॥ १६२-१६३ ॥ सौधर्म इन्द्रके बत्तीस हजार (३२०००) वल्लभा देवियां हैं। उनमें मुख्य वल्लभा देवीका नाम कनकश्री है। उस सौधर्म इन्द्रकी उतनी [(१६०००×८) + ३२००० = १६००००] देवियां हैं ॥ १६४ ॥

कृष्णा, मेघराजी, रामा, रामरक्षिता, वसु, वसुमित्रा, वसुरम्या और वसुंधरा ये आठ ईशान इन्द्रकी अग्रदेवियां हैं। इनका वर्णन सौधर्म इन्द्रकी अग्रदेवियोंके समान है। उसके कनकमाला नामकी वल्लभा देवी कही गई है ॥ १६५-६६ ॥ तृतीय सनत्कुमार इन्द्रकी अग्र-देवियोंमेंसे प्रत्येककी आठ हजार परिवारदेवियां हैं। इतनी (८०००) ही उसकी वल्लभा देवियां भी हैं। इस प्रकार तृतीय इन्द्रके सब बहत्तर हजार (अग्रदेवियां ८ × परि. दे. ८००० + वल्लभा ८००० = ७२०००) देवियां है। उनमें एक एक देवी बत्तीस हजार (३२०००) रूपोंकी विक्रिया करती है। यही क्रम माहेन्द्र इन्द्रकी भी देवियोंका कहना चाहिये ॥ १६७-६८

ब्रह्म इन्द्रके चौंतीस हजार [(४०००×८) + २०००] उत्तम स्त्रियां हैं। उन देवियोंमें दो हजार (२०००) वल्लभा देवियां कही गई हैं। इसकी अग्रदेवियां चार चार हजार (४०००) परिवारदेवियोंसे संयुक्त कही गई हैं। उनमें प्रत्येक चौंसठ हजार (६४०००) रूपोंकी विक्रिया करती हैं ॥ १६९-१७० ॥ ब्रह्मोत्तर इन्द्रके भी उतनी (३४०००) ही देवियां जाननी चाहिये। देवियोंकी विक्रिया आदिके विषयमें शेष वर्णन ब्रह्म इन्द्रके समान जानना चाहिये ॥ १७१ ॥

१ ब कनकं°।

परिवारः सहस्रे द्वे लान्तवस्याङ्गनास्वपि । वल्लभास्तु सहस्रार्धं पूर्ववद्द्विगुणविक्रियाः ॥१७२

। १२८००० । सर्वा १६५०० ।

कापित्थे लान्तवस्येव तस्यार्धं शुक्रयोषितः । परीवारः सहस्रं तु शते सार्धे च वल्लभाः ॥१७३

। ८२५० ।

तथैव स्यान्महाशुक्रे विक्रियाः द्विगुणा द्वयोः । अष्टावष्टौ महादेव्यः एतयोरपि भाषिताः ॥१७४

। २५६००० ।

सहस्रार्धं परीवारः शतारस्याग्रयोषितः । पञ्चविंशं शतं चापि वल्लभास्तस्य कीर्तिताः ॥१७५

। १२५ । सर्वाः ४१२५ ।

द्विगुणा विक्रिया चात्र सहस्रारेऽपि तादृशाः । सरूपाणां पुनश्चासामर्धमानतयोषितः[1] ॥१७६

। ५१२००० । २०६३ ।

शतद्वयं पुनः सार्धं परिवारोऽग्रयोषिताम् । [2]त्रिषष्टिर्वल्लभा द्विगुणा विक्रिया आरणे तथा ॥१७७

। २५० । ६३ । १०२४००० ।

सौधर्मदेवीनामानि दक्षिणेन्द्राग्रयोषिताम् । ईशानदेवीनामानि उत्तरेन्द्राग्रयोषिताम् ॥१७८

षड्युग्मशेषकल्पेषु आदिमध्यान्तवर्तिनाम् । देवीनां परिषदां संख्या कथ्यते च यथाक्रमम् ॥१७९

लान्तव इन्द्रकी अग्रदेवियोंमें प्रत्येकका परिवार दो हजार (२०००) है । उसकी वल्लभा देवियां पांच सौ (५००) हैं । वे पूर्वके समान दूनी (१२८०००) विक्रिया करती हैं । (२०००×८)+५००=१६५०० सब देवियां ॥१७२॥ कापिष्ठ इन्द्रकी देवियोंका वर्णन लान्तव इन्द्रके समान है । शुक्र इन्द्रकी देवियां उससे आधी (८२५०) हैं । उसकी अग्रदेवियोंका परिवार एक एक हजार (१०००-१०००) और वल्लभा देवियां दो सौ पचास (२५०) हैं ॥ १७३ ॥ उसी प्रकार महाशुक्र इन्द्रकी भी देवियोंका प्रमाण (८२५०) है । उन दोनों इन्द्रोंकी अग्रदेवियां पूर्वसे दूनी (२५६०००) विक्रिया करती हैं । इनके भी आठ आठ महादेवियां कही गई हैं ॥ १७४ ॥ शतार इन्द्रकी प्रत्येक अग्रदेवीका परिवार पांच सौ (५००) है । उसकी वल्लभा देवियां एक सौ पच्चीस (१२५) कही गई हैं —(५००×८)+१२५=४१२५ सब देवियां ॥ १७५ ॥ यहां विक्रियाका प्रमाण पहिलेसे दूना (५१२०००) है । उक्त देवियां इसी प्रकार (४१२५) सहस्रार इन्द्रके भी हैं । सुन्दर रूपवाली इन देवियोंके अर्ध भाग प्रमाण देवियां आनत इन्द्रके हैं -(२५०×८)+६३=२०६३ आनतदेवियां । उसकी अग्रदेवियोंका परिवार दो सौ पचास (२५०) है । वल्लभा देवियां उसकी तिरेसठ (६३) हैं । विक्रिया पूर्वकी अपेक्षा यहां दूनी (१०२४०००) है। आरण इन्द्रकी देवियोंकी प्ररूपणा आनत इन्द्रके समान हैं ॥१७६-७७॥

जो नाम सौधर्म इन्द्रकी अग्रदेवियोंके कहे गये हैं वे ही नाम सब दक्षिण इन्द्रोंकी अग्रदेवियोंके हैं । इसी प्रकार ईशान इन्द्रकी अग्रदेवियोंके जो नाम निर्दिष्ट किये गये हैं वे ही नाम सब उत्तर इन्द्रोंकी अग्रदेवियोंके हैं ॥ १७८ ॥

अब यहां छह युगलों और शेष चार कल्पोमें क्रमसे आदि, मध्य और अन्तिम परिषद्में रहनेवाले पारिषद देवोंकी देवियोंकी संख्या कही जाती है– पांच सौ, छह सौ, सात सौ; चार सौ,

१ प योषिताम् । २ आ प त्रिषष्टि° ।

शतानि पञ्च षट् सप्त चतुःपञ्चकषट्छतम् । शतानां त्रिचतुःपञ्च द्विकत्रिकचतुःशतम् ॥१८०
। ५०० । ६०० । ७०० । ४०० । ५०० । ६०० । ३०० । ४०० । ५०० । २०० । ३०० । ४०० ।
एकद्वित्रिशतान्येव शतार्धं च शतं शते । पञ्चवर्गश्च पञ्चाशच्छतमेकं[1] भवेदिति ॥१८१
कालर्द्धिपरिवाराश्च[2] विक्रिया चेन्द्रसंश्रिताः । तादृशस्तत्प्रतीन्द्रेषु त्रायस्त्रिंशसमेष्वपि ॥१८२
उक्तं च [ति. प. ८-२८६]--
पडिइंदाणं सामाणियाण तेत्तीससुरवराणं च । दस भेदा परिवारा णियइंदसमाण[3] पत्तेक्कं ॥८
वृषभास्तुरगाश्चैव रथा नागाः पदातयः । गन्धर्वा नर्तिकाश्चेति सप्तानीकानि चक्षते ॥१८३
पुरुषाः षडनीकानि सप्तमं नर्तिकास्त्रियः । सेनामहत्तरा षट् स्युरेका सेनामहत्तरी ॥१८४
दामेष्टिर्हरिदामा च मातल्यैरावतौ ततः । वायुश्चारिष्टकीर्तिश्च अग्रा नीलाञ्जनापि च ॥१८५
महादामेष्टिनामा च नाम्नामितगतिस्तथा । मन्थरो रथपूर्वश्च पुष्पदन्तस्तथैव च ॥१८६
पराक्रमो लघुपूर्वश्च नाम्ना [4]गीतरतिस्तथा । महासेना[5] क्रमेणैते ईशानानीकमुख्यकाः ॥१८७
पूर्वोक्तानीकमुख्यास्ते दक्षिणेन्द्रेषु कीर्तिताः । अपरोक्तानीकमुख्यास्ते चोत्तरेन्द्रेषु वर्णिताः ॥१८८
सप्तकक्षं भवेदेकं कक्षाः पञ्चाशदेकहा । अशीतिश्चतुरग्रा च सहस्राण्यादिमाः पृथक् ॥१८९
। ४९ । ८४००० ।

पांच सौ, छह सौ; तीन सौ, चार सौ, पांच सौ; दो सौ, तीन सौ, चार सौ; एक सौ, दो सौ, तीन सौ; पचास, सौ, दो सौ; तथा पच्चीस, पचास व सौ। सौ. ई. आ. पा. ५०० म. ६०० अ ७००; स. मा. आ. ४०० म. ५०० अ. ६००; ब्रह्मयुगल आ. ३०० म. ४०० अ. ५००; लां. का. आ. २०० म. ३०० अ. ४००; शु. म. आ. १०० म. २०० अ. ३००; श. स. आ. ५० म. १०० अ. २००; आनतादि आ. २५ म. ५० अ. १०० ॥ १७९-१८१ ॥

आयु, ऋद्धि, परिवार और विक्रिया इनका प्रमाण जिस प्रकार इन्द्रोंके कहा गया है उसी प्रकार वह सब उनके प्रतीन्द्रों, त्रायस्त्रिंशों और सामानिकोंके भी जानना चाहिये ॥१८२॥ कहा भी है --

प्रतीन्द्र, सामानिक और त्रायस्त्रिंश देवोंमेंसे प्रत्येकके दस भेदरूप परिवार अपने अपने इन्द्रके समान होता है ॥ ८ ॥

बैल, घोड़ा, रथ, हाथी, पादचारी, गन्धर्व और नर्तकी; ये सात अनीक कही जाती हैं ॥ १८३ ॥ प्रथम छह अनीक पुरुषरूप और सातवीं नर्तकी अनीक स्त्रीरूप है । उनमें छह सेनामहत्तर और एक सेनामहत्तरी होती है ॥ १८४॥ दामेष्टि, हरिदाम, मातलि, ऐरावत, वायु और अरिष्टकीर्ति ये छह सेनामहत्तर तथा सातवीं नीलांजना महत्तरी; ये सात सेनाप्रमुख [सौधर्म आदि दक्षिण इन्द्रोंके होते हैं] ॥१८५॥ महादामेष्टि, अमितगति, रथमन्थर, पुष्पदन्त, लघुपराक्रम, गीतरति और महासेना ये सात सेनाप्रमुख ईशान इन्द्रके होते हैं ॥ १८६-१८७ ॥ वे पूर्वोक्त सात सेनाप्रमुख दक्षिण इन्द्रोंके तथा बादमें कहे गये वे सात सेनाप्रमुख उत्तर इन्द्रोंके कहे गये हैं ॥ १८८ ॥ उपर्युक्त सात अनीकोंमेंसे प्रत्येक सात कक्षाओंसे सहित होती है । इस प्रकार उन सात अनीकोंमें एक कम पचास (४९) कक्षायें होती हैं । सौधर्म इन्द्रकी सात अनीकोंकी पृथक्

१ आ प 'च्छत् शतमेकं । २ आ प परिवारा च । ३ ति प इंदसमा य । ४ ब नीत° । ५ ब हासेना ।

क्रमेण द्विगुणाः कक्षाः सर्वासामपि संग्रहः । त्रीणि शून्यानि षट्सप्तषट्चतुःसप्तकानि च ॥१९०
शेषाणामाद्यकक्षाश्च स्वसामानिकसंख्यकाः । क्रमेण द्विगुणाः कक्षाः संग्रहं तासु लक्षयेत् ॥१९१
परं शून्यचतुष्कात्तु द्वे चैकैकं च सप्त च । शून्यत्रिकात्पुनश्चाष्टौ खखचत्वारि षट् तथा ॥१९२
चतुर्भ्य ऊर्ध्वं शून्येभ्यस्त्रीणि द्वे द्वे पुनश्च षट् । ब्रह्मे चत्वारि च त्रीणि त्रीणि पञ्च तथोत्तरे ॥
पञ्च चत्वारि चत्वारि चत्वारि च पुनर्द्वयोः । षट् पञ्च पञ्च च त्रीणि शुक्रयुग्मे भवन्ति च ॥१९४
सप्त षट् षड् द्विकं चैव शतारद्वितये पुनः । अष्ट सप्त च सप्तैकमानतादिचतुष्टये ॥१९५

पृथक् प्रथम कक्षाका प्रमाण चौरासी हजार (८४०००) है ॥ १८९ ॥ उसकी दूसरी-तीसरी आदि कक्षाओंका प्रमाण क्रमशः उत्तरोत्तर इससे दूना होता गया है । सौधर्म इन्द्रकी सब (४९) कक्षाओंका प्रमाण अंकक्रमसे तीन शून्य, छह, सात, छह, चार और सात (७४६७६०००) इतना है ॥ १९० ॥

शेष ईशानादि इन्द्रोंकी प्रथम कक्षाओंका प्रमाण अपने अपने सामानिक देवोंकी संख्याके समान है । उनकी द्वितीय आदि कक्षाओंका प्रमाण उत्तरोत्तर इससे दूना है । उनकी समस्त कक्षाओंका संकलित प्रमाण क्रमशः इस प्रकार जानना चाहिये— शून्य चार, दो, एक, एक और सात (७११२००००); इतना ईशान इन्द्रकी समस्त अनीकका प्रमाण है । तीन शून्य, आठ, शून्य, शून्य, चार और छह (६४००८०००); इतना सनत्कुमार इन्द्रकी समस्त अनीकका प्रमाण है । चार शून्य, तीन, दो, दो और छह (६२२३००००); इतना माहेन्द्र इन्द्रकी समस्त अनीकका प्रमाण है । चार शून्य, चार, तीन, तीन, और पांच (५३३४००००) इतना ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर इन्द्रकी पृथक् पृथक् समस्त अनीकका प्रमाण है । चार शून्य, पांच, चार, चार और चार (४४४५००००); इतना आगेके दो इन्द्रों (लान्तव और कापिष्ठ) की समस्त अनीकका प्रमाण है । चार शून्य, छह, पांच, पांच और तीन (३५५६००००); इतना शुक्रयुगलकी समस्त अनीकका प्रमाण है । चार शून्य, सात, छह, छह और दो (२६६७००००); इतना शतारयुगलकी समस्त अनीकका प्रमाण है । चार शून्य, आठ, सात, सात और एक (१७७८००००); इतना आनतादि चारकी समस्त अनीकका प्रमाण है ॥ १९१-१९५ ॥

विशेषार्थ– दुगुणे दुगुणे क्रमसे वृद्धिको प्राप्त होनेवाली अनीककी उपर्युक्त सात कक्षाओंके संकलित धनको लानेके लिये निम्न करणसूत्रका उपयोग होता है– गच्छके बराबर गुणकारोंको रखकर उनको परस्पर गुणा करनेसे जो प्राप्त हो उसमेंसे एक अंक कम करके शेषमें एक कम गुणकारका भाग देकर मुखसे गुणित करनेपर विवक्षित धन प्राप्त हो जाता है। प्रकृतमें सौधर्म इन्द्रकी प्रथम अनीककी प्रथम कक्षाका प्रमाण (८४०००) मुख, गुणकार २ और गच्छ ७ है । अत एव उक्त प्रक्रियाके अनुसार सात स्थानोंमें गुणकार २ को रखकर परस्पर गुणा करनेपर $२\times२\times२\times२\times२\times२\times२=१२८$ प्राप्त होते हैं, उसमें एक कम करके एक कम गुणकारका भाग देकर मुखसे गुणित करनेपर $(१२८-१)\div(२-१)\times८४०००=१०६६८०००$ इतना प्रथम अनीककी सातों कक्षाओंका समस्त प्रमाण प्राप्त हो जाता है । इसको सातसे गुणित करनेपर सौधर्म इन्द्रकी सातों अनीकोंका समस्त प्रमाण प्राप्त हो जाता है–$१०६६८०००\times७=७४६७६०००$ । इसी प्रकारसे ईशान आदि शेष इन्द्रोंकी भी अनीकोंका प्रमाण ले आना चाहिये जो निम्न प्रकार है–

	प्रथमानीकसंख्या	एकानीकसंख्या	सर्वानीकसंख्या
	८४०००	१०६६८०००	७४६७६०००
	८००००	१०१६००००	७११२००००
	७२०००	९१४४०००	६४००८०००
श्लोकसप्तकरचना --	७००००	८८९००००	६२२३००००
	६००००	७६२००००	५३३४००००
	५००००	६३५००००	४४४५००००
	४००००	५०८००००	३५५६००००
	३००००	३८१००००	२६६७००००
	२००००	२५४००००	१७७८००००

सोमो यमश्च वरुणः कुबेरश्चेति लोकपाः । एकैकस्य तु चत्वारः पूर्वाद्ये दिक्चतुष्टये ॥१९६
तुल्यर्द्धयः सोमयमाः दक्षिणेन्द्रेषु कीर्तिताः । अधिका वरुणास्तेभ्यः कुबेरा अधिकास्ततः ॥१९७
महर्द्धिकास्तु वरुणा उत्तरेन्द्रेषु भाषिताः । तेभ्यो हीनाः कुबेराः स्युस्तेभ्यो हीनाः समाः परे ॥
प्रत्येकं लोकपालानां स्त्रीसहस्रं चतुर्गुणम् । सामानिकाश्च तावन्तो देव्य एषां च पूर्ववत् ॥१९९
। ४००० । ४०० (?) । ४००० ।
सहस्रं परयोर्देव्यस्ताभिः सामानिकाः समाः । तेषामप्येकशो देव्यस्तावन्त्य इति भाषिताः ॥२००
। १००० । १००० ।

इन्द्र	प्रथम कक्षा	एक अनीककी समस्त संख्या	सातों अनीकोंकी समस्त संख्या
सौधर्म	८४०००	१०६६८०००	७४६७६०००
ईशान	८००००	१०१६००००	७११२००००
सनत्कुमार	७२०००	९१४४०००	६४००८०००
माहेन्द्र	७००००	८८९००००	६२२३००००
ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर	६००००	७६२००००	५३३४००००
लान्तव और का.	५००००	६३५००००	४४४५००००
शुक्र और महा.	४००००	५०८००००	३५५६००००
शतार-सहस्रार	३००००	३८१००००	२६६७००००
आनतादि चार	२००००	२५४००००	१७७८००००

एक एक इन्द्रके पूर्वादिक चार दिशाओंमें क्रमसे सोम, यम, वरुण और कुबेर ये चार लोकपाल होते हैं ॥ १९६ ॥ दक्षिण इन्द्रोंमें सोम और यम ये समान ऋद्धिवाले, उनसे अधिक वरुण तथा उनसे भी अधिक कुबेर कहे गये हैं ॥ १९७ ॥ उत्तर इन्द्रोंमें वरुण महाऋद्धिसे सम्पन्न होते हैं, उनसे हीन कुबेर और उनसे भी हीन होकर परस्पर समान ऋद्धिवाले सोम एवं यम कहे गये हैं ॥ १९८ ॥ प्रत्येक लोकपालके चार हजार (४०००) देवियां और उतने (४००० ही सामानिक देव भी होते हैं। इन सामानिक देवोंकी देवियोंका क्रम पूर्वके समान अपने अपने लोकपालके समान जानना चाहिये ॥ १९९ ॥

आगेके दो इन्द्रों (सनत्कुमार व माहेन्द्र) के लोकपालोंमेंसे प्रत्येककी एक हजार (१०००) देवियां और उनके ही बराबर (१०००) सामानिक देव भी होते हैं। उन सामानिक

ब्रह्मयुग्मे सहस्रार्धं देव्यः सामानिका अपि । तदर्धं परयोर्देव्यः सामानिकचतुःशतम् ॥२०१
। ५०० । ५०० । २५० । ४०० ।
पञ्चविंशं शतं देव्यः शुक्रयुग्मे च भाषिताः । एकशो लोकपालानां सामानिकशतत्रयम् ॥२०२
। १५५ [१२५] । ३०० ।
शतारे सोत्तरे [1]देव्यस्त्रिषष्टिर्लोकरक्षिणाम् । सामानिकाश्च[2] तेषां स्युः शुद्धमेव शतद्वयम् ॥२०३
। ६३ । २०० ।
आनते त्वारणे देव्यो द्वात्रिंशल्लोकरक्षिणाम् । सामानिकशतं चैकमेकैकस्येति निर्दिशेत् ॥२०४
। ३२ । १०० ।
लोकपालसुरस्त्रीभिः समाः सामानिकस्त्रियः[3] । द्वयानामग्रदेव्यश्च चतस्रोऽप्येकशो मताः ॥२०५
सौधर्मे सोमयमयोस्तयोः सामानिकेष्वपि । पञ्चाशदन्तःपरिषच्चतुःपञ्चशते परे ॥२०६
वरुणस्य समानां च षष्टिः[4] पञ्चशतानि च । षट्छतानि च वेद्यानि ईशानेऽपि तया द्वयोः ॥२०७
कुबेरस्य समानां च सप्ततिः षट्छतानि च । गणिताः परिषद्देवा बाह्याः सप्तशतानि च ॥२०८
दक्षिणे वरुणस्योक्ताः कुबेरस्योत्तरस्य ताः । कुबेरस्य च याः प्रोक्ता वरुणस्योत्तरस्य ताः ॥२०९

देवोंमेंसे भी प्रत्येकके उतनी (१०००) ही देवियां कही गई हैं ॥ २०० ॥ ब्रह्मयुगलमें प्रत्येक लोकपालकी देवियों और सामानिकोंकी संख्या पांच सौ (५००) है। आगे लान्तवयुगलमें उनकी देवियोंकी संख्या उनसे आधी (२५०) और सामानिक देवोंकी संख्या चार सौ (४००) है ॥ २०१ ॥ शुक्रयुगलमें प्रत्येक लोकपालकी देवियोंका प्रमाण एक सौ पच्चीस (१२५) और उनके सामानिकोंका प्रमाण तीन सौ (३००) है ॥ २०२ ॥ शतार और सहस्रारमें प्रत्येक लोकपालकी तिरेसठ तिरेसठ (६३-६३) देवियां और दो सौ (२००) सामानिक होते हैं ॥ २०३ ॥ आनत और आरणमें प्रत्येक लोकपालके वत्तीस (३२) देवियां और एक सौ (१००) सामानिक कहे जाते हैं ॥ २०४ ॥

सामानिक देवोंकी स्त्रियां प्रमाणमें लोकपालोंकी स्त्रियोंके समान होती हैं। इन दोनों मेंसे प्रत्येकके अग्रदेवियां चार मानी गई हैं ॥ २०५ ॥

सौधर्म कल्पके भीतर सोम, यम और उन दोनोंके सामानिक देवोंमें भी अभ्यन्तर परिषद्का प्रमाण पचास तथा आगेकी मध्य और वाह्य परिषदोंका प्रमाण क्रमसे चार सौ और पांच सौ है। वरुण और उसके सामानिक देवोंकी उक्त तीनों परिषदोंका प्रमाण क्रमशः साठ, पांच सौ, और छह सौ जानना चाहिये। ईशान कल्पमें भी सोम व यम तथा इन दोनोंके सामानिक देवोंकी उक्त तीनों परिषदोंका प्रमाण सौधर्म कल्पके समान समझना चाहिये। सौधर्म कल्पमें कुबेर और उसके सामानिकोंकी प्रथम दो परिषदोंका प्रमाण क्रमसे सत्तर व छह सौ तथा वाह्य परिषद्का प्रमाण सात सौ है। दक्षिणमें जो वरुणकी परिषदोंका प्रमाण कहा गया है वह उत्तरमें कुबेरकी परिषदोंका तथा दक्षिणमें कुबेरकी जो परिषदोंका प्रमाण कहा गया है वह उत्तरमें वरुणकी परिषदोंका जानना चाहिये ॥ २०६-२०९ ॥ उक्त चार श्लोकोंमें निर्दिष्ट लोकपालों और सामानिकोंकी परिषदोंका प्रमाण इस प्रकार है—

---

१ प देव्यस्त्रिपष्ठि । २ प सामानिका च । ३ प सामानिकास्त्रियः । ४ प षष्ठिः ।

	सोम-यम	वरुण	कुबेर	सोम-यम	वरुण	कुबेर
चतुःश्लोक-	सौ ५०	सौ ६०	सौ ७०	ई ५०	७०	६०
रचना –	४००	५००	६००	४००	६००	५००
	५००	६००	७००	५००	७००	६००

तथैव सर्वकल्पेषु आच्युताल्लोकरक्षिणाम् । ज्ञातव्याः परिषद्देवा इत्याचार्यैरभीप्सितम् ॥२१०
विंशतिश्चाष्टसंयुक्ता सहस्राणां पृथग्मताः । सप्तानीकाद्यकक्षाणां द्विगुणाश्च क्रमोत्तराः ॥२११
। २८००० । एकानीकसंख्या ३५५६००० । समस्तानीकसंख्या २४८९२००० ।
एवं सर्वेषु कल्पेषु सर्वेषां लोकरक्षिणाम् । संख्यातव्यान्यनीकानि पौराणिकमहर्षिभिः ॥२१२
शाक्रयोः सोमयमयोस्तयोः सामानिकेष्वपि । आयुः पल्यद्वयं सार्धं तदर्धं खलु योषिताम् ॥२१३
। $\frac{5}{2}$ । $\frac{5}{4}$ ।
द्वादशाहात् पुनः[1] सार्धान्मनसाहारसेवनम् । मुहूर्तेभ्यश्च तावद्भ्यस्तेषामुच्छ्वसनं मतम् ॥२१४
। $\frac{25}{2}$ । $\frac{25}{2}$ ।
षडहात्पादसंयुक्ताद्देव्याहारनिषेवणम् । मुहूर्तेभ्यश्च तावद्भ्यस्तासामुच्छ्वसनक्षणम् ॥२१५
। $\frac{25}{4}$ । $\frac{25}{4}$ ।
वरुणस्य समानां च न्यूनपल्यत्रयं भवेत् । देशोनपक्षादाहारः श्वासस्तावन्मुहूर्तकैः ॥२१६
। ३ । दि १५ । मु १५ ।

सौधर्म

	सोम	यम	वरुण	कुबेर
आ.	५०	५०	६०	७०
म.	४००	४००	५००	६००
बा.	५००	५००	६००	७००

ईशान

	सोम	यम	वरुण	कुबेर
आ.	५०	५०	७०	६०
म.	४००	४००	६००	५००
बा.	५००	५००	७००	६००

अच्युत पर्यन्त सब कल्पोंमें लोकपालोंके पारिषद देवोंका प्रमाण उसी प्रकार जानना चाहिये, यह आचार्योंको अभीष्ट है ॥ २१० ॥ लोकपालोंकी सात अनीकोंकी प्रथम कक्षाका प्रमाण अट्ठाईस हजार माना गया है । आगेकी कक्षाओंमें वह क्रमसे उत्तरोत्तर दूना होता गया है । प्रथम कक्षा २८०००, समस्त एक अनीक ३५५६०००, समस्त सात अनीक २४८९२००० ॥ २११ ॥ इसी प्रकार सब कल्पोंमें सब लोकपालोंकी अनीकोंकी संख्या प्राचीन महर्षियोंके द्वारा निर्दिष्ट की गई है ॥ २१२ ॥

सौधर्म इन्द्रके सोम और यम इन दो लोकपालों तथा उनके सामानिक देवोंकी भी आयु अढ़ाई ($2\frac{1}{2}$) पल्य मात्र होती है । उनकी स्त्रियोंकी आयु उससे आधी ($1\frac{1}{4}$) पल्य जानना चाहिये ॥ २१३ ॥

सौधर्म इन्द्रके लोकपाल साढ़े बारह ($12\frac{1}{2}$) दिनमें मानसिक आहारका उपभोग करते हैं । इतने ($12\frac{1}{2}$) ही मुहूर्तोंमें उनका उच्छ्वास लेना माना गया है ॥ २१४ ॥ उनकी देवियां सवा छह ($6\frac{1}{4}$) दिनमें आहारका सेवन करती हैं तथा उतने ($6\frac{1}{4}$) ही मुहूर्तोंमें वे उच्छ्वास लेती हैं ॥ २१५ ॥

वरुण और उसके सामानिक देवोंकी आयु कुछ कम तीन (३) पल्य प्रमाण होती है । उनके आहारकालका प्रमाण कुछ कम एक पक्ष (१५ दिन) तथा उच्छ्वासकालका प्रमाण

१ ब द्वादशाहा पुनः ।

एतेषामपि देवीनां सार्धपल्यायुरूनकम् । आहारो न्यूनपक्षार्धाच्छ्वासस्तावन्मुहूर्तकैः[1] ॥२१७

। $\frac{३}{२}$ । दि $\frac{१५}{२}$ । मु $\frac{१५}{२}$ ।

कुबेरस्य समानां च स्त्रीणां च वरुणक्रमम्[2] । किंतु संपूर्णमाख्येयं श्वासाहारायुषां स्थितम् ॥२१८

समसोमयमानां च ऐशानायुस्त्रिपल्यकम् । न्यूनपक्षात्तथाहारः [3]श्वासस्तावन्मुहूर्तकैः ॥२१९

। ३ । दि १५ । मु १५ ।

सार्धपल्यायुषो देव्यः सार्धसप्ताहभुक्तयः । [3]श्वासस्तावन्मुहूर्तैश्च त्रयं देशोनमेव तत् ॥२२०

। प $\frac{३}{२}$ । दि $\frac{१५}{२}$ । मु $\frac{१५}{२}$ ।

कुबेरस्य समानां च देवीनामपि सोमवत् । संपूर्ण वरुणानां तु सातिरेकं त्रयं भवेत् ॥२२१

अच्युतात्[4] त्रिवर्गस्य पूर्वतः पूर्वतः क्रमात् । वर्धयेत्पल्यमेकैकं जीवितेषु विशारदः ॥२२२

सामानिकप्रतीन्द्राणां त्रायस्त्रिंशेन्द्रसंज्ञिनाम् । देव्यः षष्टिसहस्राणि[5] नियुतं चादिकल्पयोः ॥२२३

। १६०००० ।

शतानि पञ्च षट् सप्त देव्यः परिषदामपि । आसन्नमध्यबाह्यानां यथासंख्यं विभाजयेत् ॥२२४

। ५०० । ६०० । ७०० ।

उतने (१५) ही मुहूर्त है ॥ २१६ ॥ इनकी देवियोंकी भी आयु कुछ कम डेढ़ ($\frac{३}{२}$) पल्य, आहारकाल कुछ कम आधा पक्ष ($\frac{१५}{२}$ दिन) और उच्छ्वासकाल उतने ($\frac{१५}{२}$) ही मुहूर्त प्रमाण है ॥ २१७ ॥

कुबेर, उसके सामानिक और उनकी स्त्रियोंकी आयु, आहार एवं उच्छ्वासका क्रम वरुण लोकपालके समान है । किन्तु उनका वह प्रमाण कुछ कमके स्थानमें सम्पूर्ण कहना चाहिये ॥२१८॥

ईशान इन्द्रके सोम और यम लोकपालों तथा उनके सामानिकोंकी आयु तीन (३) पल्य, आहारकाल कुछ कम एक पक्ष (१५ दिन) और उच्छ्वासकाल उतने (१५) ही मुहूर्त प्रमाण है ॥ २१९ ॥

उनकी देवियोंकी आयु डेढ़ ($\frac{३}{२}$) पल्य, आहारकाल साढ़े सात ($\frac{१५}{२}$) दिन तथा उच्छ्वासकाल उतने ($\frac{१५}{२}$) ही मुहूर्त प्रमाण है । परन्तु इन तीनोंका प्रमाण कुछ कम ही जानना चाहिये ॥२२०॥ कुवेर, उसके सामानिक और इनकी देवियोंकी भी आयु आदिका वह प्रमाण सोम लोकपालके समान सम्पूर्ण है । वरुण लोकपाल आदिकी उपर्युक्त आयु आदि उन तीनोंका प्रमाण कुछ अधिक जानना चाहिये ॥ २२१ ॥

विद्वान् मनुष्यको अच्युत पर्यन्त लोकपाल, सामानिक और इनकी देवियां इन तीनोंकी आयुमें क्रमसे पूर्व पूर्वकी अपेक्षा आगे आगे एक एक पल्य वढ़ाना चाहिये ॥ २२२ ॥

प्रथम दो कल्पोंमें सामानिक, प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिंश और इन्द्र संज्ञावालोंके एक लाख साठ हजार (१६००००) देवियां होती हैं ॥ २२३ ॥ अभ्यन्तर, मध्य और वाह्य पारिषद देवोंकी भी देवियां क्रमसे पांच सौ, छह सौ और सात सौ (अ, ५००, म. ६०० वा. ७००)

१ आ प °च्छ्वासं ताव° । २ प स्त्रीणां वरुण° । ३ आ प श्वासं ताव° । ४ [आच्युतात्] ।

सेनामहत्तराणां च तथा खल्वात्मरक्षिणाम् । षट्छतानि त्वनीकानां द्वे शते वाहनेष्वपि ॥२२५
। ६०० । २०० ।
जघन्यमायुः पल्यं स्यादुत्कृष्टं सागरद्वयम् । सौधर्मोत्पन्नदेवानामैशाने तत्तु साधिकम् ॥२२६
। १ । २ ।
समासहस्रद्वयेन आहारेच्छा च जायते । पक्षद्वयेन चोच्छ्वासः सागरद्वयजीविनाम् ॥२२७
। २००० ।
एकं वर्षसहस्रं स्यादाहारे कालनिर्णयः । उच्छ्वासस्यैकपक्षश्च[1] एकसागरजीविनाम् ॥२२८
। १००० । १ ।
सागरोपमसंख्याभिर्गुणयेत् क्रमतः परम् । आहारोच्छ्वासकालानामेवं संख्यानमिष्यते ॥२२९
सप्त सानत्कुमारे स्युर्दश ब्रह्मे चतुर्दश । लान्तवे द्व्यधिकाः शुक्रे शतारेऽष्टादशैव च ॥२३०
। ७ । १० । १४ । १६ । १८ ।
विंशतिश्चानते वेद्या द्व्यधिका सैव चारणे । एकैकवृद्धिः परत एकादशसु भाषिता ॥२३१
। २० । २२ । २३ । २४ । २५ । २६ । २७ । २८ । २९ । ३० । ३१ । ३२ । ३३ ।
उत्कृष्टमायुर्देवानां पूर्वं साधिकमल्पकम्[2] । अनुत्तरेषु [3]द्वात्रिंशत्त्रयस्त्रिंशत्तथाधिकम् ॥२३२
। ३२ । ३३ ।

जानना चाहिये ॥ २२४ ॥ सेनामहत्तरों और आत्मरक्ष देवोंके छह सौ (६००) तथा अनीकों और वाहन देवोंके दो सौ (२००) देवियां होती हैं ॥२२५ ॥

सौधर्म कल्पमें उत्पन्न हुए देवोंकी जघन्य आयु एक (१) पल्य और उत्कृष्ट दो (२) सागर प्रमाण होती है। ऐशान कल्पमें उत्पन्न हुए देवोंकी वह आयु इससे कुछ अधिक होती है ॥ २२६ ॥ जिन देवोंकी आयु दो सागर प्रमाण होती है उनको दो हजार (२०००) वर्षोंमें भोजनकी इच्छा होती है तथा दो पक्षोंमें उच्छ्वास होता है ॥ २२७ ॥ जिन देवोंकी आयु एक (१) सागर प्रमाण है उनके आहार कालका प्रमाण एक हजार (१०००) वर्ष तथा उच्छ्वास-कालका प्रमाण एक पक्ष (१५ दिन) निश्चित है ॥२२८॥ आगे इस आहारकाल और उच्छ्वास-कालको क्रमसे सागरोपमोंकी संख्यासे गुणित करना चाहिये । इस प्रकारसे आगेके कल्पोंमें उक्त काल जाना जाता है । जैसे—सनत्कुमार कल्पमें आयुका प्रमाण चूंकि सात सागर है, इसलिये वहां आहारकालका प्रमाण सात हजार वर्ष और उच्छ्वासकालका प्रमाण सात पक्ष समझना चाहिये ॥ २२९ ॥

देवोंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण सनत्कुमार कल्पमें सात (७) सागरोपम, ब्रह्म कल्पमें दस (१०), लान्तवमें चौदह (१४), शुक्रमें दोसे अधिक चौदह (१६), शतारमें अठारह (१८), आनतमें वीस (२०) तथा आरणमें दो अधिक बीस (२२) सागरोपम जानना चाहिये । इसके आगे नौ ग्रैवेयक, अनुदिश और अनुत्तर इन ग्यारह स्थानोंमें उपर्युक्त आयुप्रमाण (२२ सा.) में उत्तरोत्तर एक एक सागरकी वृद्धि कही गई है ॥ २३०-२३१ ॥ जैसे—प्रथम ग्रैवेयक २३ द्वि ग्रै. २४, तृ. ग्रै. २५ च. ग्रै. २६ पं. ग्रै. २७ ष. ग्रै. २८ स. ग्रै. २९ अ. ग्रै. ३० न. ग्रै. ३१ नौ अनुदिश ३२ और पांच अनुत्तर ३३ सागरोपम ।

पूर्व देवोंकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक होकर आगेके देवोंकी जघन्य आयु मानी गई है। अनुत्तरोंमें जघन्य आयु बत्तीस (३२) सागरोपम तथा उत्कृष्ट तेतीस (३३) सागरोपम प्रमाण

१ आ प उच्छ्वासश्चैक° । २ प साधिकपल्यकम् । ३ आ प द्वात्रिंशत्रय ।

सर्वार्थेऽल्पं च दीर्घं च त्रयस्त्रिंशत्तु सागराः । एवमायूंषि देवानां सौधर्मादिषु कल्पयेत् ॥२३३

। ३३ ।

सर्वार्थायुर्यदुत्कृष्टं तदेवास्मिंस्ततः पुनः । पल्यासंख्येयभागोनमिच्छन्त्येकेऽल्पजीवितम् ॥२३४

त्रायस्त्रिंशत्प्रतीन्द्रेन्द्रसामानिकचतुष्टये । आद्ययोः कल्पयोराहुः साधिकं सागरद्वयम् ॥२३५

परतः क्रमशो वृद्धिरासर्वार्थादुदाहृता । कल्पराजाहमिन्द्राणां सव सामानिकादिषु ॥२३६

पञ्च चत्वारि च त्रीणि अन्तःपरिषदादिषु । पल्यान्यर्धद्वयं चैव सेनान्यात्माभिरक्षिणाम् ॥२३७

। ५ । ४ । ३ । $\frac{5}{2}$ ।

अनीकानीकपत्राणा (?) मेकपल्यं तु साधिकम् । आद्ययोः कल्पयोरेवं क्रमात्पल्योत्तरं परम् ॥

आद्ययोः साधिकं पल्यं देवीनामायुरल्पकम् । पञ्चपल्यं महत्पूर्वं ऐशाने सप्तपल्यकम् ॥२३९

साधिकं सप्तपल्यं स्यात्तृतीये ह्रस्वजीवितम् । अधिकं नवपल्यं तु देवीनां तत्र जीवितम् ॥२४०

साधिकं पूर्वमुत्कृष्टमुत्तरे ह्रस्वजीवितम् । तद् द्विपल्याधिकं भूयस्तत्रैवोत्कृष्टमुच्युते ॥२४१

एवं यावत्सहस्रारं ततः सप्ताधिकं भवेत् । अच्युते पञ्चपञ्चाशत्पल्यानां योषितां स्थितिः ॥२४२

है ॥ २३२ ॥ सर्वार्थसिद्धिमें जघन्य और उत्कृष्ट भी आयु तेतीस (३३) सागरोपम प्रमाण है । इस प्रकार सौधर्मादि कल्पोंमें देवोंकी आयु जाननी चाहिये ॥ २३३॥

सर्वार्थसिद्धिमें जो उत्कृष्ट आयु है पल्यके असंख्यातवें भागसे हीन वही यहां जघन्य आयु है, ऐसा कितने ही आचार्य स्वीकार करते हैं ॥ २३४ ॥

प्रथम दो कल्पोंमें त्रायस्त्रिंश, प्रतीन्द्र, इन्द्र और सामानिक इन चारकी आयु दो सागरोपमसे कुछ अधिक कही जाती है ॥२३५॥ आगे सर्वार्थसिद्धि तक उसमें क्रमसे उत्तरोत्तर वृद्धि कही गई है। जो आयु इन्द्रों व अहमिद्रोंकी है वही सामानिकों आदिकी जानना चाहिये ॥२३६॥ अभ्यन्तर पारिषद आदि देवोंकी आयु क्रमसे पांच, चार और तीन पल्य प्रमाण है (अ. ५ पल्य, म ४, वा. ३) । सेनामहत्तरों और आत्मरक्ष देवोंकी आयु अढाई पल्य ($\frac{5}{2}$) प्रमाण होती है ॥ २३७ ॥ प्रथम दो कल्पोंमें अनीक और अनीकपत्रोंकी (?) आयु कुछ अधिक एक पल्य मात्र है। इस प्रकार प्रथम दो कल्पोंमें यह उनका आयुका प्रमाण कहा गया है । आगे क्रमसे वह एक पल्यसे अधिक होता गया है ॥ २३८ ॥

प्रथम दो कल्पोंमें देवियोंकी जघन्य आयु पल्यसे कुछ अधिक है । उनकी उत्कृष्ट आयु सौधर्म कल्पमें पांच पल्य और ऐशान कल्पमें सात पल्य प्रमाण है ॥ २३९ ॥ तीसरे कल्पमें उनकी जघन्य आयु कुछ अधिक सात पल्य तथा उत्कृष्ट आयु नौ पल्य प्रमाण है ॥ २४० ॥ पूर्वकी जो उत्कृष्ट आयु है वही कुछ अधिक आगे जघन्य समझना चाहिये । वहींपर दो पल्यसे अधिक वह पूर्वकी आयु उत्कृष्ट कही जाती है ॥ २४१ ॥ इस प्रकारसे यह आयुका क्रम सहस्रार कल्प पर्यन्त जानना चाहिये । उसके आगे वह सात पल्यसे अधिक होती गई है । अच्युत कल्पमें देवियोंकी उत्कृष्ट आयु पचपन पल्य प्रमाण है ॥ २४२ ॥

चतुःश्लोकरचना – । ज १ ज १ । उ ५ उ ७ । ९ ११ । १३ १५ । १७ १९ । २१ २३ ।
२५ २७ । ३४ ४१ । ४८ ५५ ।
योजनानां शतं दीर्घा तदर्धं चापि विस्तृता । पञ्चसप्ततिमुद्विद्धा सुधर्मेति सभा शुभा ॥२४३
अष्टयोजनविस्तारैर्द्वारैस्तद्द्विगुणोच्छ्रयैः । रत्नचित्रस्त्रिभिर्युक्ता वेदिकातोरणोज्ज्वला ॥२४४
प्रासादाद्देवराजस्य पूर्वोत्तरदिशि स्थिता । उपपातसभा चात्र सिद्धायतनमेव च ॥२४५
मणिमुक्तेन्द्रनीलैश्च महानीलजलप्रभैः । चन्द्रशुक्रप्रभैश्चापि वैडूर्यकनकप्रभैः ॥२४६
कर्केतनाङ्कसूर्याभैः सुवर्णरजतैः शुभैः । प्रवालवज्रमुख्यैश्च प्रासादाः साधु मण्डिताः ॥२४७
नानामणिमयस्तम्भवेदिकाद्वारतोरणाः । ज्वालार्धचन्द्रचित्राश्च प्रासादाः विविधाः स्मृताः ॥२४८
मुक्ताजालैः सलम्बूषैर्माल्यजालैः सुगन्धिभिः । हेमजालैः सुरत्नैश्च विराजन्ते मनोरमैः ॥ २४९
नानापुष्पप्रकीर्णासु रत्नचित्रासु भूमिषु । देशे देशे मनोज्ञानि वरशय्यासनानि च ॥२५०
उद्यानान्युपसन्नानि सर्वर्तुकुसुमैर्द्रुमैः[1] । वाप्यश्च पुष्करिण्यश्च छन्नाः पद्मोत्पलैरपि ॥२५१
तूर्यगन्धर्वगीतानां शुभाः शब्दाः मनोरमाः । रूपाणि कान्तसौम्यानि गन्धाः[2] सुरभयस्तथा ॥२५२
रसाः परमसुस्वादाः[3] स्पर्शा गात्रसुखावहाः । सर्वकामगुणोपेतो नित्योद्द्योतः सुरालयः ॥२५३

देवियोंकी आयु– ला. का. शु. महा. श. सह. आन. प्रा. आर. अ.
कल्प सौधर्म ऐशान सान. मा. ब्रह्म ब्रह्मो. १५ १७ १९ २१ २३ २५ २७ ३४ ४१ ४८
जघन्य १पल्य १ ७ ९ ११ १३ १७ १९ २१ २३ २५ २७ ३४ ४१ ४८ ५५
उत्कृष्ट ५ ७ ९ ११ १३ १५

सौ (१००) योजन लंबी, इससे आधी (५०) विस्तृत और पचत्तर (७५) योजन ऊंची सुधर्मा नामकी उत्तम सभा (आस्थानमण्डप) है॥ २४३ ॥ यह सभागृह आठ योजन विस्तृत और इससे दूने (१६ यो.) ऊंचे ऐसे रत्नोंसे विचित्र तीन द्वारोंसे संयुक्त तथा वेदिका एवं तोरणद्वारोंसे उज्ज्वल है ॥२४४॥ वह सभाभवन इन्द्रके प्रासादके पूर्वोत्तर कोण (ईशान) में स्थित है। इसके भीतर उपपातसभा और सिद्धायतन भी है ॥ २४५ ॥ वहांपर स्थित अनेक प्रकारके भवन मणि, मोती, इन्द्रनील, महानील, जलकान्त, चन्द्रकान्त, शुक्र (शुक ?) कान्त, वैडूर्यमणि, सुवर्णकान्त, कर्केतन, अंक, सूर्यकान्त, उत्तम सुवर्ण व चांदी तथा प्रवाल एवं वज्र आदिसे अलंकृत; अनेक मणियोंसे निर्मित स्तम्भ, वेदी, द्वार व तोरणोंसे सहित; तथा ज्वाला (?) व अर्धचन्द्रसे विचित्र माने गये हैं। उक्त भवन मोतियोंके समूहों, सुगन्धित माला-समूहों, सुवर्णजालों और मनोहर रत्नोंसे विराजमान हैं ॥ २४६-२४९ ॥ उन भवनोंके भीतर अनेक पुष्पोंसे व्याप्त एवं रत्नोंसे विचित्र भूमियोंमें स्थान स्थानपर मनोहर शय्यायें व आसन, सव ऋतुओंके फूलों युक्त वृक्षोंसे सहित निकटवर्ती उद्यान तथा कमलों व उत्पलोंसे व्याप्त वापियां एवं पुष्करिणियां हैं। स्वर्गमें वाद्यों और गन्धर्वोंके गीतोंके मनोहर उत्तम शब्द, कान्ति युक्त सुन्दर रूप, सुरभि गन्ध, उत्तम स्वादवाले रस तथा शरीरको सुख देनेवाले स्पर्श हैं। इस प्रकारसे निरन्तर प्रकाशमान वह स्वर्ग सव ही अभीष्ट गुणोंसे सहित है ॥ २५०-२५३ ॥

---

१ आ प °मैद्रुमैः । २ प गंधा । ३ प परं सु° ।

तत्र सिंहासने दिव्ये सर्वरत्नमये शुभे । स्वैरं निषण्णो विस्तीर्णे जयशब्दाभिनन्दितः ।।२५४
वृतः सामानिकैर्देवैस्त्रायस्त्रिंशैस्तथैव च । सुखासनस्थैः श्रीमद्भिस्तन्मुखोन्मुखदृष्टिभिः ।।२५५
चित्रभद्रासनस्थाभिर्वामदक्षिणपार्श्वयोः । संक्रीडचमानो देवीभिः क्रीडारतिपरायणः ।।२५६
तत्र योजनविस्तीर्णः षट्कृतिं च समुच्छ्रितः । स्तम्भो गोरुतविस्तारधाराद्वादशसंयुतः ।।२५७
वज्रमूर्तिः सपीठोऽस्मिन् क्रोशतत्पाददीर्घकः । व्यासाश्च रत्नशिक्यस्थास्तिष्ठन्ति च समुद्गकाः ।।

। १ । $\frac{१}{४}$ ।

सक्रोशानि[1] हि षट् तूर्ध्वं योजनान्यसमुद्गकाः । क्रोशन्यूनानि तावन्ति अधश्चाप्यसमुद्गकाः ।।२५९

। $\frac{२५}{४}$ । $\frac{२३}{४}$ ।

जिनानां रुच्यकास्तेषु सुरैः स्थापितपूजिताः । [2]भारतैरावतेशानां सौधर्मैशानयोर्द्वयोः ।।२६०
पूर्वापरविदेहेषु जिनानां रुच्यकाः पुनः । सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोर्न्यस्तपूजिताः ।।२६१
न्यग्रोधाः प्रतिकल्पं च आयागाः पादपाः शुभाः । जम्बूमानाश्चतुःपार्श्वे पल्यङ्कप्रतिमायुताः ।।२६२

उक्तं च [ति. प. ८,४०५–६] —

सयलिंदमंदिराणं पुरदो णग्गोहपायवा होंति । एक्केक्कं पुढविमया पुव्वोदिदजंबुदुमसरिसा ।।९
तम्मूले एक्केक्का जिणिंदपडिमा य पडिदिसं होंति[3] । सक्कादिणमियचलणा सुमरणमेत्ते वि दुरिदहरा

उस सभाभवनमें 'जय-जय' शब्दसे अभिनन्दित इन्द्र दिव्य, सर्वरत्नोंसे निर्मित, शुभ एवं विस्तीर्ण सिंहासनके ऊपर स्वेच्छापूर्वक विराजमान होता है। वह सुखकारक आसनोंपर स्थित एवं उसके मुखकी ओर दृष्टि रखनेवाले ऐसे कान्तियुक्त सामानिक और त्रायस्त्रिंश देवोंसे वेष्टित होकर क्रीड़ामें अनुराग रखता हुआ अपने वाम और दक्षिण भागोंमें अनेक प्रकारके भद्रासनोंपर स्थित देवियोंके साथ क्रीड़ा किया करता है ।। २५४-२५६ ।।

वहां एक योजन विस्तीर्ण, छहके वर्गभूत छत्तीस योजन ऊंचा, एक कोस विस्तारवाली बारह धाराओंसे संयुक्त और पादपीठसे सहित वज्रमय स्तम्भ है। इसके ऊपर एक (?) कोस लंबे और पाव ($\frac{१}{४}$) कोस विस्तृत रत्नमय सींकेके ऊपर स्थित करण्डक है ।। २५७-२५८ ।। मानस्तम्भके ऊपर सवा छह ($६\frac{१}{४}$) योजन ऊपर और पौने छह ($५\frac{३}{४}$) योजन नीचे वे करण्डक नहीं हैं ।। २५९ ।। सौधर्म और ऐशान इन दो कल्पोंमें स्थित उन स्तम्भोंके ऊपर देवोंके द्वारा स्थापित और पूजित भरत एवं ऐरावत क्षेत्रोंके तीर्थंकरोंके आभूषण रहते हैं ।। २६० ।। सनत्कुमार और माहेन्द्र इन दो कल्पोंमें स्थित उन स्तम्भोंके ऊपर देवों द्वारा स्थापित एवं पूजित पूर्व और अपर विदेह क्षेत्रोंके तीर्थंकरोंके आभूषण रहते हैं ।। २६१ ।।

प्रत्येक कल्पमें अपने चारों पार्श्वभागोंमें विराजमान ऐसी पल्यंकासन युक्त प्रतिमाओंसे सुशोभित उत्तम न्यग्रोध आयाग वृक्ष होते हैं। ये वृक्ष प्रमाणमें जम्बूवृक्षके समान हैं ।। २६२ ।। कहा भी है—

समस्त इन्द्रप्रासादोंके आगे पृथिवीके परिणामरूप एक एक न्यग्रोध वृक्ष होते हैं। वे प्रमाण आदिमें पूर्वोक्त जम्बूवृक्षके समान हैं ।। ९ ।। उनके मूल भागमें प्रत्येक दिशामें एक एक जिनप्रतिमा होती है। स्मरण मात्रसे ही पापको नष्ट करनेवाली उन प्रतिमाओंके चरणोंमें इन्द्रादि नमस्कार करते हैं ।। १० ।।

१ ब षट्क्रोशानि । २ प भरतं° । ३ ति. प. होदि ।

सौधर्मे व सभैशाने[1] शेषेन्द्राणां सभास्तथा । उपपातसभाश्चैव अर्हदायतनानि च ॥२६३
शतार्धयामविस्तीर्णाः पुरस्तान्मुखमण्डपाः । वेदिकाभिः परिक्षिप्ता नानारत्नशतोज्ज्वलाः ॥२६४
। १०० । ५० ।
सामानिकादिभिः सार्धम् इन्द्राः पर्वसु सादराः । पूजयन्त्यर्हतां तेषु कथाभिरपि चासते ॥२६५
कल्पेषु परतश्चापि सिद्धायतनवर्णना । आयागाः खलु कल्पेषु सभा ग्रैवेयतः स्मृताः ॥२६६
योजनाष्टकमुद्विद्धा तावदेव च विस्तृता । उपपातसभेन्द्राणां त्रायस्त्रिंशवतां स्मृता ॥२६७
अशोकं सप्तपर्णं च चम्पकं चूतमेव च । पूर्वाद्यानि वनान्याहुर्देवराजबहिःपुरात् ॥२६८
आयतानि सहस्रं च तदर्धं विस्तृतान्यपि । प्राकारः परितस्तेषां मध्ये चैत्यद्रुमा अपि ॥२६९
। १००० । ५०० ।
अर्हतां प्रतिबिम्बानि जाम्बूनदमयानि च । तेषां चतुर्षु पार्श्वेषु निषण्णानि चकासते ॥२७०
वालुकं पुष्पकं चैव सौमनस्यं ततः परम् । [2]श्रीवृक्षं सर्वतोभद्रं प्रीतिकृद्रम्यकं तथा ॥२७१
मनोहरविमानं च अर्चिमाली च नामतः । विमलं च विमानानि यानकानीति लक्षयेत् ॥२७२
नियुतव्यासदीर्घाणि वैक्रियाणीतराणि च । वैक्रियाणि विनाशीनि स्वभावानि ध्रुवाणि[3] च ॥२७३
सौधर्मादिचतुष्के[4] च ब्रह्मादिषु तथा क्रमात् । आनतारणयोश्चैव उक्तान्येतानि योजयेत् ॥२७४
उक्तं च [ति. प. ८–४४१]

सौधर्म कल्पके समान ऐशान कल्पमें भी सभागृह है । उसी प्रकार शेष इन्द्रोंके भी सभागृह, उपपातसभा और जिनायतन होते हैं ॥ २६३ ॥ उनके आगे सौ (१००) योजन दीर्घ, इससे आधे (५० यो.) विस्तीर्ण, वेदिकाओंसे वेष्टित और सैकडों नाना प्रकारके रत्नोंसे उज्ज्वल मुखमण्डप होते हैं ॥२६४॥ उनमें इन्द्र पर्व दिनोंमें सामानिक आदि देवोंके साथ भक्तिसे जिन भगवान्‌की पूजा करते हैं तथा कथाओंके साथ (तत्त्वचर्चा करते हुए) वहां स्थित होते हैं ॥ २६५ ॥ कल्पोंमें तथा आगे ग्रैवेयक आदिमें भी सिद्धायतनका वर्णन करना चाहिये । आयाग (न्यग्रोध वृक्ष) कल्पोंमें तथा सभाभवन ग्रैवेयकमें माने गये हैं (?) ॥ २६६ ॥

त्रायस्त्रिंशोंके साथ इन्द्रोंकी उपपातसभा आठ योजन ऊंची और उतनी ही विस्तृत कही गई है ॥ २६७ ॥

इन्द्रपुरके बाहिर पूर्वादि दिशाओंमें क्रमसे अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्र ये चार वन स्थित हैं ॥ २६८ ॥ वे वन हजार (१०००)योजन लंबे और इससे आधे (५००यो.) विस्तृत हैं । उनके चारों ओर प्राकार और मध्यमें चैत्यवृक्ष स्थित हैं ॥ २६९ ॥ उक्त चैत्यवृक्षोंके चारों पार्श्वभागोंमें पल्यंकासनसे स्थित सुवर्णमय जिनबिम्ब शोभायमान हैं ॥ २७० ॥

वालुक, पुष्पक, सौमनस्य, श्रीवृक्ष, सर्वतोभद्र, प्रीतिकृत्, रम्यक, मनोहर, अर्चिमाली और विमल ये यानविमान जानना चाहिये । ये एक लाख [योजन] लंबे-चौड़े यानविमान विक्रियानिर्मित और प्राकृतिक भी होते हैं । उनमें विक्रियानिर्मित विमान नश्वर और स्वाभाविक विमान स्थिर होते हैं ॥ २७१-२७३ ॥ ये उपर्युक्त विमान क्रमसे सौधर्म आदि चार कल्पों, ब्रह्मादि चार युगलों तथा आनत व आरण कल्प; इस प्रकार इन दस स्थानोंमें कहे गये योजित करना चाहिये ॥ २७४ ॥ कहा भी है—

१ प सौधर्मेव समैशाने । २ प श्रीवृक्ष° । ३ आ प द्रुवाणि । ४ प सौधर्मादिकचतुष्के ।

सोहम्मादिचउक्के कमसो अवसेसछक्कजुगलेसु । होंति उ पुव्वुत्ताइं याणविमाणाणि पत्तेयं ॥११

शस्त्रभाजनवस्त्राणि बहुधा भूषणानि च । पार्थिवानि ध्रुवाण्येव वैक्रियाण्यध्रुवाणि तु ॥२७५

इन्द्राणां कल्पनामानि विमानानि प्रचक्षते । चतुर्दिशं तु चत्वारि तेषां वेद्यानि नामभिः ॥२७६

वैडूर्यं रजतं चैव अशोकमिति पश्चिमम् । मृषत्कसारमन्त्यं च दक्षिणेन्द्राधिवासतः[1] ॥२७७

रुचकं मन्दराख्यं च अशोकं सप्तपर्णकम् । उत्तरेन्द्राधिवासेभ्यः[2] कीर्तितानि चतुर्दिशम् ॥२७८

दक्षिणे [3]लोकपालानां नामान्युक्तानि मन्दरे[4] । तान्येषां वै विमानानि त्रिषु कल्पेषु कल्पयेत् ॥२७९

उक्तं च [ति. प. ८-३००]–

होदि हु सयंपहक्खं वरजेट्ठसयंजणाणि वग्गू य । ताण पहाणविमाणा सेसेसुं दक्खिणिंदेसुं ॥१२

सौम्यं च सर्वतोभद्रं समितं शुभमित्यपि । उत्तरे [5]लोकपालानां संज्ञाः कल्पद्वये मताः ॥२८०

उक्तं च [ति. प ८,३०१-२]–

सोम्मं सव्वदभद्दा सुभद्दसमिदाणि सोमपहुदीणं । होंति पहाणविमाणा सव्वेंसि उत्तरिंदाणं ॥१३

ताणं विमाणसंखा उवएसो णत्थि कालदोसेण[6] । ते सव्वे वि दिगिंदा तेसु विमाणेसु कीडंति ॥१४

सौधर्म आदि पृथक् पृथक् चार कल्पों और शेष छह युगलोंमेंसे प्रत्येकमें क्रमसे पूर्वोक्त यानविमान होते हैं ॥ ११ ॥

शस्त्र, भाजन, वस्त्र और बहुत प्रकारके भूषण ये पृथिवीनिर्मित और वैक्रियिक भी होते हैं । इनमेंसे पृथिवीमय स्थिर और वैक्रियिक अस्थिर होते हैं ॥ २७५ ॥

इन्द्रोंके विमान कल्पनामवाले कहे जाते हैं । उनकी चारों दिशाओंमें वैडूर्य, रजत, अशोक और अन्तिम मृषत्कासार इन नामोंवाले चार विमान जानने चाहिये । ये विमान दक्षिण इन्द्रोंके निवासस्थानकी चारों दिशाओंमें होते हैं ॥ २७६-२७७ ॥ रुचक, मन्दर, अशोक और सप्तपर्ण ये चार विमान उत्तर इन्द्रोंके निवासस्थानोंकी चारों दिशाओंमें कहे गये हैं ॥ २७८ ॥

मन्दर पर्वतकी प्ररूपणामें (१–२६० व २६२ आदिमें) दक्षिण (सौधर्म) इन्द्रके लोकपालोंके विमानोंके जो नाम कहे गये हैं वे तीन कल्पोंमें उनके विमानोंके नाम जानना चाहिये ॥२७९ ॥ कहा भी है–

लान्तव आदि शेष दक्षिण इन्द्रोंमें स्वयंप्रभ, उत्तम ज्येष्ठशत, अंजन और वल्गु ये प्रधान विमान जानना चाहिये ॥ १२ ॥

सौम्य, सर्वतोभद्र, समित और शुभ ये उत्तरमें दो कल्पोमें लोकपालोंके प्रधान विमानोंके नाम माने गये हैं ॥ २८० ॥ कहा भी है–

सौम्य, सर्वतोभद्र सुभद्र और समित ये सब उत्तर इन्द्रोंके सोम आदि लोकपालोंके प्रधान विमान होते हैं ॥ १३ ॥ उनके विमानोंकी संख्याका उपदेश कालदोषसे नष्ट हो गया है । वे सब लोकपाल उन विमानोंमें क्रीड़ा किया करते हैं ॥ १४ ॥

---

१ आ °णेन्द्राविवासतः ब °णेन्द्रादिवासतः । २ ब °रेन्द्रादिवा° । ३ आ ब लौक° । ४ प मंदिरे । ५ आ लोक° । ६ ति. प. कालयवसेण° ।

काम्या च कामिनी पद्मगन्धालम्बूषसंज्ञका। चतस्र ऊर्ध्वलोके तु गणिकानां महत्तराः ॥२८१

उक्तं च [ति. प. ८-४३५]-

गणियामहत्तरीणं समचउरस्सा पुरीओ विदिसासुं। एक्कं जोयणलक्खं पत्तेक्कं दीहवासजुदा ॥१५

। १००००० ।

पञ्चपल्यायुषस्त्वाद्ये द्वितीये सप्तजीविताः। स्थितिरेवं गणिकानां ज्ञेया कन्दर्पा अपि चाद्ययोः ॥

। ५ । ७ ।

आ लान्तवात् किल्विषिकाः आभियोग्यास्तथाच्युतात्। जघन्यस्थितयश्चैते स्वे स्वे कल्पे समीरिताः ॥

द्विद्विकत्रिचतुष्केषु शरीरस्पर्शरूपकः[1]। शब्दचित्तप्रवीचारा अप्रवीचारकाः परे ॥२८४

ऊर्ध्वलोकमें काम्या, कामिनी, पद्मगन्धा और अलंवूषा नामवाली चार गणिकाओंकी महत्तरियां होती हैं ॥ २८१ ॥ कहा भी है-

गणिकामहत्तरियोंकी जो विदिशाओंमें समचतुष्कोण नगरियां हैं उनमेंसे प्रत्येक एक लाख (१०००००) योजन प्रमाण लंबी-चौड़ी हैं ॥ १५ ॥

गणिकाओंकी आयु प्रथम कल्पमें पांच (५) और द्वितीय कल्पमें सात (७) पल्य प्रमाण जानना चाहिये। कन्दर्प देव प्रथम दो कल्पोंमें, किल्विषिक देव लान्तव कल्प तक तथा आभियोग्य देव अच्युत कल्प तक उत्पन्न होते हैं- आगेके कल्पोमें वे उत्पन्न नहीं होते। अपने अपने कल्पमें जो जघन्य आयु कही गई है वे उसी जघन्य आयुसे संयुक्त होते हैं ॥ २८२-२८३ ॥

प्रथम दो कल्पोंके देव कायप्रवीचारसे सहित, आगेके दो कल्पोंके स्पर्शप्रवीचारसे सहित, इसके आगे चार कल्पोंके रूपप्रवीचारसे सहित, उनसे आगे चार कल्पोंमें शब्दप्रवीचारसे सहित, तथा अन्तिम चार कल्पोंमें चित्तप्रवीचारसे सहित होते हैं। आगेके सब देव प्रवीचारसे रहित होते हैं ॥ २८४ ॥

विशेषार्थ- अभिप्राय यह है कि सौधर्म और ऐशान कल्पोंमें रहनेवाले देवोंके जो कामपीड़ा उत्पन्न होती है उसे वे मनुष्योंके समान देवांगनाओंके साथ शारीरिक सम्भोग करके शान्त करते हैं। सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पोंके देव उक्त पीड़ाकी देवांगनाओंके स्पर्शमात्रसे शान्त करते हैं। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ इन चार कल्पोंके देव देवांगनाओंके रूपके अवलोकन मात्रसे ही उस पीड़ाको शान्त करते हैं। शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पोंके देव केवल देवांगनाओंके गीत आदिको सुन करके ही उक्त वेदनासे रहित होते हैं। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन चार कल्पोंके देव मनमें विचार करने मात्रसे ही उस वेदनासे मुक्त होते हैं। आगे ग्रैवेयक आदि कल्पातीत विमानोंमें रहनेवाले देवोंके वह कामपीड़ा उत्पन्न ही नहीं होती।

१ ब रूपक :

आद्ययोः सप्तहस्तोच्चाः परयोः षट्कहस्तकाः। पञ्चरत्निप्रमाणाश्च ब्रह्मलान्तवयोः सुराः ॥२८५
शुक्रदेवाश्चतुर्हस्ता सहस्रारे तथैव च। त्रिहस्ता आनताद्येषु ग्रैवेयेषु द्विहस्तकाः ॥२८६

।४।३ [२]।

अनुत्तरानुदिग्देवा सार्धरत्निप्रमाणकाः। एकहस्तप्रमाणास्तु सर्वार्थे सुरसत्तमाः ॥२८७

।$\frac{1}{2}$। (?)

उक्तं च [त्रि. ५४३]–

दुसु दुसु चदु दुसु दुसु चउ तित्तिसु सेसेसु देहउच्छेहो। रयणीण सत्तछप्पण चत्तारि दलेण हीणकमा ॥

।७।६।५।४।$\frac{7}{2}$।३।$\frac{5}{2}$।२।$\frac{3}{2}$।१।

ऋतुप्रभृतिदेवानां तेजोलेश्या विवर्धते। आ प्रभायाः शताराच्च पद्मातस्त्रिषु वर्धते ॥२८८
आनतादूर्ध्वमूर्ध्वं च आ सर्वार्थविमानतः। प्रस्तरे प्रस्तरे लेश्या शुक्ला देवेषु[1] वर्धते ॥२८९

उक्तं च [ ]–

द्वयोर्द्वयोश्च षट्के च द्वयोस्त्रयोदशस्वपि। चतुर्दशविमानेषु त्रिदशानां यथाक्रमम् ॥१७
पीता च पीतपद्मा च पद्मा वै पद्मशुक्लका। शुक्ला परमशुक्ला[2] च लेश्याः स्युरिति निश्चिताः ॥१८

प्रथम दो कल्पोंके देव सात (७) हाथ ऊंचे, आगेके दो कल्पोंके देव छह (६) हाथ ऊंचे, ब्रह्म और लान्तव कल्पोंके देव पांच (५) हाथ ऊंचे, शुक्र और सहस्रार कल्पोंके देव चार (४) हाथ ऊंचे, शेष आनतादि चार कल्पोंके देव तीन (३) हाथ ऊंचे, ग्रैवेयकोंके दो (२) हाथ ऊंचे, अनुत्तर व अनुदिशोंके देव डेढ़ (१$\frac{1}{2}$) हाथ ऊंचे तथा सर्वार्थसिद्धिके उत्तम देव एक (१) हाथ प्रमाण ऊंचे होते हैं ॥ २८५-२८७ ॥ कहा भी है–

देवोंके शरीरकी ऊंचाई दो कल्पोंमें सात (७), दो कल्पोंमें छह (६), चार कल्पोंमें पांच (५), दो कल्पोंमें चार (४), दो कल्पोमें साढ़े तीन (३$\frac{1}{2}$), चार कल्पोंमें तीन (३), शेष तीन त्रिक (अधस्तन, मध्यम व उपरिम ग्रैवेयक) में क्रमसे अढ़ाई, दो व डेढ़ (२$\frac{1}{2}$, २, १$\frac{1}{2}$) तथा शेष अनुदिश व अनुत्तरोंमें एक (१) हाथ प्रमाण है ॥ १६ ॥

ऋतुको आदि लेकर प्रभा पटल पर्यन्त रहनेवाले देवोंके उत्तरोत्तर तेजोलेश्या बढ़ती जाती है। आगे प्रभा पटलसे शतार पर्यन्त पद्मलेश्या बढ़ती जाती है। आनतसे लेकर ऊपरके कल्प विमानोंमें तथा उसके आगे सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त कल्पातीत विमानोंमें प्रत्येक पटलमें शुक्ल-लेश्या बढ़ती जाती है ॥ २८८-२८९ ॥ कहा भी है–

प्रथम दो कल्पोंमें, आगे सानत्कुमार व माहेन्द्र इन दो कल्पोंमें, ब्रह्मादि छह कल्पोंमें, शतार व सहस्रार इन दो कल्पोंमें, आनतादि चार व नौ ग्रैवेयक इन तेरह स्थानोंमें तथा शेष चौदह (नौ अनुदिश व पांच अनुत्तर) विमानोंमें स्थित देवोंके यथाक्रमसे पीत, पीत व पद्म, पद्म, पद्म व शुक्ल, शुक्ल, तथा उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या होती है; इस प्रकार देवोंमें लेश्याओंका क्रम निश्चित जानना चाहिये ॥ १७-१८ ॥

---

१ प देवीषु। २ प परं शुक्ला।

आद्ययोः कल्पयोर्देवा आ घर्माया विकुर्वते । परयोरा द्वितीयाया आ शैलायाश्चतुर्ष्वपि ॥२९०
देवाः शुक्रचतुष्के च आ चतुर्थात्सविक्रियाः । आनतादिषु देवाश्च आ पञ्चम्या इतीष्यते ॥२९१
ग्रैवेयकास्तथा षष्ठ्या आ सप्तम्यास्ततः परे । दर्शनं चावधिज्ञानं विक्रियेवाथ इष्यते ॥२९२
अनन्तभागं मूर्तीनां जीवानपि सकर्मकान् । समस्तां लोकनालिं च प्रेक्षन्तेऽनुत्तरामराः ॥२९३
आऽऽरणाद्दक्षिणस्थानां देवानां हि वराङ्गनाः । सौधर्म एव जायन्ते जाता यान्ति स्वमास्पदम् ॥
तथोत्तरेषां देवानां देव्यो या आऽच्युतान्मताः[1] । ता ऐशाने जनित्वा तु प्रयान्ति स्वं स्वमालयम् ॥
नियुतानि विमानानि षट् सौधर्मगतानि हि । देवीभिरेव पूर्णानि चत्वार्यैशाननामनि ॥ २९६

। ६००००० । ४००००० ।

शेषाणि तु विमानानि तयोरुक्तानि कल्पयोः । देवीभिः सह देवैस्तु[2] मिश्रैः पूर्णानि लक्षयेत् ॥२९७
षट्चतुष्कमुहूर्ताः स्युरैशानाज्जननान्तरम्[3] । च्यवनान्तरमप्येवं जघन्यात्समयोऽपि च ॥२९८

। २४ ।

विशेषार्थ– अभिप्राय यह है कि सौधर्म और ईशान इन दो कल्पोंमें स्थित देवोंके मध्यम पीत लेश्या, सनत्कुमार और माहेन्द्र इन दो कल्पोंके देवोंके उत्कृष्ट पीत लेश्या व जघन्य पद्मलेश्या; आगे ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र और महाशुक्र इन छह कल्पोंमें स्थित देवोंके मध्यम पद्मलेश्या; शतार और सहस्रार इन दो कल्पोंके देवोंके उत्कृष्ट पद्मलेश्या व जघन्य शुक्ललेश्या; आनत, प्राणत, आरण व अच्युत ये चार कल्प तथा नौ ग्रैवेयक इस प्रकार इन तेरह स्थानोंमें रहनेवाले देवोंके मध्यम शुक्ललेश्या; तथा नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर इन चौदह विमानोंमें रहनेवाले देवोंके उत्कृष्ट शुक्ललेश्या होती है।

प्रथम दो कल्पोंके देव घर्मा पृथिवी तक, आगेके दो कल्पोंके देव दूसरी पृथिवी तक, आगे चार कल्पोंके देव शैला (तीसरी) पृथिवी तक, शुक्र आदि चार कल्पोंके देव चौथी पृथिवी तक, आनत आदि चार कल्पोंके देव पाचवीं पृथिवी तक, ग्रैवेयकवासी देव छठी पृथिवी तक, तथा आगे अनुदिश व अनुत्तरोंमें रहनेवाले देव सातवीं पृथिवी तक विक्रिया करते हैं। उक्त देवोंके दर्शन व अवधिज्ञानका विषयप्रमाण विक्रियाके समान ही माना जाता है ॥२९०-२९२॥ अनुत्तर विमानवासी देव मूर्तिक कर्मोंके अनन्तवें भागको, कर्मयुक्त जीवोंको तथा समस्त लोकनालीको भी देखते हैं ॥ २९३ ॥

आरण पर्यन्त दक्षिण कल्पोंमें स्थित देवोंकी देवांगनायें सौधर्म कल्पमें ही उत्पन्न होती हैं। वहां उत्पन्न हो करके वे अपने स्थानको जाती हैं॥ २९४ ॥ उसी प्रकार अच्युत कल्प तक उत्तर देवोंकी जो देवियां मानी जाती हैं वे ऐशान कल्पमें उत्पन्न हो करके अपने अपने स्थानको जाती हैं ॥ २९५ ॥ सौधर्म कल्पगत छह लाख (६०००००) विमान तथा ऐशान कल्पगत चार लाख (४०००००) विमान केवल देवियोंसे ही परिपूर्ण हैं ॥ २९६ ॥ उन दोनों कल्पोंमें जो शेष विमान हैं वे देवियोंके साथ मिलकर रहनेवाले देवोंसे परिपूर्ण कहे गये हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥ २९७ ॥

देवोंके जन्मका और मरणका उत्कृष्ट अन्तर सौधर्म कल्पमें छह (६) मुहूर्त और ऐशान कल्पमें चार (४) मुहूर्त प्रमाण होता है। उनके जन्म और मरणका अन्तर जघन्यसे एक

---

१ आ प या अच्युतान्मताः । २ आ प देव्यैस्तु । ३ प स्युरैशान्नाज्जन° ।

द्वे शते नवतिश्चैव शतानि त्रीणि सप्ततिः। तृतीये च मुहूर्ताः स्युर्माहेन्द्रेऽपि च भाषिताः ॥२९९

।२९०।३७०।

द्वाविंशतिरथार्धं च दिनानां ब्रह्मनामनि। चत्वारिंशच्च पञ्चापि अहोरात्राणि लान्तवे ॥३००

।$\frac{४५}{२}$।४५।

अशीतिर्दिवसाः शुक्रे शतारे शतमेव तु। आनतादिचतुष्केऽपि संख्येयाब्दशतानि वै ॥३०१

।८०।१००।व १००।

संख्येयाब्दसहस्राणि ग्रैवेयेष्वन्तरं मतम्। पल्यासंख्येयभागस्तु वनुदिशानुत्तरेऽपि च ॥३०२

।व १०००।१।५।

सप्ताहपक्षमासाश्च मासौ मासचतुष्टयम्। षण्मासं चान्तरं जातौ तदेव च्यवनान्तरम् ॥३०३

।दि ७।१५।मा १।२।४।६।

ऐशानान्ते समाहेन्द्रे कापित्थान्ते च योजयेत्। सहस्रारेऽच्युतान्ते चं शेषेषु च यथाक्रमम् ॥३०४

पाठान्तरम्।

इन्द्राणां विरहः कालो जघन्यः समयो मतः। उत्कृष्टोऽपि च षण्मासं तथैवाग्राङ्गनास्वपि ॥३०५

त्रायस्त्रिंशसमानानां पारिषद्यात्मरक्षिणाम्। उत्कृष्टस्तु चतुर्मासमिन्द्रवल्लोकरक्षिणाम् ॥३०६

तमोऽरुणोदादुद्गत्य वृण्वत्कल्पचतुष्टयम्। कल्पानां विभजेद्देशान्[1] ब्रह्मलोकेन संगतः ॥३०७

।१७२१।

समय मात्र होता है ॥२९८॥ उक्त अन्तर तीसरे कल्पमें दो सौ नव्बै मुहूर्त (९ दि. २० मु.), माहेन्द्र कल्पमें तीन सौ सत्तर मुहूर्त (१२ दि. १० मु.), ब्रह्म कल्पमें साढ़े बाईस (२२½) दिन, लान्तव कल्पमें पैंतालीस (४५) दिन, शुक्र कल्पमें अस्सी (८०) दिन, शतार कल्पमें सौ (१००) दिन, आनतादि चार कल्पोंमें संख्यात सौ वर्ष (सं. १०० वर्ष), ग्रैवेयकोंमें संख्यात हजार वर्ष (सं. १००० वर्ष), तथा अनुदिश और अनुत्तरोंमें पल्यके असंख्यातवें भाग (पल्य ÷असंख्यात) प्रमाण माना गया है ॥ २९९-३०२ ॥ मतान्तर—

ऐशान कल्प तक (सौधर्म-ऐशान), सनत्कुमार और माहेन्द्र, ब्रह्मको आदि लेकर कापिष्ठ तक, शुक्रसे लेकर सहस्रार तक, आनतको लेकर अच्युत कल्प तक, तथा ग्रैवेयक आदि शेष विमानोंमें क्रमसे एक सप्ताह (७ दि.), एक पक्ष (१५ दि.), एक (१) मास, दो (२) मास, चार (४) मास और छह (६) मास; इतना अन्तर जन्मका और उतना ही मरणका भी अन्तर जानना चाहिये ॥३०३-३०४॥

इन्द्रोंका विरहकाल जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट छह मास प्रमाण माना गया है। यही विरहकाल उनकी अग्रदेवियोंका भी समझना चाहिये ॥ ३०५ ॥ त्रायस्त्रिंश, सामानिक, पारिषद और आत्मरक्ष देवोंका उत्कृष्ट विरहकाल चार मास प्रमाण है। लोकपाल देवोंका विरहकाल अपने अपने इन्द्रोंके समान समझना चाहिये ॥ ३०६ ॥

अन्धकार अरुण समुद्रके ऊपर उठकर व प्रथम चार कल्पोंको आच्छादित करके इन कल्पोंके देशोंका विभाग करता हुआ ब्रह्म लोकसे सबद्ध हो गया है। वह इसके ऊपर

---

१ प विभजेद्देशां ब विभजद्देशां।

एकविंशतियुक्तानि शतानि दश सप्त च । उद्गत्यातः शरावाभं गतं विस्तीर्यमाणकम्[1] ॥३०८
विष्कम्भपरिधी तस्य मूले संख्येययोजने । अग्रे त्वसंख्ये तस्माच्च कृष्णराज्यष्टकं बहिः ॥३०९
प्रागायताश्चतस्रोऽत्र चतस्रश्चोत्तरायताः । वेदिकायुग्मवत्ताश्च अन्योन्यं संश्रिताः स्थिताः ॥३१०
पूर्वापरे बहीराज्यौ षडस्रे तिमिरात्मके । दक्षिणोत्तरराज्यौ तु[2] संस्थानाच्चतुरस्रिते ॥३११
अन्तः पूर्वापरे राज्यौ चतुरस्रे प्रकीर्तिते । दक्षिणोत्तरराज्यौ तु त्र्यस्रे पूर्वापरायते ॥३१२
[3]आकाशोऽभ्यन्तराद् बाह्यः संख्येयगुण उच्यते । राज्यप्यभ्यन्तरा तद्वत्तमस्कायस्ततोऽधिकः॥३१३
देशोनाभ्यन्तरायाश्च बाह्यराजी प्रकीर्तिता। बाह्यायाश्च पुना राज्या राजीमध्यं तु साधिकम् ॥
मध्ये तु कृष्णराजीनां लौकान्तिकसुरालयाः । पूर्वोत्तराद्यास्तेऽष्टौ च दृष्टाः सारस्वतादयः ॥३१५
सारस्वताश्च आदित्या वह्नयश्चारुणा अपि । गर्दतोयाश्च तुषिता अव्याबाधाश्च सप्तमाः ॥३१६
आग्नेया उत्तरस्यां च अरिष्टा मध्यमाश्रिताः । लौकान्तिका विनारिष्टैरष्टसागरजीविताः ॥३१७

उक्तं च [त्रि. सा. ५४०]–

चोद्दसपुव्ववरा[4] पडिबोहकरा [5]तित्थयरविणिक्कमणे। एदेसिमट्ठजलही ठिदी अरिट्ठस्स णव चेव ॥
प्रकीर्णकविमानानि तेषां वृत्तानि तानि च । अरिष्टानां विमानं तु प्रोक्तमावलिकागतम् ॥३१८

सत्तरह सौ इक्कीस (१७२१) योजन ऊपर उठकर सकोरेके आकारको धारण करता हुआ विस्तारको प्राप्त हुआ है। उसका विस्तार और परिधि मूलमें संख्यात योजन और फिर आगे असंख्यात योजन प्रमाण है। उसके बाहिर आठ कृष्णराजियां हैं। इनमें चार राजियां पूर्वमें आयत तथा चार राजियां उत्तरमें आयत हैं। वे राजियां वेदिकायुगलके समान परस्परका आश्रय लेकर स्थित हैं। अन्धकारस्वरूप पूर्वापर बाह्य राजियां षट्कोण तथा दक्षिण-उत्तर राजियां आकारमें चतुष्कोण हैं। भीतरकी पूर्वापर राजियां चतुष्कोण तथा दक्षिण-उत्तर राजियां त्रिकोण व पूर्वापर आयत कही गई हैं। अभ्यन्तर आकाशकी अपेक्षा बाह्य संख्यातगुणा कहा जाता है, उसी प्रकार अभ्यन्तर राजी भी संख्यातगुणी है, तमस्काय उससे अधिक है, अभ्यन्तर राजीसे बाह्य राजी कुछ कम तथा बाह्य राजीसे मध्य राजी कुछ अधिक कही गई है ॥३०७-३१४॥

इन कृष्णराजियोंके मध्यमें लौकान्तिक देवोंके विमान हैं। वे सारस्वत आदि आठ लौकान्तिक देव पूर्व-उत्तर (ईशान) आदि दिशाओंके क्रमसे देखे गये हैं ॥३१५॥ सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित और सातवें अव्याबाध ये; क्रमसे ईशान आदि दिशाओंमें स्थित हैं। आग्नेय लौकान्तिक उत्तरमें तथा अरिष्ट मध्यमें रहते हैं। अरिष्टोंको छोड़कर शेष सात लौकान्तिक देवोंकी आयु आठ सागर प्रमाण होती है ॥३१६-३१७॥ कहा भी है–

उत्तम चौदह पूर्वोंके धारक वे लौकान्तिक देव तीर्थंकरोंके तपकल्याणकमें उन्हें प्रतिबोधित करते हैं। इनकी आयु आठ सागरोपम मात्र है। परन्तु अरिष्ट देवोंकी आयु नौ सागरोपम प्रमाण होती हैं ॥१९॥

उनके प्रकीर्णक विमान हैं और वे गोल हैं। परन्तु अरिष्ट लौकान्तिकोंका विमान

१ आ प गतविस्तीर्य°। २ प अतोऽग्रेऽग्रिम 'दक्षिणोत्तरराज्यौ तु' पर्यन्तः पाठस्त्रुटितोऽस्ति। ३ ब आकाशे। ४ त्रि.सा. 'पुव्वधरा' पाठोस्ति। ५ ब तित्थयरा।

शतानि सप्त सप्तापि देवाः सारस्वताः मताः। तुषिता गर्दतोयाश्च आदित्याश्च तथोदिताः ॥३१९

। ७०७ । ७०७ ।

नवाग्राणि शतानि स्युर्नवाप्याग्नेयनामकाः । अव्याबाधास्तथारिष्टा आग्नेयसमसंख्यकाः ॥३२०

। ९०९ ।

चतुर्दशसहस्राणि चतुर्दश च केवलाः । वह्नयः संख्यया ज्ञेया अरुणा अपि तत्समाः ॥३२१

। १४०१४ ।

उक्तानि त्रिलोकप्रज्ञप्तौ [ति. प. ८, ५९७-६३४]–

अरुणवरदीवबाहिरजगदीदो जिणवरुत्तसंखाणि । गंतूण जोयणाणि अरुणसमुद्दस्स पणिधीए ॥२०
एक्कदुगसत्तएक्के अंककमे जोयणाणि उवरि णहे। गंतूणं वलयेणं चिट्ठेदि तमो तमोक्कायो ॥२१

। १७२१ ।

आदिमचउकप्पेसुं देसवियप्पाणि तेसु कादूण । उवरिगदबम्हकप्पप्पढमिंदयपणिधितलपत्ते ॥२२
मूलम्मि रुंदपरिही[1] हवंति संखेज्जजोयणा तस्स । मज्झम्मि असंखेज्जा उवरिं तत्तो असंखेज्जा ॥
संखेज्जजोयणाणिं तमकायादो दिसाए पुव्वाए। गच्छेय[2] सडंस[3] मुरवायारधरा दक्खिणुत्तरायामा ॥
णामेण किण्णराई पच्छिमभागे वि तारिसा य तमो। दक्खिणउत्तरभागे तम्मेत्तं गदुव[4] दीहचउरस्सा ॥
एक्केक्ककिण्णराई हवेइ पुव्वावरिं तदायामा[5]। एदाओ राजीवो णियमेण[6] छिवंति अण्णोण्णं ॥२६

श्रेणीबद्ध कहा गया है ॥ ३१८ ॥ सारस्वत देव सात सौ सात (७०७) माने गये हैं। तुषित, गर्दतोय और आदित्य भी उतने (७०७) ही कहे गये हैं ॥३१९॥ आग्नेय नामक देव नौ सौ नौ (९०९) हैं। अव्याबाध और अरिष्ट देवोंकी संख्या आग्नेय देवोंके समान (९०९) है ॥३२०॥ वह्नि देव संख्यामें चौदह हजार चौदह (१४०१४) हैं। अरुण देव भी संख्यामें वह्नि देवोंके समान (१४०१४) जानना चाहिये ॥ ३२१ ॥ त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें इस विषयमें निम्न गाथायें कही गई हैं –

अरुणवर द्वीपकी बाह्य वेदिकासे जिनेन्द्र देवके द्वारा कही गई संख्या प्रमाण योजन जाकर अरुण समुद्रके प्रणिधि भागमें अंकक्रमसे एक, दो, सात और एक (१७२१) इतने योजन ऊपर आकाशमें जाकर वलयाकारसे तमस्काय तम स्थित है ॥२०-२१॥ प्रथम चार कल्पोंमें देशभेदोंको करके उनके ऊपर स्थित ब्रह्मकल्पके प्रथम इन्द्रकके प्रणिधितलको प्राप्त हुए उस तमस्कायके विस्तारकी परिधि मूलमें संख्यात योजन, मध्यमें असंख्यात योजन और उसके ऊपर असंख्यात योजन है ॥२२-२३॥ उस तमस्कायकी पूर्वदिशामें संख्यात योजन जाकर षट्कोण व मृदंगके आकारको धारण करनेवाली दक्षिण-उत्तर लंबी कृष्णराजी है। उसी प्रकार कृष्णराजी नामका अन्धकार पश्चिम भागमें भी है। दक्षिण और उत्तर भागमें भी उतने मात्र योजन जाकर पूर्वापर आयामवाली आयतचतुरस्र एक एक कृष्णराजी स्थित है। ये कृष्णराजियां नियमसे

---

१ आ प मूलंविरुंद । २ ति. प. गच्छिय । ३ आ प सडस्स । ४ ति. प. गंधुव । ५ ति. प. पुव्वावरद्दिठदायामा । ६ ति. प. णियमा ण ।

संखेज्जजोयणाणि[1] राजीहिंतो दिसाये पुव्वाए। गंतूणब्भंतरिए[2] राजी किण्हा य दीहचउरस्सा॥
उत्तरदक्खिणदीहा दक्खिणराजिं ठिदा पविसिदूण। पच्छिमदिसाए[3] उत्तरराजिं छिविदूण अण्णतम्मो॥
संखेज्जजोयणाणि राजीदो दक्खिणाए आसाए। गंतूणब्भंतरिए[2] एक्कं चिय किण्हराजी य॥२९
दीहेण छिदिदस्स य जवखेत्तस्सेक्कभागसारिच्छा। पच्छिमबाहिरराजिं छिविदूणं सा ठिदा णियमा॥
पुव्वावरआयामा तमकायदिसाए होदि तप्पंती[4]। उत्तरभागम्मि तमो एक्को छिविदूण पुव्ववहिराजिं
अरुणवरदीवबाहिरजगदीए तह य तमसरीरस्स। [5]विच्चालणहयलादो अब्भंतरराजितिमिरकायाणं।
विच्चालायासं[6] तह संखेज्जगुणं हवेदि णियमेण। तम्माणादुण्णेयं[7] अब्भंतरराजि संखगुणजुत्तो॥
अब्भंतरराजीदो अदिरेगजुदो हवेदि तमकायो। अब्भंतरराजीदो बाहिरराजी वि[8] किंचूणा॥३४

बाहिरराजीहिंतो दोण्णं राजीण जो दु विच्चालो[9]।
अदिरित्तो इय अप्पाबहुलत्तं होदि चउसु य दिसासुं॥३५

एदम्मि तम्मि देसे[10] विहरंते अप्परिद्धिया देवा। दिम्मूढा वच्चन्ते माहप्पेणं महड्ढियसुराणं॥३६
राजीणं विच्चाले[11] संखेज्जा होंति बहुविहविमाणा। एदेसु सुरा जादा खादा लोयंतिया णामा॥
संसारवारिरासी जो लोगो तस्स होंति अंतम्मि। जम्हा तम्हा एदे देवा लोयंतिय त्ति गुणणामा॥

परस्परमें एक दूसरेको छूती हैं॥२४-२६॥ इन राजियोंसे पूर्व दिशामें संख्यात योजन जाकर अभ्यन्तर भागमें आयतचतुरस्र कृष्णराजी स्थित है जो उत्तर-दक्षिण दीर्घ होकर दक्षिण राजीमें प्रविष्ट होती है। इसी प्रकार उत्तर राजीको छूकर दूसरा अन्धकार (कृष्णराजी) पश्चिम दिशामें भी स्थित है॥२७-२८॥ राजीसे संख्यात योजन दक्षिण दिशामें जाकर अभ्यन्तर भागमें एक ही कृष्णराजी स्थित है॥२९॥ लंबाई रूपमें छेदे गये यवक्षेत्रके एक भागके समान वह राजी नियमसे पश्चिम बाह्य राजीको छूकर स्थित है॥ ३० ॥ तमस्कायकी दिशामें पूर्व-पश्चिम आयत उसकी पंक्ति (कृष्णराजी) है। एक तम पूर्व बाह्य राजीको छूकर उत्तर भागमें स्थित है॥ ३१ ॥ अरुणवर द्वीपकी बाह्य जगती तथा तमस्कायके मध्यवर्ती आकाशतलसे अभ्यन्तर राजी और तिमिरकायके मध्यवर्ती आकाश नियमसे संख्यातगुणा है। उसके प्रमाणसे अभ्यन्तर राजी संख्यातगुणी जानना चाहिये। अभ्यन्तर राजीसे तमस्काय अधिक है। अभ्यन्तर राजीसे बाह्य राजी भी कुछ कम है। बाह्य राजियोंसे दोनों राजियोंका जो अन्तराल है वह कुछ अधिक है। इस प्रकार यह अल्पबहुत्व चारों ही दिशाओंमें है॥३२-३५॥ इस अन्धकारयुक्त प्रदेशमें जो अल्प ऋद्धिवाले देव विहार करते हैं वे दिशाओंको भूलकर महर्द्धिक देवोंकी महिमासे निकल पाते हैं॥ ३६ ॥ इन राजियोंके अन्तरालमें बहुत प्रकारके संख्यात विमान स्थित हैं। इनमें उत्पन्न हुए देव लौकान्तिक नामसे प्रसिद्ध हैं॥ ३७ ॥ संसाररूप जो समुद्र है वह लोक कहलाता है। चूंकि ये देव उस लोकके अन्तमें होते हैं– उस लोकका अन्त करके अगले भवमें मुक्ति प्राप्त करनेवाले

---

१ ब संखेज्जोयणाणि। २ ति. प. °ब्भंतरए। ३ आ प अतोऽग्रे 'पुव्वावरआयामा तमकायदिसाए होदि तप्पंती' पर्यन्तः पाठस्त्रुटितोऽस्ति। ४ ति. प. तप्पट्ठी। ५ प विच्चार ब विव्वाल। ६ ब विव्वालायासं। ७ ति. प. तं माणादो तं णेयं। ८ प राजी व (ति. प. राजी व)। ९ आ प विच्चालो ब विव्वालो। १० ति. प. एदम्मि तमिस्से जे। ११ ब विव्वाले।

ते लोयंतियदेवा[1] अट्ठसु राजीसु होंति विच्चाले[2]। सारस्सदपहुदि तहा ईसाणदिसादियासु चउवीसं ॥
पुव्वुत्तरदिब्भागे वसंति सारस्सदा सुरा णिच्चं। आइच्चा पुव्वाए अणलदिसाए वि वण्हिसुरा ॥
दक्खिणदिसाए अरुणा णेरिदिभागम्मि गद्दतोया य।
पच्छिमदिसाए तुसिदा अव्वाबाहा समीरदिब्भाए ॥४१
उत्तरदिसाए रिट्ठा एमेत्ते[3] अट्ठ ताण विच्चाले। दो द्दो हवंति अण्णे देवा तेसिं इमे णामा ॥४२
सारस्सदणामाणं आइच्चाणं सुराण विच्चाले[4]। अणलाभा सूराभा देवा चिट्ठंति णियमेण ॥४३
चंदाभा सच्चाभा देवा आइच्चवण्हिविच्चाले[4]। सेयक्खा खेमंकरणामसुरा वण्हिअरुणमज्झम्मि॥४४
विसकोट्ठा कामधरा[5] [4]विच्चाले अरुणगद्दतोयाणं।
णिम्माणराजदिसअंतरक्खिणो गद्दतोयतुसिदाणं ॥४५
तुसिदव्वाबाहाणं विच्चाले अप्पसव्वरक्खसुरा। मरुदेवा वसुदेवा तह अव्वाबाहरिट्ठमज्झम्मि॥४६
सारस्सदरिट्ठाणं विच्चाले अस्सविस्सणामसुरा। सारस्सदआइच्चा पत्तेक्कं सत्त सत्त सया[6] ॥४७
। सा आ [अ] सू आ। आ चं तू व। व श्रे क्षे अ। अ व [वृ] ता [का] ग।
ग नि दि तु। तु आ स अ। अ म व अ। अ अ वि सा।
। ७०७ । ७०७ ।
वण्ही अरुणा देवा सत्तसहस्साणि सत्त पत्तेक्कं। [7]णवजुत्तणवसहस्सा तुसिदसुरा गद्दतोया य ॥४८
। ७००७ । ७००७ । ९००९ । ९००९ ।

हैं– अतएव उनका 'लौकान्तिक' यह सार्थक नाम है ॥ ३८ ॥ वे सारस्वत आदि लौकान्तिक देव ईशान आदि दिशाओंमें उन आठ राजियोंके मध्यमें रहते हैं। उनके बीचमें दो दो दूसरे देव रहते हैं। इस प्रकार वहां चौबीस देव रहते हैं ॥ ३९ ॥ सारस्वत देव निरन्तर पूर्व-उत्तर दिशाभाग (ईशान) में रहते हैं। आदित्य देव पूर्व दिशामें तथा वह्नि देव आग्नेय दिशामें रहते हैं। अरुण देव दक्षिण दिशामें, गर्दतोय नैर्ऋत्य भागमें, तुषित पश्चिम दिशामें, अव्याबाध वायव्य दिशामें और अरिष्ट देव उत्तर दिशामें रहते हैं। इस प्रकार ये आठ लौकान्तिक देव रहते हैं। उनके अन्तरालमें जो दो दो दूसरे देव रहते हैं उनके नाम ये हैं– सारस्वत और आदित्य देवोंके मध्यमें नियमसे अनलाभ और सूराभ देव रहते हैं, आदित्य और वह्नि देवोंके अन्तरालमें चन्द्राभ और सत्याभ, वह्नि और अरुण देवोंके अन्तरालमें श्रेय नामक (श्रेयस्कर) और क्षेमंकर नामक, अरुण और गर्दतोय देवोंके मध्यमें वृषकोष्ठ और कामधर, गर्दतोय और तुषित देवोंके मध्यमें निर्माणराज और दिगन्तरक्षक, तुषित और अव्याबाध देवोंके मध्यमें अल्परक्ष और सर्वरक्ष, अव्याबाध और अरिष्ट देवोंके अन्तरालमें मरुदेव और वसुदेव, तथा सारस्वत और अरिष्ट देवोंके मध्यमें अश्व और विश्व नामक देव रहते हैं [सा(सारस्वत) और आ(आदित्य) के अन्तरालवर्ती अ(अनलाभ) सू(सूर्याभ) आदिकी संदृष्टि मूलमें देखिये]। सारस्वत और आदित्य देवोंमें प्रत्येक सात सौ सात (७०७) हैं ॥४०-४७॥ वह्नि और अरुण देवोंमेंसे प्रत्येक सात हजार सात (७००७) तथा तुषित और गर्दतोयमेंसे प्रत्येक नौ हजार नौ (९००९) हैं ॥ ४८ ॥

१ आ ब तल्लोयंतिय°। २ ब विच्चाले। ३ ति. प. एमेते। ४ ब विच्चाले। ५ ब कामदरा। ६ ति. प. (८–६२४) पत्तेक्कं होंति सत्तसया। ७ प णवजुदणव।

अव्वाबाहारिट्ठा एक्करससहस्स एक्करससजुत्ता । अणलाभा वण्हिसमा[1] सूराभा गद्दतोयसारिच्छा

। ११०११ । ७००७ । ९००९ ।

अव्वावाहसरिच्छा[2] चंदाभसुरा हवंति सच्चाभा । अजुदं तिण्णि सहस्सा तेरसजुत्ता य संखाए ॥

। ११०११ । १३०१३ ।

पण्णरस सहस्साणि पण्णरसजुदाणि होंति सेयक्खा । खेमंकराभिहाणा सत्तरससहस्सयाणि सत्तरसं

। १५०१५ । १७०१७ ।

उणवीससहस्साणि उणवीसजुदाणि होंति विसकोट्ठा । इगिवीससहस्साणि इगिवीसजुदाणि कामधरा

१९०१९ । २१०२१ ।

णिम्माणराजणामा[3] तेवीससहस्सयाणि तेवीसं । पणुवीससहस्साणि पणुवीस दिगंतरक्खिणो होंति॥

। २३०२३ । २५०२५ ।

सत्तावीससहस्सा सत्तावीसं च अप्परक्खसुरा । उणतीससहस्साणि उणतीसजुदाणि सव्वरक्खा य॥

। २७०२७ । २९०२९ ।

एक्कत्तीससहसा एक्कत्तीसं हवंति मरुदेवा । तेत्तीससहस्साणि तेत्तीसजुदाणि वसुणामा ॥५५

। ३१०३१ । ३३०३३ ।

पंचत्तीससहस्सा पंचत्तीसा हवंति अस्ससुरा । सत्तत्तीस सहस्सा सत्तत्तीसं च विस्ससुरा ॥५६

। ३५०३५ । ३७०३७ ।

चत्तारि य लक्खाणिं सत्तरस सहस्साणि[4] अडसयाणिं पि ।
छब्भहियाणिं[5] होदि हु सव्वाणं पिंडपरिसंखा ॥ ५७

। ४१७८०६ ।

अव्याबाध और अरिष्ट देव ग्यारह हजार ग्यारह (११०११) हैं। अनलाभोंकी संख्या वह्नि देवोंके समान (७००७) तथा सूराभोंकी संख्या गर्दतोय देवोंके समान (९००९) हैं ॥४९॥ चन्द्राभ देव अव्याबाध देवोंके समान (११०११) तथा सत्याभ देव संख्यामें तेरह हजार तेरह (१३०१३) हैं ॥ ५० ॥ श्रेय (या श्वेत) नामक देव पन्द्रह हजार पन्द्रह (१५०१५) और क्षेमंकर नामक देव सत्तरह हजार सत्तरह (१७०१७) हैं ॥ ५१ ॥ वृषकोष्ठ उन्नीस हजार उन्नीस (१९०१९) और कामधर देव इक्कीस हजार इक्कीस (२१०२१) हैं ॥ ५२ ॥ निर्माणराज नामक देव तेईस हजार तेईस (२३०२३) और दिगन्तरक्षी पच्चीस हजार पच्चीस (२५०२५) हैं ॥५३॥ अल्परक्ष देव सत्ताईस हजार सत्ताईस (२७०२७) और सर्वरक्ष देव उनतीस हजार उनतीस (२९०२९) हैं ॥ ५४ ॥ मरुदेव इकतीस हजार इकतीस (३१०३१) और वसु नामक देव तेतीस हजार तेतीस (३३०३३) हैं ॥५५॥ अश्वदेव पैंतीस हजार पैंतीस (३५०३५) और विश्व देव सैंतीस हजार सैंतीस (३७०३७) हैं ॥ ५६ ॥ सब देवोंकी सम्मिलित संख्या चार लाख सत्तरह हजार आठ सौ छह (४१७८०६ [४०७८०६]) हैं ॥ ५७ ॥

---

१ आ प वण्णिसमा । २ आ प ब अव्वाहसरिच्छा । ३ ब णिम्माणरारिणामा । ४ ति. प. (८–६३४) सत्त सहस्साणि । ५ आ प छव्वहियाणि ।

ईषत्प्राग्भारसंज्ञायाश्चतुरन्तविनिर्गताः। स्पृशन्त्यः कृष्णराजीनां बाह्यपार्श्वानि रज्जवः ॥३२२
तिर्यग्लोके पतन्त्येताः स्वयंभूरमणोदधेः। असंख्येयतमे भागे अभ्यन्तरतटात्परम् ॥३२३
तमस्कायस्य[1] राजेश्च[2] पार्श्वेभ्योऽप्यवलम्बकाः। गत्वा चाद्यादसंख्येयद्वीपवार्धीन् पतन्ति[3] च॥
उक्तं च चतुष्कं त्रिलोकप्रज्ञाप्तौ [८,६५९-६६२]—
एदस्स चउदिसासुं चत्तारि तमोमयाओ रज्जूओ। णिस्सरिदूणं बाहिरराजीणं होदि बाहिरप्पासा[4]
तच्छिविदूणं तत्तो ताओ पडिदाओ चरिमउवहिम्मि। अब्भंतरतीरादो संखातीदे य जोयणे य[5] धुवं॥
बाहिरचउराजीणं बहिरवलंबो[6] पडेदि दीवम्मि। जंबूदीवाहितो गंतूण असंखदीववारिणिहिं ॥६०
बाहिरभागाहिंतो अवलंबो तिमिरकायणामस्स। जंबूदीवे[हिंतो]तम्मेत्तं गदुव पडेदि दीवम्मि॥६१
शुभशय्यातलेष्वेते उदयेष्विव भास्कराः। पुण्यैः पूर्वार्जितैर्देवा जायन्ते गर्भवर्जिताः ॥३२५
आनन्दतूर्यनादैश्च तुष्टामरबहुस्तवैः। जयशब्दरवैश्चैषां बुध्यन्ते जननं सुराः ॥ ३२६
देवा देवीसहस्राणां प्रहृष्टाननपुष्पितम्। सुरपङ्कजखण्डे स्वं पश्यन्ते[तो]ऽनुवते रतिम् ॥ ३२७
पूर्वाप्राप्तविजानाना जायन्तेऽवधिना सह। नानाविद्यासु निष्णाताः प्राज्ञाः सुप्तोत्थिता इव ॥३२८

विशेष – यहां उद्धृत गा. ४८ और ५७ का तिलोयपण्णत्तीके अनुसार पाठ ग्रहण करनेपर यह लौकान्तिक देवोंकी सम्मिलित संख्या घटित होती है, अन्यथा वह घटित नहीं होती।

ईषत्प्राग्भार नामक पृथिवीके चारों कोनोंसे निकलकर कृष्णराजियोंके बाह्य पार्श्वभागोंको छूनेवाली चार रज्जुएं (रस्सियां) हैं ॥३२२॥ ये रस्सियां तिर्यग्लोकमें स्वयम्भूरमण समुद्रके अभ्यन्तर तटसे असंख्येयतम भागमें जाकर–असंख्यात योजन जाकर–पड़ती हैं ॥ ३२३ ॥ तमस्काय और राजिके पार्श्वोंका अवलम्बन करनेवाली वे रस्सियां जम्बूद्वीपसे असंख्यात द्वीप-समुद्र जाकर गिरती हैं ॥ ३२४ ॥ इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाली चार गाथायें त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें भी कही गई हैं ––

इस ईषत्प्राग्भार क्षेत्रकी चारों दिशाओंमें निकलकर बाह्य रज्जुओंके बाह्य भागको छूनेवाली चार अन्धकारस्वरूप रज्जुएं (रस्सियां) हैं ॥५८॥ वे उसको छू करके वहांसे अन्तिम समुद्रमें अभ्यन्तर तटसे असंख्यात योजन जाकर गिरी हैं ॥५९॥ बाह्य चार राजियोंके बाह्य भागका अवलम्बन करनेवाला वह तमस्काय जम्बूद्वीपसे असंख्यात द्वीप-समुद्र जाकर द्वीपमें गिरता है ॥ ६० ॥ तिमिरकायका अवलम्ब बाह्य भागोंसे उतने मात्र योजन जम्बूद्वीपमें जाकर द्वीपमें गिरता है ॥ ६१॥

जिस प्रकार सूर्य उदयाचलोंपर उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार ये देव पूर्वोपार्जित पुण्यसे गर्भसे रहित होकर शुभ शय्यातलोंके ऊपर उत्पन्न होते हैं ॥ ३२५ ॥ दूसरे देव इनके जन्मको आनन्द बाजोंके शब्दोंसे, संतुष्ट होकर देवोंके द्वारा किये जानेवाले बहुत स्तवनोंसे तथा 'जय' शब्दकी ध्वनियोंसे जानते हैं ॥ ३२६ ॥ वे देव हजारों देवियोंके प्रमुदित मुखोंसे प्रफुल्लित हुए अपनेको देवोंरूप कमलोंके समूहमें देखकर आनन्दको प्राप्त होते हैं ॥३२७॥ अनेक विद्याओंमें निपुण वे बुद्धिमान् देव अवधिज्ञानके साथ पूर्वमें कभी नहीं प्राप्त हुए इस वैभवको जानते हुए सोकर उठे

१ आ प तमस्कायश्च २ ब 'राजेश्च' नास्ति। ३ ब वार्दीन्। ४ आ ब बाहिरं पासं। ५ ब धुवं। ६ ति. प. बहियवलंबो पदेदि।

सुखस्पर्शसुखालोकसुगन्धिविमलोज्ज्वलाः । देवानां शुचयो देहा वैडूर्यमणिनिर्मलाः ॥३२९
दृष्ट्वा दिव्यां विभूतिं च सर्वतश्चित्तहर्षिणीम् । प्रीतिभारसमाक्रान्ता विह्वला इव ते क्षणम् ॥३३०
प्रत्यक्षं फलमालोक्य धर्मे संवृद्धभक्तयः[1] । तैश्चोपबृंहिता देवैः प्रथमं धर्ममीडते ॥३३१
स्नात्वा ह्रदं प्रविश्याग्रे अभिषेकमवाप्य च । अलंकारसभां गत्वा दिव्यालंकारभूषिताः ॥३३२
व्यवसायसभां भूयो गत्वा पूजाक्रियोद्यताः । नन्दासु शुभभृङ्गारान् पूरयित्वामलोदकैः ॥३३३
चलत्केतुपताकाद्याश्छत्रचामरसंवृताः । सुगन्धिसुमनोवासवर्णचूर्णविलेपनाः ॥ ३३४
कृत्वाभिषेकं संपूज्य नत्वा च परमार्हतः । ततः सुदृष्टयो देवाः विषयानुपभुञ्जते ॥३३५
देवानामुदितं श्रुत्वा सुरा मिथ्यादृशोऽपि च । प्रायेण कुर्वते पूजामर्हतां सुरबोधिताः ॥३३६
दिव्याभरणदीप्ताङ्गा यथेष्टशुभविक्रियाः । चित्र[त्त]नेत्रहरात्यन्तचारुरूपसमन्विताः ॥३३७
देवोपचारसिद्धाभिर्नित्ययौवनचारुभिः । प्रियाभिरतिरक्ताभिः प्राप्नुवन्ति रतिं सुराः ॥३३८
प्रतिकारमनालोक्य स्नेहसौभाग्यसाधिकम्[2] । कृतकाचारनिर्मुक्तं शुद्धं प्रेम सुरालये ॥३३९
अन्योन्यप्रीतिसद्भावं विन्दन्तोऽवधिनाधिकम् । देवा देव्यश्च कामान्धा न विदन्ति गतं क्षणम् ॥ ३४०

हुएके समान उत्पन्न होते हैं ॥ ३२८ ॥ इन देवोंके पवित्र शरीर सुखकारक स्पर्श, सुखोत्पादक रूप एवं सुगन्ध गन्धसे सहित; निर्मल, उज्वल तथा वैडूर्य मणिके समान निर्मल होते हैं ॥३२९॥ वे देव सब ओरसे चित्तको हर्षित करनेवाली दिव्य विभूतिको देखकर प्रेमके भारसे सहित होते हुए क्षणभरके लिये विह्वल-से हो जाते हैं ॥३३०॥ वे धर्मके इस प्रत्यक्ष फलको देखकर धर्मके विषयमें वृद्धिको प्राप्त हुई भक्तिसे संयुक्त होते हुए उन देवोंसे उत्साहित होकर पहिले धर्म-कार्यको करते हैं ॥ ३३१ ॥ वे प्रथमतः सरोवरमें प्रविष्ट होकर स्नान करते हैं और फिर अभिषेक-को प्राप्त होकर अलंकारगृहमें जाते हैं एवं वहां दिव्य अलंकारोंको धारण करते हैं। फिर व्यवसायसभामें जाकर वे पूजाकार्यमें उद्यत होते हुए नंदा वापिकाओंमें निर्मल जलसे उत्तम झारियोंको भरते हैं। तपश्चात् फहराती हुई ध्वजा-पताका आदिसे सहित, छत्र व चामरोंसे व्याप्त और सुगन्धित फूलों एवं उत्तम वर्णवाले चूर्णोसे लिप्त की गई जिन भगवान्की प्रतिमाओं-का अभिषेक व पूजन करके उन्हें नमस्कार करते हैं। इसके पश्चात् सम्यग्दृष्टि देव विषयोंका अनुभव करते हैं ॥ ३३२-३३५ ॥ देवोंके अभ्युदयको सुनकर मिथ्यादृष्टि देव भी प्रायः अन्य देवोंसे सम्बोधित होकर जिनपूजाको करते हैं ॥ ३३६ ॥ दिव्य अलंकारोंसे देदीप्यमान शरीरके धारक, इच्छित उत्तम विक्रियासे सहित और मन एवं नेत्रोंको आनन्द देनेवाले अतिशय सुन्दर रूपसे सम्पन्न वे देव देवोपचारसे सिद्ध, शाश्वतिक यौवनसे सुन्दर और अतिशय अनुराग रखनेवाली प्रियाओंके साथ रतिको प्राप्त होते हैं ॥३३७-३३८॥ स्वर्गमें प्रतीकारको न देखकर – उसकी अपेक्षा न कर – स्नेह एवं सौभाग्यसे अधिक और कृत्रिम व्यवहारसे रहित शुद्ध प्रेम है ॥३३९॥ वे देव और देवियां अवधिज्ञानसे अधिक पारस्परिक प्रेमके सद्भावको जानकर काममें आसक्त

१ प संवृद्धयभक्तयः । २ ब सादिकं ।

त्रिपुष्करादिभिर्वाद्यैर्गीतैश्च मधुरस्वरैः । नृत्तैश्च ललितैर्नैकैः प्रमोदजननैः शुभैः ॥ ३४१
शब्दरूपरसस्पर्शान् गन्धांश्च विविधान् शुभान् । भुञ्जन्ते विविधान् भोगान् मनोज्ञान् प्रियवर्धनान्
नानाङ्गरागवासिन्यो नानाभरणभूषिताः । अम्लानमाल्यधारिण्यः कृतचित्रविशेषकाः ॥ ३४३
ताभिर्नैकाप्सरोभिश्च क्रीडारतिपरायणाः । वेदयन्ति महत्स्वर्गे सर्वे सुरगणाः सुखम् ॥३४४
हेमरत्नमयेष्वेते पञ्चवर्णेषु वेश्मसु । पुष्पोपहाररम्येषु धूपगन्धोपवासिषु ॥ ३४५
आरामवापीगेहेषु द्वीपपर्वतसानुषु । नानाक्रीडनदेशेषु रमन्ते भोगभूमिषु ॥ ३४६
सदैवाचरितास्तेषां विषयाश्चित्तहर्षिणः । जयन्त[1] इव चान्योन्यं नित्यं प्रीतिसुखावहाः ॥३४७
महाकल्याणपूजासु यान्ति कल्पनिवासिनः । प्रणमन्ति परे भक्त्या तत्रैवोज्ज्वलमौलिभिः ॥३४८

जित्वेन्द्रियाणि चरितैरमलैस्तपोभि–
राक्रम्य नाकनिलयान् [2] ज्वलतोऽतिदीप्त्या ।
राजन्ति कान्तवपुषः शुभभूषणाढ्या
देवा वसन्ततिलका इव पुष्पपूर्णाः ॥ ३४९

इति लोकविभागे स्वर्गविभागो नाम दशमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १० ॥

रहने वीते हुए कालको नहीं जानते हैं ॥ ३४० ॥ वे देव-देवियां तीन पुष्कर (मृदंग) आदि वाजों, मधुर स्वरवाले गीतों एवं आनन्दको उत्पन्न करनेवाले अनेक उत्तम नृत्योंके साथ नाना प्रकारके उत्तम शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध स्वरूप रागवर्धक अनेक मनोहर भोगोंको भोगते हैं ॥ ३४१-४२ ॥ जो देवियां अनेक लेपनोंसे सुगन्धित, बहुत आभरणोंसे विभूषित, न मुरझानेवाली मालाको धारण करनेवाली तथा की गई चित्ररचनासे सुशोभित हैं उन प्रिय देवियोंके साथ तथा और भी अनेक अप्सराओंके साथ क्रीड़ारतिमें लीन हुए वे सब देवसमूह स्वर्गमें महान् सुखका अनुभव करते हैं ॥ ३४३-३४४ ॥ वे देव पुष्पोंके उपहारसे रमणीय और धूपकी सुगन्धसे सुवासित ऐसे पांच वर्णवाले सुवर्ण एवं रत्नमय प्रासादोंमें, उद्यानभवनोंमें, वापिकागृहोंमें, द्वीपोंमें, पर्वतशिखरोंपर तथा अन्य भी भोगोंके स्थानभूत अनेक प्रकारके क्रीडास्थानोंमें रमण करते हैं ॥ ३४५-३४६ ॥ उनके मनको हर्षित करनेवाले ऐसे निरन्तर आचरित विषय-भोग सदा ही प्रेम एवं सुखको उत्पन्न करते हुए मानो एक दूसरेके ऊपर विजय प्राप्त करते हैं ॥ ३४७ ॥ कल्पवासी देव तीर्थकरोंके कल्याणमहोत्सवोंमें जाते हैं । परन्तु आगेके अहमिन्द्र देव वहीं स्थित रहकर भक्तिसे उज्ज्वल मस्तकोंको झुकाकर प्रणाम करते हैं ॥ ३४८ ॥ इन्द्रियोंको जीतकर पूर्वमें अनुष्ठित निर्मल तपोंसे स्वर्गविमानोंको प्राप्त करके अतिशय कान्तिसे देदीप्यमान वे देव सुन्दर शरीरसे युक्त होकर उत्तम भूषणोंको धारण करते हुए पुष्पोंसे परिपूर्ण वसन्त-कालीन तिलक वृक्षोंके समान सुशोभित होते हैं ॥ ३४९ ॥

इस प्रकार लोकविभागमें स्वर्गविभाग नामक दसवां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ १० ॥

---

१ प जायन्त । २ प ज्वलितो ।

[एकादशो विभागः]

सिद्धानां भाषितं स्थानमूर्ध्वलोकस्य मूर्धनि । ईषत्प्राग्भारसंज्ञा तु पृथिवी पाण्डराष्टमी ।। १
अष्टयोजनबाहल्या मध्येऽन्ते पत्रवत्तनुः । मानुषक्षेत्रविस्तीर्णा श्वेतच्छत्राकृतिश्च सा ।। २
विस्तारो मानुषक्षेत्रे परिधिश्चापि वर्णितः । मध्यात्प्रभृतिबाहल्यं क्रमशो हीनमिष्यते ।। ३

। ४५०००० । १४२३०२४९ ।

उक्तं च षट्कं त्रिलोकप्रज्ञप्तौ [८, ६५२-५४; ६५६-५८]

सव्वत्थसिद्धिइंदयकेदणदंडादु उवरि गंतूणं । बारसजोयणमेत्तं अट्ठमिया चिट्ठदे पुढवी ।। १
पुव्वावरेण तीए उवरिं हेट्ठिमतडेसु[1] पत्तेक्कं । वासो हवेदि एक्को रज्जू थोवेण[2] परिहीणा ।।२
उत्तरदक्खिणभागे दीहं किंचूणसत्तरज्जूओ । वेत्तासणसंठाणा सा पुढवी अट्ठजोयणा बहला ।।३
एदाए बहुमज्झे खेत्तं णामेण ईसपब्भारं । अज्जुणसुवण्णसरिसं णाणारयणेहि परिपुण्णं ।। ४
उत्ताणधवलछत्तोवमाणसंठाणसुंदरं एदं । पंचत्तालं जोयणलक्खाणि वाससंजुत्तं ।। ५

। ४५०००० ।

तम्मज्झबहलमट्ठं[3] जोयणया [4]अंगुलं पि अंतम्मि ।
अट्ठमभूमज्झगदो तप्परिही मणुवखेत्तपरिहिसमा ।। ६

सिद्धोंका स्थान ऊर्ध्वलोकके शिखरपर कहा गया है । वहां ईषत्प्राग्भार नामकी धवल आठवीं पृथिवी है । वह मध्यमें आठ योजन बाहल्यसे सहित, अन्तमें पत्रके समान कृश, मनुष्य लोकके बराबर विस्तीर्ण और धवल छत्रके समान आकारवाली है ।। १-२ ।। मनुष्यलोकका जो विस्तार (४५०००० यो.) और परिधि (१४२३०२४९ यो.) कही गई है वही विस्तार और परिधि उक्त पृथिवीकी भी निर्दिष्ट की गई है । उसका बाहल्य मध्य भागसे लेकर क्रमसे उत्तरोत्तर हीन माना जाता है ।। ३ ।। त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें इस विषयसे सम्बद्ध छह गाथायें कही गई हैं –

सर्वार्थसिद्धि इन्द्रकके ध्वजदण्डसे बारह योजन मात्र ऊपर जाकर आठवीं पृथिवी स्थित है ।। १ ।। उसका पूर्वापर विस्तार उपरिम और अधस्तन तटोंमेंसे प्रत्येकमें कुछ कम एक राजु मात्र है ।। २ ।। उसकी लंबाई उत्तर-दक्षिण भागमें कुछ कम सात राजु प्रमाण है । वेत्रासनके समान आकारवाली वह पृथिवी आठ योजन मोटी है ।। ३ ।। इसके ठीक बीचमें ईषत्प्राग्भार नामक क्षेत्र है जो चांदी एवं सुवर्णके सदृश तथा अनेक रत्नोंसे परिपूर्ण है ।। ४।। यह क्षेत्र ऊपर ताने हुए धवल छत्रके समान आकारसे सुन्दर और पैंतालीस लाख (४५०००००) योजन प्रमाण विस्तारसे संयुक्त है ।। ५ ।। उसका बाहल्य मध्यमें आठ योजन और अन्तमें अंगुल मात्र ही है । आठवीं पृथिवीके मध्यमें उसकी परिधि मनुष्यलोककी परिधिके समान है ।। ६ ।।

---

१ प हेट्ठिं तणेसु ब हेट्ठितडेसु (ति. प. उवरिमहेट्ठिमतलेसु) । २ ति. प. रूवेण । ३ आ प बहुलमट्ठं । ४. ब अंगलं ।

सर्वार्थाद् द्वादशोत्पत्य योजनानि स्थिता शुभा । सा त्वर्ज[र्जु]नमयी तस्या ऊर्ध्वं च वलयत्रयम् ॥४
देशोनं योजनं तच्च[1] पूर्वमेव तु भाषितम् । [2]तृतीयतनुवातान्ते सर्वे[3] सिद्धाः प्रतिष्ठिताः ॥५
क्रो । घनो २ । घना १ । तनु १ ।
गव्यूतेस्तत्र चोर्ध्वायास्तुर्ये भागे व्यवस्थिताः । अन्त्यकायप्रमाणात्तु किंचित्संकुचितात्मकाः ॥ ६
धनुःशतानि पञ्चैव देशोनानीति भाषितम् । सिद्धावगाहनक्षेत्रबाहल्यमृषिपुंगवैः ॥ ७
। ५०० ।
अवगाढश्च यत्रैकस्तत्रानेकाः समागताः । धर्मास्तिकायतन्मात्रं गत्वा न परतो गताः ॥ ८
सिद्धाः शुद्धाः विमुक्ताश्च विभवा अजरामराः । असंगास्तीर्णसंसाराः पारगा बन्धनिःसृताः ॥ ९
अलेपा[ः] कर्मनिर्मुक्ता अरजस्का अमूर्तयः । शान्ताः सुनिर्वृताः पूताः परमाः परमेष्ठिनः ॥ १०
अक्षया अव्ययानन्ताः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः । निरिन्द्रिया निराबाधा कृतकृत्याश्च ते स्मृताः ॥ ११
सर्वदा सर्वजीवानां गतिमागतिमेव च । च्यवनं चोपपातं[4] च बन्धमोक्षौ च कर्मणाम् ॥ १२
भक्तमृद्धि[5] कृतं चापि चिन्तितं सर्वभावि च । जानानाः पर्ययैः सर्वैः सुखायन्तेऽतिनिर्वृत्ताः ॥ १३
त्रिधा भिन्नं जगच्चेदं निरयान् द्वीपसागरान् । [6]धरानद्यद्रितीर्थानि विमानभवनानि च ॥ १४

वह रजतमयी उत्तम पृथिवी सर्वार्थसिद्धि इन्द्रकसे बारह योजन ऊपर जाकर स्थित है। उसके ऊपर तीन वातवलय हैं ॥ ४ ॥ उन तीनों वातवलयोंका विस्तार कुछ कम एक योजन मात्र है जो पूर्वमें कहा ही जा चुका है। तीसरे तनुवातवलयके अन्तमें सब सिद्ध जीव स्थित हैं। घनोदधि २ को., घन १ को., तनु १ को. [४२५ धनुष कम] ॥५॥ वहां उपरिम गव्यूतिके चतुर्थ भागमें स्थित वे सिद्ध अन्तिम शरीरके प्रमाणसे कुछ संकुचित (हीन) आत्मप्रदेशोंवाले हैं ॥ ६ ॥ ऋषियोंमें श्रेष्ठ गणधरादिकोंने सिद्धोंके अवगाहनाक्षेत्रके बाहल्यका प्रमाण कुछ कम पांच सौ (५००) धनुष मात्र कहा है ॥ ७ ॥ जहांपर एक सिद्ध जीवका अवगाह है वहींपर अनेक सिद्ध जीव स्थित हैं। वे सिद्ध जीव जहां तक धर्मास्तिकाय है वहीं तक जाकर उसके आगे नहीं गये हैं ॥ ८ ॥

वे सिद्ध जीव शुद्ध, कर्ममलसे रहित, जन्मसे रहित, जरा और मरणसे रहित, परिग्रहसे रहित, संसाररूप समुद्रको तैरकर उसके पारको प्राप्त हुए, बन्धसे रहित, निर्लेप, कर्मबन्धसे मुक्तिको प्राप्त हुए, ज्ञानावरणादिरूप कर्मरजसे रहित, अमूर्तिक, शान्त, अतिशय सुखी, पवित्र, उत्कृष्ट, उत्तम पदमें स्थित, अविनश्वर, व्ययसे रहित, अन्तसे रहित, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, इन्द्रियोंसे रहित, बाधासे रहित और कृतकृत्य माने गये हैं ॥ ९-११ ॥ उक्त सिद्ध जीव निरन्तर सब जीवोंकी गति-आगति, मरण, उत्पत्ति, कर्मोंके बन्ध-मोक्ष, भक्त, ऋद्धि, कृत, चिन्तित एवं भविष्यमें होनेवाले सबको समस्त पर्यायोंके साथ जानते हुए अतिशय निवृत्तिको प्राप्त होकर सुखका अनुभव करते हैं ॥ १२-१३ ॥

नरक; द्वीप, समुद्र, पृथिवी, नदी एवं तीर्थ; और विमानभवन इनका आश्रय करके यह

१ ब तस्य । २ प तृतीया । ३ ब सर्व° । ४ ब चोपपात्तं । ५ प भक्तमृद्धि ब भुक्तं मृद्धि । ६ ब धरानद्यद्रि° ।

सिद्धो विचित्रचारित्रः षड्द्रव्यनिचितं बृहत् । [1]आलेख्यपटवत्पश्यन्न रज्यति न रुष्यति ।। १५
मत्तः पिशाचाविष्टो वा तथा पित्तविमोहितः । तैर्विमुक्तः पुनर्दोषैः स्वस्थो यद्वत्सुखायते ।। १६
रागद्वेषवशातीतः प्रसन्नोदकवच्छुचिः । कामक्रोधविनिर्मुक्तः सिद्धस्तद्वत्सुखायते ।। १७
विषयेषु रतिं मूढा मन्यन्ते प्राणिनां[नः] सुखम् । न तत्सुखं सुखं ज्ञानात् प्राज्ञानां तत्त्वदर्शिनाम्।।
[2]अमेध्यरतयो दृष्टाः कृमिशूकरकुक्कुराः[3] । तदप्येषां सुखं प्राप्तं रतिं सुखमितीच्छताम् ।। १९
कष्टे रत्यरती जन्तून् बाधेते जन्मनि स्थितान् । प्रियाप्रिये विशीले च दरिद्रं[4] वनिते यथा ।।२०
दुःखेन महता भग्नो रमतेऽज्ञस्तथाविधे[5] । द्विषताभिद्रुतो यद्वत्सदोषां सरितं व्रजेत् ।। २१
भारभग्ने स्ववामांशे दक्षिणे प्रक्षिपेद्यथा । तथा खेदप्रतीकारे रममाणः सुखायते ।। २२
गतितृष्णाक्षुधाक्रान्तो[6] विश्रमोदकभोजनैः । प्रतीकारात्सुखं वेत्ति श्रमाभावान्महत्सुखम् ।। २३
कल्हारकुमुदाम्भोजकुसुमैः परिकर्मितम् । चन्दनोशीरशीताम्बुव्यजनानिलवारितम् ।। २४
ज्वरदाहपरिक्लिष्टं तृष्णार्तं प्रेक्ष्य[7] मानुषम् । ज्वराय[8] स्पृहयेत्कश्चित्परिकर्माभिलाषतः ।। २५

जगत् तीन प्रकारका है ।। १४ ।। विचित्र चारित्रका धारक सिद्ध जीव छह द्रव्योंसे व्याप्त विस्तृत लोकको चित्रपटके समान देखता हुआ न तो उससे राग करता है और न द्वेष भी करता है ।। १५ ।। जिस प्रकार उन्मत्त, पिशाचसे पीड़ित और पित्तसे विमूढ़ हुआ प्राणी उन उन दोषोंसे रहित होकर स्वस्थ होता हुआ सुखको प्राप्त होता है उसी प्रकार राग-द्वेषकी पराधीनतासे रहित, प्रसन्न जलके समान निर्मल और काम-क्रोधसे मुक्त हुआ सिद्ध जीव भी सुखको प्राप्त होता है ।। १६-१७ ।। मूर्ख प्राणी विषयोंमें होनेवाले अनुरागको सुख मानते हैं। परन्तु वास्तवमें वह सुख नहीं है । सच्चा सुख तो वस्तुस्वरूपके जानकार विद्वान् जनोंको तत्त्व-ज्ञानसे प्राप्त होता है ।। १८ ।। कृमि (लट), शूकर और कुत्ता ये प्राणी अपवित्र वस्तुमें अनुराग करनेवाले देखे गये हैं। फिर भी रतिको सुख माननेवाले इनको उसीमें सुख प्राप्त होता है ।। १९ ।। जिस प्रकार विरुद्ध स्वभाववाली दो प्रिय और अप्रिय स्त्रियां दरिद्र प्राणीको बाधा पहुंचाती हैं उसी प्रकार कष्टकारक रति और अरति ये दोनों भी जन्म-मरणरूप संसारमें स्थित प्राणियोंको बाधा पहुंचाती हैं ।। २० ।। जिस प्रकार शत्रुसे पीड़ित मनुष्य दोषयुक्त नदीको प्राप्त होता है उसी प्रकार महान् दुखसे दुखी हुआ अज्ञानी प्राणी भी उक्त प्रकारके विषयजन्य सुखमें रमता है ।। २१ ।। जिस प्रकार अपने वाम भागके भारसे पीड़ित होनेपर मनुष्य उस भारको दक्षिण भागमें रखकर सुखका अनुभव करता है उसी प्रकार कामादिवेदनाजन्य खेदके प्रतीकारमें आनन्द माननेवाला प्राणी भी उसमें सुख मानता है ।। २२ ।। गमन, प्यास और भूखसे पीड़ित प्राणी विश्राम, जल और भोजनके द्वारा क्रमसे उन उन पीडाओंका प्रतिकार करके सुख मानता है। वास्तविक महान् सुख तो श्रमके अभावसे – उक्त गति आदिकी बाधाओंके सर्वथा नष्ट होनेपर – ही होता है ।।२३।। कल्हार, कुमुद और कमल पुष्पोंसे शरीरसंस्कारको प्राप्त तथा चन्दन, खश, शीतल जल और वीजनाकी वायुसे निवारित ऐसे ज्वरके दाहसे सन्तप्त एवं प्यासससे पीड़ित मनुष्यको देखकर उक्त शरीरसंस्कारकी इच्छासे क्या कोई ज्वरकी अभिलाषा करता है? नहीं करता

१ ब आलेप्य° । २ ब अमेद्य° । ३ ब कुक्कुटाः । ४ आ दरिदं प ददिदं । ५ प तथाविधैः ब तथाविदे । ६ ब श्रान्तो । ७ प प्रैक्ष्य । ८ आ प ज्वरायु ।

प्रतीकारसुखं[1] जानंस्तथा यत्र क्वचिद्रतिम् । निर्व्याधिं स्वस्थमासीनं स मन्ये दुःखितं वदेत् ॥ २६
[2]कीटिकादंशदुःखज्ञः अनुमानेन बुध्यते । शार्दूलवलवद्दंष्ट्राक्षोदने वेदनामुरुम् ॥ २७
अल्पपापक्षयादाप्तं सुखं ज्ञात्वा सचेतनः । सर्वकर्मक्षयोत्पन्नं सुखं सिद्धस्य बुध्यते ॥ २८
व्याधिभिर्युगपत्सर्वैः संभवद्भिर्विवाधितः [3] । एकैकस्य शमे शान्ति सर्वेषां च यथाप्नुयात् ॥ २९
एकैकस्येह पापस्य नाशे चेदश्नुते सुखम् । [4]दुष्कृतं निखिलं दग्ध्वा सुखी सिद्धो न किं भवेत्॥३०
पराराधनदैन्योनः कांक्षा-कम्पन-निःसृतः । [5]लब्धनाशभयातीतो गतो हीनावमानतः ॥ ३१
अज्ञानतिमिरापूर्णां पापकर्मबृहद्गुहाम् । चिरमध्युष्य निष्क्रान्तो ज्ञानं सकलमाप्तवान् ॥ ३२
लभते यत्सुखं ज्ञानात् सिद्धस्त्रैकाल्यतत्त्ववित् । उपमा तस्य सौख्यस्य मृग्यमाणा न दृश्यते ॥ ३३
श्लोकमेकं विजानानः शास्त्रं ग्रन्थार्थतोऽपि च । ह्लादते मानुषस्तीव्रं किं पुनः सर्वभाववित् ॥ ३४
नारकाणां तिरश्चां च मानुषाणां[6] च यद्विधाः[7] । शारीरा मानसा बाधास्ताश्चिरं प्राप्य खिन्नवान्

॥ २४-२५ ॥ जो प्राणी जिस किसी भी इन्द्रियविषयमें अनुराग करता हुआ वेदनाके प्रतिकारमें सुखकी कल्पना करता है वह व्याधिसे रहित होकर स्वस्थ बैठे हुए मनुष्यको दुखित कहता है, ऐसा मैं समझता हूं ॥ २६ ॥ जिस प्रकार चींटी आदि क्षुद्र कीड़ेके काटनेसे उत्पन्न हुए दुखका अनुभव करनेवाला मनुष्य सिंहकी बलिष्ठ दाढ़ोंके द्वारा पीसे जानेपर—उसके द्वारा खाये जानेपर—होनेवाली महती पीड़ाको अनुमानसे जानता है उसी प्रकार थोड़े-से पापके क्षयसे प्राप्त हुए सुखका अनुभव कर सचेतन प्राणी समस्त कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेवाले मुक्त जीवके सुखको भी अनुमानसे जान सकता है ॥ २७-२८ ॥ जिस प्रकार एक साथ उत्पन्न हुई समस्त व्याधियोंसे पीड़ित प्राणी उनमें एक एकका उपशम होनेपर तथा सबका ही उपशम होनेपर तरतमरूप शान्तिको प्राप्त होता है उसी प्रकार यहां (संसारमें) जब एक एक पापका नाश होनेपर प्राणी सुखको प्राप्त होता है तब क्या समस्त पापको नष्ट करके मुक्तिको प्राप्त हुआ सिद्ध जीव सुखी नहीं होगा ? अवश्य होगा ॥ २९-३० ॥ वह सिद्ध जीव दूसरोंकी सेवासे उत्पन्न होनेवाली दीनतासे रहित, विषयोंकी इच्छासे दूर, प्राप्त हुई अभीष्ट सामग्रीके विनाशके भयसे रहित, तथा नीच जनके द्वारा किये जानेवाले अपमानसे भी रहित होता है ॥३१॥ वह अज्ञानरूप अन्धकारसे परिपूर्ण ऐसी पापरूप विशाल गुफामें चिर काल तक रहकर उससे बाहिर निकलता हुआ पूर्ण ज्ञान (केवलज्ञान) को प्राप्त कर चुका है ॥ ३२ ॥

त्रिकालवर्ती सब तत्त्वोंको जाननेवाला सिद्ध जीव ज्ञानसे जिस सुखको प्राप्त करता है उस सुखके लिये बहुत खोजनेपर भी कोई उपमा नहीं दिखती, अर्थात् वह अनुपम है ॥ ३३॥ जब एक ही श्लोकको तथा ग्रन्थसे और अर्थसे किसी एक पूर्ण शास्त्रको भी जाननेवाला मनुष्य अतिशय आनन्दको प्राप्त होता है तब भला जो सब ही पदार्थोंको जानता है उसके विषयमें क्या कहा जाय ? अर्थात् वह तो नियमसे अतिशय सुखी होगा ही ॥३४॥ संसारी जीव नारकियों, तिर्यंचों और मनुष्योंके जितने प्रकारकी शारीरिक एवं मानसिक बाधायें हो सकती हैं उन सबको

१ प सुसं । २ प कीटका । ३ ब विभाधितः । ४ आ प दुःकृतं । ५ आ लब्द° । ६ आ प मानुपां । ७ ब यद्दिदाः ।

सर्वतो रहितस्ताभिर्मुक्तः संसारभारकात् । स्वाधीनश्च प्रसन्नश्च सिद्धः सुष्ठु सुखायते ॥ ३६
दुःखैर्नानाविधैः क्षुण्णो जीवः कालमनादिकम् । तेभ्योऽतीतो[1] भृशं शान्तो मग्नो ननु सुखार्णवे ॥
मनोज्ञैर्विषयैस्तृप्तः सर्ववस्तुषु निस्पृहः । प्रसन्नः स्वस्थमासीनः सुखी चेन्निर्वृतस्तथा[2] ॥ ३८
लक्षणाङ्कितदेहानां[3] दर्पणोत्थितबिंबवत् । ज्ञानदर्शनतत्त्वज्ञः शुद्धात्मा सिद्ध इष्यते ॥ ३९
क्षायिकज्ञानसम्यक्त्वं वीर्यदर्शनसिद्धता । निर्द्वन्द्वं[4] च सुखं तस्य उक्तान्यात्यन्तिकानि हि[5] ॥ ४०
अवेदश्च[श्चा]कषायश्च निष्क्रियो मूर्तिवर्जितः । [6]अलेपश्चाप्यकर्ता च सिद्धः शाश्वत[7] इष्यते ॥
अक्षयानघमत्यन्तममेयानुपमं शिवम् । ऐकान्तिकमतृष्णं च अव्याबाधं महासुखम् ॥ ४२
त्रैकाल्ये त्रिषु लोकेषु पिण्डितात्प्राणिनां सुखात् । अनन्तगुणितं प्राहुः सिद्धक्षणसुखं बुधाः ॥ ४३
तिर्यग्लोकप्रमाणैका रज्जुर्मीयेत चेत्तया । चतुर्दशगुणो लोको भवत्यायाममानतः ॥ ४४
मेरुमूलादधः सप्त ऊर्ध्वं तस्माच्च रज्जवः । सप्तरज्जुप्रमाणैषा अधोलोकान्तरुन्द्रता ॥ ४५
। ७ । ७ ।
ऐशानाद्रज्जुरध्यर्धा(?)माहेन्द्रात्सार्धकं द्वयम् । सहस्राराच्च पञ्चैव अच्युतात्षडुदाहृताः ॥ ४६
। $\frac{3}{2}$ । $\frac{5}{2}$ । ५ ।

चिर कालसे प्राप्त करके खेदको प्राप्त हुआ है । संसारके भारसे मुक्त हुआ सिद्ध जीव उपर्युक्त बाधाओंसे सर्वथा रहित होकर स्वाधीन एवं प्रसन्न होता हुआ अतिशय सुखी होता है ॥३५-३६॥ नाना प्रकारके दुःखों द्वारा अनादि कालसे खेदको प्राप्त हुआ संसारी जीव उक्त दुःखोंसे रहित होकर अतिशय शान्त होता हुआ सुखरूप समुद्रमें मग्न हो जाता है ॥ ३७ ॥ जो मनोज्ञ विषयोंसे संतुष्ट हो चुका है, सब वस्तुओंके विषयमें निःस्पृह है, प्रसन्न है, और स्वस्थ होकर स्थित है वह यदि सुखी है तो जो मुक्तिको प्राप्त हो चुका है वह क्यों न सुखी होगा ? वह तो सुखी होगा ही ॥ ३८॥ लक्षणोंसे अंकित शरीरवालोंका जिस प्रकार दर्पणमें प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकारके आकारमें स्थित जो शुद्ध आत्मा ज्ञान और दर्शनके द्वारा यथार्थ वस्तुस्वरूपको जानता है वह सिद्ध माना जाता है ॥३९॥ उक्त सिद्ध जीवके क्षायिक ज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक वीर्य, क्षायिक दर्शन, सिद्धत्व और निराकुल सुख ये सब गुण आत्यन्तिक (अविनश्वर) कहे गये हैं ॥ ४० ॥ जो वेदसे रहित, कषायसे विमुक्त, निष्क्रिय, अमूर्तिक, निर्लेप और अकर्ता है वह शाश्वत सिद्ध माना जाता है ॥ ४१ ॥ मुक्तिका महान् सुख अविनश्वर, निष्पाप, अनन्त, अपरिमित, अनुपम, कल्याणकारक, ऐकान्तिक और तृष्णा एवं बाधासे रहित है ॥ ४२ ॥ विद्वान् पुरुष तीनों काल और तीनों लोकोंमें स्थित प्राणियोंके समस्त सुखकी अपेक्षा सिद्धोंके क्षणभरके भी सुखको अनन्तगुणा बतलाते हैं ॥४३॥

एक राजु तिर्यग्लोक (मध्यलोक) प्रमाण है । उस राजुसे यदि लोकको मापा जाय तो वह समस्त लोक आयामप्रमाणमें उस राजुसे चौदहगुणा होगा ॥ ४४ ॥ मेरुतलसे नीचे सात (७) और उससे ऊपर भी सात (७) ही राजु हैं । यह अधोलोकके अन्तका विस्तार सात राजु प्रमाण है ॥ ४५ ॥ ऐशान कल्प तक डेढ़ राजु, ($\frac{3}{2}$) माहेन्द्र कल्प तक अढ़ाई ($\frac{5}{2}$) राजु, सहस्रार कल्प तक पांच (५) राजु, अच्युत कल्प तक छह (६) राजु और लोकके अन्त तक सात (७) राजु

१ प °तीता । २ आ चेन्निवृत° प चेन्निनृत° । ३ प द्रलक्षिणाङ्कित° । ४ प निर्द्वंद्वं । ५ प ह । ६ प अलेप्य° । ७ शाश्वत् ।

आ लोकान्तात्ततः सप्त एवं ताः सप्तरज्जवः । ऊर्ध्वः संख्यगुणो मध्यादधोलोकोऽधिकस्ततः ॥४७
चतुर्थ्या समविस्तारो ब्रह्मलोकश्च भाषितः । प्रथमापृथिवीकल्पौ आद्यौ चानुत्तराण्यपि ॥ ४८
द्वितीयापृथिवीकल्पौ द्वितीयौ युगपत् स्थितौ । ग्रैवेयाणि तथैव स्युः शेषाणामपि योजयेत् ॥ ४९

उक्तं च त्रयम् [कत्तिगेयाणु. ११८-१९]–

सत्तेक्क पंच एक्क य मूले मज्झे तहेव बम्हंते । लोयंते रज्जूओ पुव्वावरदो य वित्थारो ॥ ७

। ७ । १ । ५ । १ ।

उत्तरदक्खिणदो पुण सत्त वि रज्जू हवेइ सव्वत्थ । उड्ढो चोद्दस रज्जू सत्त वि रज्जू पुणो[1] लोओ

[त्रि. सा. ४५८]—

मेरुतलादु दिवड्ढं दिवड्ढ दलछक्क एक्करज्जुम्मि । कप्पाणमट्ठजुगला गेवेज्जादी य होंति कमे।

। $\frac{३}{२}$ । $\frac{३}{२}$ । $\frac{१}{२}$ । $\frac{१}{२}$ । $\frac{१}{२}$ । $\frac{१}{२}$ । $\frac{१}{२}$ । $\frac{१}{२}$ ।

[2]युक्तः प्राणिदयागुणेन विमलैः सत्यादिभिश्च व्रतैः
मिथ्यादृष्टिकषायनिर्जयशुचिर्जित्वेन्द्रियाणां वशम् ।
दग्ध्वा दीप्ततपोऽग्निना विरचितं कर्मापि सर्वं मुनिः
सिद्धिं याति विहाय जन्मगहनं शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ५०

इस प्रकार ऊर्ध्वलोककी ऊंचाईमें वे सात (७) राजु कही गई हैं । इसी प्रकार मेरुतलसे नीचे लोकके अन्त तक भी सात ही राजु कही गई हैं । मध्यलोकसे ऊर्ध्वलोक संख्यातगुणा तथा अधोलोक उससे (ऊर्ध्वलोकसे) अधिक है ॥ ४६-४७ ॥ ब्रह्मलोकका विस्तार चतुर्थ पृथिवीके बराबर कहा गया है । आदिके प्रथम दो कल्प और अनुत्तर विमान भी प्रथम पृथिवीके बराबर विस्तृत हैं ॥ ४८ ॥ युगपत् स्थित आगेके दो कल्प और ग्रैवेयक द्वितीय पृथिवीके समान विस्तारवाले हैं । इसी प्रकार वह विस्तारयोजना शेष कल्पोंके भी करना चाहिये ॥ ४९ ॥ इस विषयमें निम्न तीन गाथायें कही गई हैं—

लोकका पूर्व-पश्चिम विस्तार मूलमें सात (७), मध्यमें एक (१), ब्रह्म कल्पके अन्तमें पांच (५) और लोकान्तमें एक (१) राजु मात्र है ॥ ७ ॥ उसका उत्तर-दक्षिण विस्तार सर्वत्र ही सात राजु है । ऊंचा वह चौदह राजु है । अधोलोक और ऊर्ध्वलोक सात सात राजु ऊंचे हैं ॥ ८ ॥ मेरुके तलभागसे डेढ़ ($\frac{३}{२}$), फिर डेढ़ ($\frac{३}{२}$), आधे आधे छह ($\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$) और एक (१) इस प्रकार क्रमसे इतने राजुओंमें आठ कल्पयुगल और ग्रैवेयकादि स्थित हैं ॥९॥

जीवदया गुणसे सहित, सत्य आदि निर्मल व्रतोंसे सम्पन्न और मिथ्यात्व एवं कषायोंको पूर्णतया जीत लेनेसे पवित्रताको प्राप्त हुआ मुनि इन्द्रियोंको जीतकर तथा दीप्ततपरूप अग्निके द्वारा चिरसंचित सब कर्मको जलाकर सिंहकी क्रीड़ाके समान – सिंह जैसे पराक्रमके द्वारा – भयानक संसारको छोड़कर सिद्धिको प्राप्त हो जाता है ॥ ५० ॥

---

१ ब घणो । २ प युक्ता ।

भव्येभ्यः सुरमानुषोरुसदसि श्रीवर्धमानार्हता
यत्प्रोक्तं जगतो विधानमखिलं ज्ञातं[1] सुधर्मादिभिः ।
आचार्यावलिकागतं विरचितं तत्सिंहसूरर्षिणा
भाषायाः परिवर्तनेन निपुणैः संमान्यतां साधुभिः ॥ ५१

वैश्वे स्थिते रविसुते[2] वृषभे च जीवे
राजोत्तरेषु सितपक्षमुपेत्य चन्द्रे ।
ग्रामे च पाटलिकनामनि पाणराष्ट्रे
शास्त्रं पुरा लिखितवान् मुनिसर्वनन्दी ॥ ५२

संवत्सरे तु द्वाविंशे काञ्चीशः सिंहवर्मणः[3] । अशीत्यग्रे शकाब्दानां सिद्धमेतच्छतत्रये ॥ ५३

। ३८० ।

पञ्चादश शतान्याहुः षट्त्रिंशदधिकानि वै । शास्त्रस्य संग्रहस्त्वेदं (?) छन्दसानुष्टुभेन च ॥ ५४

इति लोकविभागे मोक्षविभागो नामैकादशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ११ ॥

देवों और मनुष्योंकी महती सभा (समवसरण) में श्री वर्धमान जिनेन्द्रने भव्य जीवोंके लिये जिस समस्त लोकके विधानका व्याख्यान किया था तथा उनसे सुधर्म आदि गणधरोंने जिसे ज्ञात किया था, आचार्यपरम्परासे प्राप्त हुए उसी लोकके विधानकी रचना सिंहसूर ऋषिने भाषाका परिवर्तन मात्र करके की है । विद्वान् साधु उसका सम्मान करें ॥ ५१ ॥ जब शनिश्चर उत्तराषाढा नक्षत्रके ऊपर, बृहस्पति वृषराशिके ऊपर तथा चन्द्रमा शुक्ल पक्षका आश्रय पाकर उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्रके ऊपर स्थित था तब पाणराष्ट्रके भीतर पाटलिक नामके ग्राममें पूर्वमें सर्वनन्दी मुनिने शास्त्रको लिखा था ॥ ५२ ॥ यह कार्य कांची नगरीके अधिपति सिंहवर्माके २२वें संवत्सर तथा शक संवत् तीन सौ अस्सी (३८०) में पूर्ण हुआ था ॥५३॥ यह शास्त्रका संग्रह अनुष्टुप् छन्दसे पन्द्रह सौ छत्तीस (१५३६) श्लोक प्रमाण है ॥५४॥

इस प्रकार लोकविभागमें मोक्षविभाग नामका यह ग्यारहवां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

---

१ प ज्ञानं । २ प रवित्सुते । ३ प वर्मणा ।

१. श्लोकानुक्रमणिका

ख

ग

घ

च

य

र

ल

श

ष

स

ह

२. उद्धृत-पद्यानुक्रमणिका

३. विशिष्ट-शब्द-सूची

(भौगोलिक एवं दार्शनिक शब्दोंके साथ देव-देवियों आदिके नाम)

विशिष्ट-शब्द-सूची

विशिष्ट-शब्द-सूची

विशिष्ट-शब्द-सूची

